

तद्भव

v'kək'ud j'puk'khyrk ij Dīnr fof'k'V l p; u

वर्ष-7, अंक-1
पूर्णांक - 38
अक्टूबर - 2018

संपादक
v'f[ky'sk

आवरण
v'kk'cl fl)k'kz

y'stj'v'kbi l s'v'x
मोहिनी शर्मा
दिल्ली

em'z'k
वी.के. आफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 32

e'v';
एक प्रति : सौ रुपये
संस्थाओं के लिए : एक सौ पचास रुपये
वार्षिक सदस्यता : दो सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
विदेश के लिए : साठ डालर
आजीवन सदस्यता : पांच हजार रुपये

l e i d'k
18/201, इंदिरा नगर,
लखनऊ - 226016
उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0522-2345301
ई-मेल : akhilesh_tadbhav@yahoo.com

l e l r d'ku'uh fook'na'ck U; k; (k'sk y[ku'Å] m'lkj i n'sk g'ks'kA

तद्भव इंटरनेट पर
www.tadbhav.in

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और
वी.के. आफसेट, एफ-93 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, नई दिल्ली-110032 से मुद्रित

vuøe

thou

दिसनाथ का बलरामपुर - III fo'oufk f=ki kbh 1

'krkOnh

दक्षिणी दुनिया, इतिहासगत वक्त और मार्क्स vlfnr; fuxe 20

y{k

कबीर और तौहीद की पुनर्व्याख्या gjcd ef[k; k 35 / राष्ट्रभाषा से राजभाषा तक : संविधान सभा में भाषा का प्रश्न और हिंदी 'kkuhr dks'kd 43

dgkfu; ka

तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड r#.k HkVukxj 55 / दफ्तर में एक दिन vuŋfr mik;/k; 67

fuczk

दिल्ली, ओ दिल्ली Ń".k døkj 81

dfork, a

कविताएं vukfedk 92 / तीन कविताएं Cknh ukjk; .k 101 / कविताएं uhyšk j?kpkh 105 / चार कविताएं l t; feJ 112 / पांच कविताएं vfouk'k feJ 118 / कविताएं feffkyšk døkj jk; 121 / कविताएं fogkx obko 127

fo'kšk

किसानिन जग्गी देवी nhfr fizk egjksk 135

y:h dgkuh

एक राजा था जो सीताफल से डरता था idh.k døkj 175

oUkar

गुजरे जमाने का शहर-III eerk dkfy; k 201

;k=kk

अमरकंटक से केसला : नर्मदा पार बाद क्या...? f'kjh'k [kjs 211

l eh{k, a

'मुलाकात' : पठनीयता भी विश्वसनीयता भी fuezyk tš 232 / यथार्थवाद का नया परिप्रेक्ष्य vferšk døkj 235 / अधेरा उतर रहा है धीरे धीरे... odvšk døkj 240 / अपने देश का पड़ोस iVyø 244 / निःसंतान स्त्रियों को संतान सुख देने के लिए देवता मर्द का रूप धारण करते हैं! Hkxor i k kn 248

आज के दौर का मुख्य चरित्र व्याख्यायित करने की प्रक्रिया में अक्सर कहा सुना जाता है कि हम एक आभासी समय में रह रहे हैं; जैसे कि नब्बे के दशक में, खास तौर पर साहित्य में, बार बार लिखा पढ़ा कहा सुना जाता था कि यह हिंस्र समय है अथवा हम कठिन समय में जी रहे हैं! यूँ देखा जाए तो आज का वक्त भी कम हिंस्र और कठिन नहीं है और पहले, बहुत पहले भी, कमोबेश एक अपनी तरह के आभासी संसार की नजीरें थीं। आखिर स्वर्ग नरक को किसने देखा, अनुभव किया। कहा जा सकता है, स्वर्ग नरक समय और संसार के पार की अवधारणाएं या परिकल्पनाएं हैं जिनमें जीते जी होने वाले आभास का मसला शामिल नहीं होता है। लेकिन भूत प्रेत, आत्माओं के किस्से कारनामे पहले बहुत ज्यादा सुनने में आते थे और बेशक ये यथार्थ नहीं, आभास होते हैं; एक मानसिक विक्रम। कुछ लोगों के बयान पर यकीन किया जाए तो कहा जा सकता है कि काला जादू, वशीकरण आदि के माध्यम से भी एक आभासी संसार की रचना की जाती है जिसकी गिरफ्त में फंसा इंसान वही अनुभूत करता है जो उसको कराया जाता है। स्वप्न भी एक आभासी लोक है जो हमेशा मनुष्य के जीवन में मौजूद रहा है और जहां सब कुछ प्रत्यक्ष सरीखा सत्य महसूस होता है जबकि वास्तव में उसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। बातें यहीं नहीं थमतीं, इस सिक्के का सकारात्मक पक्ष भी है : लेखक कवि, संगीतकार, कलाकार भी एक आभासी सृष्टि में अपने रसज्ञ को प्रवेश कराते हैं; वह ऐसे लोक में विचरण करने लगता है जो हकीकत में ठीक वैसा है ही नहीं।

कहना यह है कि मनुष्य और आभासी संसार का संबंध अप्रत्याशित और एकदम नया नहीं है; वह कमोबेश पहले था और अद्यतन मौजूद है। निश्चय ही इस रिश्ते के कुछ उज्ज्वल हिस्से हैं तो कुछ कमोबेश दागी भी हैं। दरअसल आभासी संसार भी अलग अलग असर पैदा करते हैं। वह आभासी संसार हमारे समाज को विषाक्त करता है जो हमें वास्तविकता, तर्क, विज्ञान और जिंदगी के सत्य की चेतना से भ्रमित करता है जबकि साहित्य और कलाओं के आभासी जगत इन पूर्वोक्त सुंदर चीजों में हमारे विश्वास को मजबूत बनाते हैं। वे ऐसा कर सकने में इसलिए सक्षम होते हैं क्योंकि वे इनके विरुद्ध होने के बजाय इनके साथ और

इनके सामानांतर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। मगर हम जिस वर्तमान में रह रहे हैं उसमें यथार्थाभास से चार कदम आगे बढ़कर मिथ्याभास का ध्वज फहर रहा है। आज एक आदमी कुछ भी उत्पादक नहीं करता है लेकिन वह यह अवधारणा बनाने में निपुण है कि वह समाज देश की भलाई के लिए अथक मेहनत कर रहा है; इसके आधार पर वह बेतहाशा राजनीतिक, सामाजिक लाभ कमाता है। छद्म आभास या अहसास पैदा करने की विद्या के बल पर एक राजनेता जिस पर राज्य केंद्रित जनसंहार के आरोप लगे हैं वह शांति के पुरस्कार का दावेदार बन जाता है। एक विचारधारा और संगठन जिसकी निर्मिति नस्ली, लैंगिक और वर्ण घृणा पर आधारित है वह स्वयं को करुणा, सद्भाव और प्रेम के अग्रदूत के रूप में प्रचारित कर रही है। समस्या तब ज्यादा विकट हो जाती है जब हम पाते हैं कि एक बड़ा जनसमूह उनके मिथ्या निर्माण को वास्तविक मानकर उनको अपना समर्थन प्रदान कर रहा है।

तकनीक, संचार, इंटरनेट, सोशल मीडिया के करिश्मे ने लोगों को इस तरह गढ़ा है कि लोग अपने इंद्रियबोध का इस्तेमाल कम से कम करने की दिशा में तेजी से बढ़ रहे हैं। या कहें कि अपने आसपास के चराचर जगत से लोगों का संपर्क इंद्रियबोध के स्तर पर कम और इल्मी अधिक हो रहा है। नतीजतन हम इस दुनिया और उसकी वस्तुओं को उसकी लिखित, मान्य विशेषताओं के आधार पर जानने लगे हैं न कि अपने इंद्रियबोध के आधार पर। अतः खतरा यह दरपेश है कि सत्ताकेंद्र यदि लोकतांत्रिक मूल्यों की अवमानना करने को लेकर निर्लज्ज हो जाए तो वह देश की संस्थाओं, मीडिया, सोशल मीडिया आदि पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष नियंत्रण बनाकर अपने गुणगान के आंकड़े, तथ्य, आख्यान आदि को सूचना एवं ज्ञान के रूप में परोस सकता है। हमारे देश का दुर्भाग्य यह है, विगत कुछ वर्षों से हम राजसत्ता की इस कारगुजारी को लगातार घटित होता देख झेल रहे हैं। इंद्रियबोध से पार्थक्य की उपरोक्त प्रवृत्ति का सामाजिक स्तर पर अन्य दुष्परिणाम यह होना है कि एक रोज हम एक वृक्ष से महज उसकी वानस्पतिकी के जरिये परिचित होंगे; हम उसे उसकी छांह, उसकी हरियाली, उसकी गंध, उसकी छाल, उसकी पत्तियों के संगीत और डालों टहनियों के हिलने और तने के अडिग रहने से नहीं जानेंगे; हम उसे उसके फलों, गिलहरियों, कोटरों, घोंसलों और चिड़ियों की चहचहाहट के साथ नहीं जानेंगे। जाहिर है, यह स्पष्ट करने की जरूरत नहीं कि यह विडंबना केवल पेड़ों के प्रसंग तक ही सीमित नहीं रहनी है। इस तरह चल पड़ा है वह रिवाज जिसमें रिश्ते होते हैं मगर उनका ठोस साहचर्य अनुपस्थित रहता है। दिमाग रहता है प्रज्ञा नहीं, सूचनाएं हैं ज्ञान नहीं, तर्क है विचार नहीं। इस प्रकार के माहौल में भी सत्ताकेंद्रों द्वारा अपने मनचाहे विचारों, छवियों, मान्यताओं को आमजन के बीच स्थापित करा ले जाना सरल होता है। क्योंकि आभासी विश्व के चलते साधारण आदमी प्रायः अराजनीतिक, गैर वैचारिक और सामाजिक रूप से निष्क्रिय होने की दिशा में अग्रसर है। ऐसा होने के पीछे यह वजह भी है कि यथार्थ के इंद्रियबोध से दूर होने के फलस्वरूप जन सामान्य का विवेक और उसकी चेतना सही गलत पर रोशनी डालने की जिम्मेदारी निबाहने में शिथिलता बरतने लगती है। आखिर विवेक अथवा चेतना के निर्माण में भी तो हमारे इंद्रियबोध से प्राप्त और संचित अनुभवों की नियामक भूमिका रहती है। इस पूरी परिस्थिति का सर्वाधिक फायदा विगत कुछ वर्षों से कट्टर पुनरुत्थानवादी दक्षिणपंथी शक्तियां उठा रही हैं। अगर 2014 में हुए लोकसभा के आम चुनाव का स्मरण किया जाय तो याद

आ जाता है कि भाजपा के प्रधानमंत्री पद के दावेदार नरेंद्र मोदी के चुनाव अभियान ने जबरदस्त तरीके से आभासी वातावरण तैयार किया था। तकनीकी श्रेष्ठता, आर्थिक बहुतायत और गल्प को भी सत्य से ज्यादा आत्मविश्वास से कहने की ताकत ने जो मरीचिका रची थी उससे जनता का बड़ा हिस्सा विस्मित और वशीकृत हो गया था। संघ, भाजपा और प्रधानमंत्री के लिए यह एक रामबाण नुस्खा था जिसे उन्होंने विगत साढ़े चार वर्षों में लगातार बार बार आजमाया है। मगर नित्य की जो प्रत्यक्ष मार पड़ती है वह मजबूत से मजबूत माया सृष्टि की वास्तविकता को अंततः उजागर कर देती है इस बात को समझने में बौद्धिक भले कोताही बरतते हों, सत्ताकेंदों ने इसको समझने में बिलकुल विलंब नहीं किया। अतः उनसे एक माया के जीर्ण पड़ने के पहले ही उसी कुल के दूसरे औजारों का इस्तेमाल किया। आज के समय में गिनेचुने महानुभावों के आलावा शेष देश की यातना ऐसी ठोस, अटल, अकाट्य, असह्य हो गयी है कि उसको वर्तमान के विभ्रम तथा भावी की मिठाई से बहलाया फुसलाया नहीं जा सकता; अतः हमारे सामाजिक जीवन के चतुर्दिक अतीत के जीर्णोद्धार और पुनरुत्थानवाद की माया रची जा रही है। हमें एक ऐसे समय में धकेला जा रहा है या हमको ऐसे समय में रहने की अनुभूति कराई जा रही है जो किसी भी रूप में हमारे आसपास नहीं है न कभी हो सकता है क्योंकि दूर स्वर्णिम अतीत का आभास भले कराया जाए उसे लौटाया नहीं जा सकता। गाय, गीता, गंगा आदि के लिए व्यक्त किया गया, पैदा किया गया क्रूर अनुराग, जुनून सरीखी गतिविधियां उक्त परियोजना के हिस्से हैं। सवाल है, अगर गोरक्षा आंदोलन के पीछे अहिंसा और पशुप्रेम की भावना काम कर रही है तो अन्य पशुओं ने क्या अपराध किया है? फिर आप शाकाहार के अनुयायी क्यों नहीं हो जा रहे हैं? इसी तरह जब गंगा के लिए प्रेम प्रकट किया जाता है तो वजह यह नहीं होती कि नदियां जो सभ्यता की वाहक, प्राणियों की पोषक, प्रकृति की महान सौगात रही हैं उनके संरक्षण का जब्बा हिलोरें मारने लगा है या गीता के महात्म्य बखान की पृष्ठभूमि में उन दार्शनिक अर्थों की प्रेरणा रहती है जिन्होंने तिलक, गांधी जैसे व्यक्तियों पर अपने अपने ढंग से असर डाला था। लेकिन यहां समस्या यह है कि उद्देश्य पर्यावरण, अहिंसा, पठन पाठन तो है नहीं बल्कि उस समकालीन चेतना का अपहरण है जो मौजूदा मुश्किलों की वजहों की व्याख्या करती है और उसकी जिम्मेदार ताकतों की और उंगली उठाती है। दरअसल किसी भी विचार या कर्म के वाजिब होने की बुनियादी कसौटी है, उसके पीछे प्रेम की भावना हो, एक प्रेम से भरी दुनिया का स्वप्न हो लेकिन हमारे देश में बीसवीं सदी के आखिरी दशक से पुनरुत्थानवाद का जो प्रचंड धारावाहिक चल रहा है उसमें इस सपने का रत्ती भर अंश नहीं है। वहां प्रबल घृणा है जो मुसलमान, वामपंथियों सहित समस्त असहमतों को संबोधित है।

प्रारंभ में नवें दशक में लोकप्रिय पद 'हिंस्र समय' और 'कठिन समय' का जिक्र हुआ है; अब आखिर में हम कहना चाहते हैं, इस नजरिये से भी यह बदतर वक्त है। खास तौर पर हाशिये के समाजों के लिए यह अधिक क्रूरतापूर्ण है। हिंसा क्या है? जब किसी बेगुनाह को सताया जाता है तो वह हिंसा है। आज हालत ये हैं कि किसान, मजदूर, स्त्रियां, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि समुदाय विभिन्न प्रकार के हिंसा रूपों से घिरे हैं। इतना ही नहीं, हमारी अनेकता में एकता की संस्कृति, विचारों का लोकतंत्र, असहमति के अधिकार

की परंपरा, साहित्य, कलाएं, पर्यावरण, संविधान सभी एक तरह के हिंसक आचरण की चपेट में हैं। इसी तरह मामूली आदमी, वह आदमी जिसके पास लूट और भ्रष्टाचार की संपत्ति नहीं है, का जीवन लगातार कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। सर्वज्ञात तथ्य है, अब बेहतर किस्म की शिक्षा, आवास, भोजन, स्वास्थ्य, पालन पोषण, संरक्षित भविष्य सामान्य नागरिक के लिए असंभव हो चुका है। असलियत में यह समय एक साथ आभासी, कठिन और हिंस्र है। यह ज्यादा मुश्किल और चुनौती भरा इसलिए भी है कि अब साबका ऐसी सत्ता संरचना से है जो मायाजाल रचने में बड़ी दक्ष है। कभी वह भविष्य को स्वर्णयुग बनाने का वादा करती है तो कभी अतीत के स्वर्णयुग की खोल में पनाह लेती है। जबकि निहत्था, असहाय, संकटग्रस्त वर्तमान— लहलुहान समकाल— हमारे सामने है।

आपको यह बताते हुए हमें खुशी हो रही है कि तद्भव की वेबसाइट जो कुछ तकनीकी कारणों से पिछले कुछ समय से स्थगित थी, अब पुनः पाठकों के लिए उपलब्ध है।

बीते दिनों में हिंदी कविता के अत्यंत महत्वपूर्ण कवि विष्णु खरे का निधन हो गया जो बहुत तकलीफदेह है; वह स्वयं में कविता के एक संस्थान थे। दूसरी तरफ गीत परंपरा की सबसे बड़ी प्रतिभा गोपाल दास नीरज भी दिवंगत हो गए। उन्होंने कविता के इलाके में लोकप्रियता के शीर्ष को जिस तरह छू लिया वैसा हरिवंश राय बच्चन के बाद अन्य किसी के हिस्से में नहीं है। महत्वपूर्ण कवि सुरेश सेन निशांत का गुजर जाना भी स्तब्ध करने वाला है। अच्छी कविताएं लिखने के साथ साथ वह हिमाचल प्रदेश में साहित्यिक सक्रियता की धुरी भी थे। कथा साहित्य में भी बहुत बड़ी क्षति हुई है : अनेक उत्कृष्ट उपन्यासों, कहानियों के रचनाकार तेजिंदर हमारे बीच नहीं रहे। अपने लेखन को लेकर उनकी कई भावी योजनाएं थीं। भारतीय भाषाओं के दो शीर्षस्थ रचनाकार महाश्वेता देवी और काजी अब्दुल सत्तार की मृत्यु निश्चय ही ऐसी अपूरणीय क्षति है जिसको भर सकना कठिन होगा। वरिष्ठ पत्रकार, लेखक राजकिशोर का जाना भी हतप्रभ का देने वाला है। इन समस्त विभूतियों को तद्भव की विनम्र श्रद्धांजलि!

vf[kysk

fcl ukFk dk cyjkei j&III

fo'oukfk f=ki kBh

ty से रिहाई के बाद परीक्षा हुई। रिजल्ट आउट हुआ। मैंने हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। प्रथम श्रेणी में। जेल जाने के कारण आठ रुपये महीना वाली मेरी छात्रवृत्ति बंद कर दी गई। वह क्लास के एक अन्य छात्र, मेरे सहपाठी, नजमुल हसन को दे दी गई। नजमुल पढ़ने में तेज और अच्छा था। उसके पिता डी.ए.वी. स्कूल में ही पढ़ाते थे। मैं परीक्षा में तो पास हो गया अब क्या होगा? आगे की पढ़ाई का क्या होगा? पिताजी की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे मुझे पढ़ा सकें; और मैं पढ़ाई के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता था। संघ के अधिकारियों ने मेरा भावी कार्यक्रम तय कर रखा था। वे मुझे प्रचारक का काम देना चाहते थे। मेरा मन उचट रहा था। मैं कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद या बनारस में पढ़ना चाहता था। प्रताप नारायण तिवारी जी, जिला प्रचारक, का कहना था— हम तुम्हारा नाम रामसन कालेज, गोंडा में लिखवा देंगे। लाज में रहो, कार्य करो और पढ़ो। इस रास्ते से तुम राष्ट्रीय कार्य भी करोगे और तुम्हारी पढ़ाई भी जारी रहेगी। प्रतापजी मुझे बहुत मानते थे। लेकिन दूसरी तरफ मैंने लोगों में प्रचारित कर रखा था कि मैं लखनऊ पढ़ने जा रहा हूँ। पशुपति जी लखनऊ पढ़ना चाहते थे और गए भी लेकिन मैं कैसे जाऊँ?

वे मेरे लिए निर्णायक— इस पार या उस पार— भयानक द्वंद्व के— दिन थे। मुझे लगता था कि संघ कार्य करने के साथ साथ पढ़ाई नहीं हो पाएगी। और पढ़ाई आगे नहीं हो पाई तो मुझे तपेदिक हो जाएगी, मैं मर जाऊंगा। उन दिनों तपेदिक आजकल के कैंसर से ज्यादा घातक बीमारी थी। कहनियों में प्रेमी नायक प्रायः तपेदिक से ग्रस्त होता था। मेरे गांव बिस्कोहर के जमींदार बाबू साहब के परिवार के कई सदस्य, अधिकांश युवक सदस्य, तपेदिक से एक एक कर मर गए थे। मैं इधर उधर दौड़ भाग रहा था। जो शुभचिंतक मिलता उससे कहता— “बताइए

मैं आगे कैसे पढ़ूँ, हो सके तो मेरी मदद कीजिए।” कालेज की पढ़ाई का खर्चा कौन उठाता? ताज्जुब है कि मैं निराश नहीं हो रहा था और यकीन कर रहा था कि कोई न कोई मेरी मदद करेगा। परिणामस्वरूप मैं गोंडा में नहीं पढ़ूँगा और मरूँगा नहीं।

एक दिन प्रताप जी मुझे गोंडा ले गए। एक स्वयंसेवक, शायद त्रिवेणी प्रसाद, से कहा— विश्वनाथ का दाखिला टायसन इंटर कालेज में करा दो। एकाध साल पहले, उस कालेज में मैं एक वाद विवाद प्रतियोगिता में पदक जीत चुका था। मेरा दाखिला वहां हो गया। संयोग से उसी विद्यालय में डी.ए.वी. स्कूल बलरामपुर के शिक्षक बाबू नानक प्रसाद श्रीवास्तव बी.ए.बी. टी. (इंग्लिश स्पेशलिस्ट) आ गए थे। उन्होंने मुझे देखते ही कहा— “अरे तुम तो लखनऊ जाने वाले थे यहां क्यों आ गए?” मुझसे कोई जवाब देते नहीं बना। जवाब था भी नहीं।

मैंने डी.ए.वी. स्कूल के हेड मास्टर और अपने सबसे बड़े शुभचिंतक बाबू भगवती प्रसाद सिंह से सब हाल बताया, उन्होंने गंभीरतापूर्वक कहा— “मेरे पास कुल 200 रुपये बैग में पड़े हैं, क्या करूं मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर पाऊँगा।” मैंने अपने जीजा जे.पी. तिवारी से कहा, उन्होंने जवाब दिया— “इस समय मेरी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है।” मैं प्लान बनाता— मेरे मित्र चंदा करके पैसा इकट्ठा करें और मुझे पढ़ाएं— *आरत के चित रहत न चेतू।*

आज मुझे यह सोचकर हैरानी होती है कि मैं निराश होकर घर क्यों नहीं बैठ गया? गोंडा में ही क्यों नहीं पढ़ता रहा?

नौकरियों में उन दिनों पटवारी की बहुत आमदनी रहती थी। उसका रूतबा भी बहुत ऊंचा होता था। स्कूल में इंस्पेक्टर साहब आते थे। एक नौजवान इंस्पेक्टर आया था टंडन। उसे स्कूल के हेडमास्टर साहब पपीता खिला रहे थे। मैंने सोचा था कि इंस्पेक्टर बन जाऊं तो पपीता खाने को मिलेगा। मैं स्वप्न देखता था कि हाथी पर बैठा हुआ बिस्कोहर बाजार में जा रहा हूँ और सभी हलवाई मुझे पेड़ा खिला रहे हैं। बिस्कोहर का पेड़ा, खासतौर पर कानी बुढ़िया हलवाईन लगनी का पेड़ा बहुत मशहूर था— एक लोकगीत का मुखौटा है—

बिस्कोहर बाजार में पेड़ा का दूकान

कोई जनता है। (जनता है = जानता है)

अतः सवाल यह था कि यह आगे पढ़ने और प्रोफेसर बनने का कीड़ा दिमाग में कैसे घुस गया हाईस्कूल पास करते करते, संघ का घोर कार्यकर्ता होने के बावजूद।

1937-38 में जब मैं 7-8 वर्ष का था, गांव के प्राइमरी स्कूल में नवगठित कांग्रेसी सरकार ने शिक्षा प्रसार के अंतर्गत पुस्तकालय खोला था, कुछ किताबें आई थीं— प्रेमचंद, सुदर्शन, यशपाल, भगवती चरण वर्मा, महादवी वर्मा, अमृतलाल नागर आदि की। उनमें कोई किताब कहानी की थी जिसमें प्रेमीनायक प्रोफेसर था। वह देशभक्त या सत्याग्रही था। वह नायिका से नहीं मिल नहीं पाया, जेल हो गई उसे। वह नायक मुझे बहुत भाया, आज की भाषा में, मुझे रोल माडल मिल गया। कोई मुझसे पूछता तुम क्या बनना चाहते हो, बड़े होकर तुम क्या बनोगे? मैं कहता— “प्रोफेसर, लेक्चरार।” हालांकि मैं तब रीडर प्रोफेसर का फर्क नहीं जानता था। प्रोफेसर यानी सीधा सादा, खद्दर पहनने वाला, कालेज का देशभक्त, प्रेमी अध्यापक।

उद्देश्य साफ था, किंतु साधन नहीं था।

भारत नेपाल की सीमा पर गोरखपुर से गोंडा जाने वाली रेलवे लाइन पर एक स्टेशन है— बड़नी। बिस्कोहर से करीब 20 मील उत्तर। वहां मेरे बड़के काका रामकिशोर बर्तन की दूकान करते थे। इनका बयान मैं पहले कर चुका हूँ। वे दबंग थे। छः फुट के, सुंदर नौजवान पहलवान। सन् बयालीस में नमक, मिट्टी के तेल की बड़ी कमी पड़ी। नेपाल में भी बेहद कमी।

एक बैलगाड़ी पर सामान नेपाल जाए तो बड़के काका एक रुपया वसूलें। उन दिनों एक दिन में करीब सौ रुपये की आमदनी। बड़के काका ने जमीन खरीदी, सिनेमा हाऊस खोला, कई मकान बनवाए। अपनी और छोटके काका की शादी की। अपने बड़े भाई— दादा— को बहुत मानते; कभी मदद भी करते। लेकिन दादा उनसे नाराज रहते। मुझसे कहते— “सबके पास जाना रामकिसोरवा के पास मत जाना।” बड़के काका अहंकारी थे लेकिन उदार थे, कहते थे— “हम अपने इज्जतिया पर मरित है।”— हम अपनी इज्जत के लिए मरते हैं। दादा इनसे नाराज रहते थे लेकिन बड़के काका हमेशा भइया भइया करते रहते। जब दादा नहाते तो उनकी धोती बड़के काका छांटते। दादा उन्हें गाली भी देते तो बड़के काका बोलते नहीं। बलरामपुर पढ़ते समय बढ़नी जाता तो वे मुझे पांच रुपया पकड़ा देते। लीवर की बीमारी में दादा का इलाज बड़के काका ने ही कराया था। अब मुझे लगता है कि दादा को बड़के काका जैसा सफल न हो पाने की कुंठा थी। प्रेम के क्षेत्र में भी बड़के काका, दादा से ज्यादा, सफल थे। बड़के काका मुझे मानते थे। बचपन में मुझे नहलाते तो पूछते— “कारे जब हम बुढ़ाब तब तू हमार सेवा करबे क्यों रे?”— क्यों जब मैं बुढ़ा हो जाऊंगा तो तू मेरी सेवा करेगा? दादा यानी अपने बड़े भाई के प्रति इतना अडिग ममत्व बड़के काका रामकिशोर में क्यों था? उन्होंने एक बार अपने बड़े पुत्र संतप्रसाद की बुराई करते हुआ बताया—

वे दुखी थे। बड़के काका ने संतप्रसाद की पत्नी (अपनी बड़ी पुत्रवधू) को डांट दिया था और संतप्रसाद बड़के काका (अपने पिता) से झगड़ बैठे थे। काका ने बताया— “देखो सारे को ये के कहो कि इसका पार नहीं चला, नहीं तो साला मुझे मार बैठता। और एक रहे भइया।” “उनकी नई नई शादी हुई थी। भौजी दुल्हनैं थीं। खाना वही बनाती थीं। एक दिन देर हो गई। मुझे भूख लगी थी मुझे गुस्सा आया और भौजी को मैंने पीट दिया। वे रोने लगीं। मैं डर गया। भइया आएंगे तो भौजी कह देंगी और भइया मुझे पीटेंगे, घर से निकाल देंगे। भइया आए। भौजी रूठी थीं। उन्होंने सब बताया। भइया ने मुझे आवाज दी— ‘रामकिशोर इधर आओ तोहर भौजी तो गुस्सा हैं, उन्हें गुस्सा रहने दो। खाना निकालो हम तुम खाते हैं, भौजी को रोने दो।’

और बड़के काका फफक फफककर रोने लगे। यह पारिवारिक मूल्य था। सामंती था, पुरुष वर्चस्व... था लेकिन परिवार को जोड़े रखता था— सो आगे पढ़ने के लिए मैं बड़के काका से मिलने बढ़नी गया।

बड़के काका ने कहा— “हमारे खानदान में क्या जवार में किसी लड़के ने इतना ज्यादा नहीं पढ़ा। यह हमारे इज्जत का मामला है। और हम तौ इज्जतिए पर मरते हैं। कोई बात नहीं तू आगे पढ़ौ। हम मदद करब। केतना चाही?”

मैंने सहमते हुए धीरे से कहा— “नब्बे रुपए में आना जाना और दाखिला हो जाएगा।” बड़के काका ने नब्बे रुपए दिए और कहा— “आजतक खानदान में ऐसा नहीं हुआ। लोग क्या याद रखेंगे कि बिस्कोहर के तेलवारी खानदान में कोई रामकिशोर था जिसने अपने भतीजे को बी.ए. एम.ए. पढ़ाया। हमरे दूनौं लड़के सारे बडरहा घडरहा हैं, तो क्या! खानदानवां में तौ कोई है।”

अब मैं दाखिला कहां लूं? मास्टर साहब बाबू भगवती प्रसाद सिंह ने दो चिट्ठियां लिखकर दीं। एक काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम और दूसरी बी.एन.एस.डी. इंटर कालेज कानपुर के प्रिंसिपल और हिंदी विद्वान पं. सदगुरु शरण अवस्थी के नाम। इस कालेज में उनके छोटे भाई पढ़ते थे। बोले उसी के पास चले जाओ। वह सिफारिश करके तुम्हारी फीस माफ करवा देगा। बी.एन.एस.डी. कालेज पढ़ाई में सबसे अच्छा है।

मैं चिट्ठियां लेकर कानपुर चल दिया। बी.एन.एस.डी. के छात्रावास में पहुंचा। इंद्रजीत सिंह (मास्टर साहब के भाई) मुझे लेकर अवस्थी जी के पास गए। अवस्थी जी ने चिट्ठी पढ़ी। बोले— “ठीक है लेकिन पहले एडमीशन तो ले लो, फीस की बात तो बाद की है।”

लेकिन— आपन सोचा होत नहिं हरि सोचा तत्काल।

इंद्रजीत सिंह ने बताया, बलरामपुर के दो लड़के संतशरण अग्निहोत्री और अनंत शरण अग्निहोत्री ने विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कालेज बी.एस.एस.डी. में दाखिला लिया है, दाखिला तो तुम्हारा यहां कल होगा, आज तुम उनसे मिल लो। बी.एस.एस.डी. पास में ही गंगा किनारे नवाबगंज में है।

ये दोनों बलरामपुर में मेरे मित्र थे, विशेषतः संतशरण। संतशरण साहित्यिक रुचि का था। उसे पंत महादेवी बच्चन की काव्य पंक्तियां कंठस्थ थीं। उदार मन का, विद्रोही स्वभाव का था। थोड़ा ऊंचा सुनता। हम उन दोनों को अंतसंत अग्निहोत्री कहते। दोनों हहाकर मिले, बोले— “यार। कहां फंस रहे हो बी.एन.एस.डी. में, हमारे कालेज में एडमीशन लो। यार हमलोग साथ साथ रहेंगे, पढ़े लिखेंगे, मौज करेंगे, रौब से रहेंगे। बहुत अच्छे टीचर हैं। फीस वीस तो तुम्हारी माफ करवा ही देंगे। हमारे रहते तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होगी।”

मैंने दाखिला विक्रमजीत सिंह संत सनातन धर्म कालेज में ले लिया।

बलरामपुर छूटा नहीं। वह छूट भी नहीं सकता। मैं बलरामपुर सन् 1944 में 13 वर्ष की उमर में आया था। धोती कमीज पहनता था। हालांकि धोती ठीक से नहीं पहन पाता था। वह खुल खुल जाती थी। चप्पल पैर में कभी होती थी कभी नहीं होती थी। बाल बढ़ जाते तो मशीन चलवा लेता, 2 पैसा लगता था। सर से बाल गिरते उसी के साथ जुएं। बलरामपुर में पक्की सड़कें देखीं, बिजली देखी। चाय गिलास लोटे में नहीं कप में पी जाती है यह देखा। चम्मच चीनी खाने के लिए नहीं, कप में चीनी मिलाने के लिए होती है यह समझा। हाकी, फुटबाल, क्रिकेट देखा। थोड़ा थोड़ा खेला भी। जुलूस देखा, नारे लगाए, कांग्रेस, संघ, मुस्लिम लीग से परिचय हुआ। आर्य समाज, समाजवादी पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं को देखा। जवाहरलाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया, गोविंद वल्लभ पंत, गोलवलकर, नानाजी देशमुख, भाऊराव देवरस को देखा, सुना। इन सबका गहरा असर पड़ा।

लेकिन असली असर डी.ए.वी. स्कूल के अध्यापकों का पड़ा। मैं उनके प्रभाव का लेखाजोखा नहीं कर सकता। उन्होंने अपार अत्मीयता दी। उन्हें मेरी चिंता थी। उनके पढ़ाने और मिलने जुलने, डांटने समझाने का ढंग ऐसा था कि सीधा हृदय में उतर जाता था और मैं अनजाने अनायास ही सीखता हुआ बदलता जाता था। पं. शिव शरण पांडे गणित, अंग्रेजी, हिंदी पढ़ाते थे। वे कविताओं को गाकर पढ़ते। संस्कृत, ब्रजभाषा, अवधी, रीतिकालीन, द्विवेदी युगीन छायावादी कविताएं उन्हें कंठस्थ थीं। नैपोलियन की जीवनी के अनेक प्रसंग उन्हें याद थे। धाराप्रवाह अंग्रेजी में सुनाते। सुनाते सुनाते उन्हें आवेश में रोमांच हो जाता।

कोई सवाल पूछते मैं उत्तर ठीक दे देता, बहुत प्रसन्न होते तो पास आकर पीठ पर धौल जमाते। छठी क्लास में उन्होंने निबंध लिखने को दिया— ‘छुट्टियां कैसे बिताईं’। मैंने एक किताब पढ़ी थी श्रीराम शर्मा की ‘शिकार’। उसमें एक प्रसंग आता है जिसमें मां बच्चों को चिपटा लेती है ऐसे मानों चिड़िया ने अपने शावकों को पंख से ढंक लिया हो। मैंने निबंध में लिखा— “जब मैं बलरामपुर से घर पहुंचा तो मां ने मुझे ऐसे चिपटा लिया मानो चिड़िया ने अपने बच्चे को पंख से ढंक लिया हो।” पांडे जी ने मेरा निबंध पढ़कर क्लास में कहा— “बच्चों विश्वनाथ लेखक बनेगा।” पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम मैंने उन्हीं के मुंह से सुना; बोले—

“बच्चा। एक लेखक सुक्ल जी से टक्कर ले रहा है— हजारी प्रसाद द्विवेदी। गुरुदेव के सांति निकेतन का है।” वे गोरखपुर के थे, ‘श’ को ‘स’ ही बोलते थे। पांडेय जी का व्यक्तित्व साक्षात् जीवंत साहित्य था। बहुत बड़े विद्वान थे। डी.ए.वी. स्कूल में एक और अध्यापक आए, शिवबक्श जी। वे लंगड़े थे। उनके बारे में प्रसिद्ध था— दर्शनशास्त्र में एम.ए. किया है। व्यक्तित्व में अपार गरिमा थी। शांति बरसती थी। वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल और निराला के परम प्रशंसक थे। पं. मदन मोहन मालवीय के बारे में कहते— मदन न मोहन न— मदन मोहन। वे वर्णन करते— मालवीय जी महाराज की मौजूदगी या अध्यक्षता में निराला के काव्यपाठ का। बताते मालवीय जी महाराज श्वेतवर्ण, श्वेत केश, वैसा ही श्वेत उज्ज्वल हृदय और आचरण। निराला जी अपनी आजानु भुजाएं उठाकर काव्यपाठ करें तो डर लगे कि कहीं मालवीय जी को लग न जाए।

बलरामपुर में अंतर विद्यालयी वाद विवाद प्रतियोगिता, कविता प्रतियोगिता, अंत्याक्षरी प्रतियोगिता होती। मैं वाद विवाद प्रतियोगिता और कविता प्रतियोगिता में बड़ चढ़कर हिस्सा लेता, अक्सर कोई न कोई पुरस्कार मिलता। लोग कहते खूब कड़ककर बोलता है। कभी कभी ऐन वक्त बोलते बोलते सबकुछ भूल जाता। फिर पता नहीं क्या अंटशंट बोलकर बैठ जाता। प्रतियोगिता की घोषणा होती तो स्कूल के अध्यापक मुझे जरूर शामिल करते। मैं आंखें मूंदकर भावावेश में बोलता, चेहरा लाल हो जाता (ऐसा सुनने वाले बताते, मैं अपना चेहरा थोड़े देख सकता था), कोई न कोई पुरस्कार ले आता। आर.एस.एस. में जो वक्तृता सुनता उसी तरह बोलता— ऐसा करके, अपना कार्य, राष्ट्रीय कार्य, वायुमंडल, वातावरण शब्दों का प्रचुर प्रयोग करता। एक वाद विवाद प्रतियोगिता बहराइच में हुई। महाराज सिंह इंटर कालेज में। उस समय वहां कोई जुष्ठी साहब प्रिंसिपल थे। मैं गोपालशरण त्रिपाठी के साथ प्रतियोगिता में भाग लेने पहुंचा। अनेक प्रतियोगी थे। मुझे अच्छी तरह याद है मेरी कमीज की बांह फटी थी। प्रतियोगिता में बोलते समय आवेश में मैंने कहा— “यदि राम जैसा डिक्टेटर मिले तो हम जनतंत्र को बाहर फेंक देंगे। हम अध्यात्मवादी देश के हैं, हमारी संस्कृति प्रचीन है— एतद्देशे प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः। स्वं स्वं चरित्रम् शिक्षेन् के पृथिव्याः सर्वमानवाः। हम मार्क्सवाद के रोटी के सवाल को ठोकर मारते हैं।” तालियां बजीं। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला। मैं सर्गर्व स्कूल में आया। दूसरे दिन प्रार्थनासभा में प्रिंसिपल डा. भगवती प्रसाद सिंह ने इसका उल्लेख किया।

इसके एक ही दो दिन बाद गांधीजी की हत्या हुई। गांधीजी की हत्या से देश का वातावरण बदल गया। लोगों ने सांप्रदायिकता की भयावहता मानों समझ ली। डी.ए.वी. स्कूल में गांधीजी की हत्या के बाद अगले दिन जो प्रातःसभा हुई उसमें अध्यापक भानु प्रताप सिंह का दिया गया भाषण आज भी मुझे रोमांचित कर देता है। उन्होंने कहा— 31 जनवरी को सुबह साढ़े नौ बजे (गांधीजी की हत्या 30 जनवरी शाम को हुई थी)— मैं रात भर प्रार्थना करता रहा, गांधी को किसी मुसलमान ने न मारा हो भगवान। गांधी को किसी मुसलमान ने मारा होता तो हिंदू सांप्रदायिक ताकतें देश में क्या नरसंहार करतीं इसकी कल्पना सिंह साहब कर रहे थे।

बलरामपुर का वातावरण वर्णाश्रमी, सामंती था। बलरामपुर की रियासत इसका पालन पोषण करती थी। रियासत होने के कारण अमले में दूर दूर से आकर नौकरी करने वाले लोग शामिल थे। उसी में एक कौल परिवार था। कौल साहब का मकान टेढ़ी बाजार में मेरी ससुराल के बिल्कुल पास था। कौल साहब कई भाई थे। एक रामजस कालेज में अध्यापक थे। उनकी पत्नी श्रीमती राजकुमारी कौल ग्वालियर की थीं। कालांतर में कौल परिवार भारतीय जनता पार्टी के नेता और भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के संपर्क में आया। वाजपेयी जी के राजनैतिक जीवन का गहरा संबंध बलरामपुर से रहा। उन्होंने बलरामपुर से दो बार लोकसभा

का चुनाव लड़ा था। एक बार हारे एक बार जीते। बलरामपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का व्यापक प्रभाव था। वाजपेयी जी यद्यपि नेता आर.एस.एस. के थे किंतु उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि मुसलमान भी उन्हें पसंद करते थे। बोलचाल, खाने पीने में वे उदार थे। कवि हृदय वाक्विदग्ध, प्रभावी वक्ता और विनोदी स्वभाव के थे। निम्नवर्गीय परिवार के स्कूल मास्टर के पुत्र थे इसलिए अपने संस्कारों के कारण सामान्य जनता में घुलमिल जाते थे। मैं बलरामपुर में आर.एस.एस. का प्रतिबद्ध कर्मठ एकमन, एकप्राण, प्रचंड कार्यकर्ता था। सो वाजपेयी जी से थोड़ा परिचय मेरा भी हो गया। 1948 दिसंबर में संघ से प्रतिबंध हटाने के लिए जो सत्याग्रह हुआ उसमें मैं जेल गया। छूटने पर फरवरी या मार्च 1949 में जेल के फाटक पर (लखनऊ में) अटल जी मिले। मुझे गोंडा जेल से लखनऊ के सेंट्रल जेल में भेज दिया गया था। मैंने जेल में कविता लिखी थी। वाजपेयी जी ने सुनी। कहा— इसे ‘राष्ट्रधर्म’ में छापेंगे। वाजपेयी जी उस पत्रिका का संपादन करते थे।

कहते हैं कि वाजपेयी जी और राजकुमारी जी ग्वालियर में साथ साथ पढ़ते थे और परस्पर परिचित थे। दिल्ली में जब मेरी नियुक्ति किरोड़ीमल कालेज में 1959 में हुई तो बलरामपुर का होने के नाते मेरा परिचय कौल परिवार से हो गया। उनकी दूसरी पुत्री नमिता जेसस मेरी में पढ़ती थी। मेरी लड़की रेखा भी वहीं पढ़ती थी। दोनों में अच्छा परिचय था। श्रीमती कौल का व्यक्तित्व शामक था। वे सुशील, शिष्ट, मृदुभाषी— दूसरों की सहायता करने वाली महिला थीं। अक्सर खादी की, हल्के से पीलेरंग की रेशमी साड़ी पहनतीं। कौल साहब रामजस कालेज में छात्रावास के वार्डन थे। श्रीमती कौल छात्रों का बहुत ध्यान रखतीं, लोकप्रिय थीं। कौल साहब योग्य मिलनसार शांत स्वभाव के व्यक्ति थे। मैं उनसे पहली बार कालेज के आवास में मिला, परिचय दिया तो उन्होंने मेरा स्वागत सत्कार किया।

संयोग से एमरजेंसी के दौरान एम्स में श्रीमती कौल मुझे दिख गईं। वाजपेयी जी नजरबंद थे और एम्स में थे। वह शायद 25 दिसंबर 1970 का दिन था। वह वाजपेयी जी का जन्मदिन था। वे मुझे वाजपेयी जी के पास ले गईं। वाजपेयी जी ने मुझे पहचान लिया। बोले— “फूल गए हो (मोटे हो गए हो)।” उनका कोई आपरेशन हुआ था। उन्होंने इंदिरा जी के बारे में बताया— “उनका कोई न कोई आदमी हर हफ्ते मेरी खोजखबर लेने आता है।”

वाजपेयी जी और कौल परिवार का संबंध आजीवन बना रहा। नमिता जी तो वाजपेयी जी की पुत्री के रूप में ही जानी जाती हैं। मैं अंतस्तल से इस सात्विक संबंध का आदर करता रहा हूं। मेरे मन पर श्री कौल साहब और श्रीमती कौल की छवि अंकित है और बलरामपुर से अटूट जुड़ी है।

मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब वह अपने युग की दुनिया में प्रवेश कर जाता है। जैसे एक प्रकाश मिलता है, आप अपने ऐतिहासिक समय से परिचित होने लगते हैं। बलरामपुर का मेरे जीवन में ऐसा ही महत्व है। यह परिचय अपने विगत समय का पुनर्परिचय कराता है। पुरानी बातें नए ढंग से समझ में आने लगती हैं। बिजली का प्रकाश 1944 में देखा, रेडियो से सहगल, पंकज मलिक, शमशाद बेगम को सुना, फिल्म देखना, अखबार पढ़ना, विद्यार्थी आंदोलन के जुलूस में नारे लगाना, अपने अधिकारों के लिए लड़ना, सबसे बढ़कर जवाहर लाल नेहरू, गोविंद वल्लभ पंत, लोहिया, नानाजी देशमुख को देखना, इन सबने मुझे बदल दिया होगा जिसे मैं आज महसूस कर रहा हूं। गांव में मैं कबड्डी, गुल्ली डंडा, चिक्का, लच्चीडारी खेलता था। हाकी, फुटबाल देखकर कैसा लगा? कवि सम्मेलन, मुशायरा देख सुनकर कैसा लगा? उसका प्रभाव परिवर्तनकारी, कुछ नए में जोड़ देता था। शहर के लड़कों को साफ सुथरे क्रीज्ड

कमीज पैंट पहने साइकिल से स्कूल आते देखना और लड़कियों को साइकिल चलाते देखना, यह सब एक अद्भुत लोक में प्रवेश करना था। किताबी अद्भुत लोक नहीं सचमुच का लोक। ऐसे लड़कों का बिसनाथ का क्लासफेलो होना, उनके साथ घूमना, उनके जैसा होना, बहुत कुछ ऐसा था जो व्यक्तित्व को बदल देता था। और आज समझ में आ रहा है कि बलरामपुर ने बिसनाथ को क्या दिया? यही नहीं बलरामपुर ने बिसनाथ के बलरामपुर पूर्व जीवन यानी ननिहाल गनेसपुर और बिस्केहर के जीवन— बालक बिसनाथ के जीवनानुभवों— को नई ऐतिहासिक पहचान दी।

बिसनाथ के सगे मामा नहीं थे। लेकिन जो मामा थे वे सगों से ज्यादा सगे थे। वे सगे नहीं थे इसका बोध बहुत बाद में हुआ। उनकी मां रिश्ते में मेरी नानी थीं। वे मेरी सगी नानी से ज्यादा बुढ़ी थीं। न वे किसी से बोलती थीं, न कोई उनसे बोलता था। एक कोठरी में किसी सामान की तरह वे पड़ी रहतीं। उदय प्रकाश की कहानी 'छप्पन तोले का करधन' की बुढ़िया की तरह। क्या खाती पीती थीं हम बच्चों को नहीं मालूम। एक बार हमने उन्हें अपनी विष्ठा खाते देखा। वे विष्ठा की बदबू से अपरिचित हो गई थीं।

उनकी खोज खबर घर भर में केवल मामा, उनके पुत्र लेते। वे उन्हें उठाते बैठाते, टट्टी कराते, सफाई कराते, नहलाते धुलाते, खाना खिलाते। तब मामा के इन कामों के महत्व का पता हमें नहीं था। गांधी जी के व्यक्तित्व से परिचित होने के बाद पता चला। मामा जैसे लोग अब बहुत कम हैं— वह पारिवारिक, पारंपरिक, धर्मभीरु पीढ़ी थी। वे मदर टेरेसा नहीं थे। अपनी मां की ही सेवा करते थे। लेकिन मुझे यकीन है कि किसी और की मां की भी ऐसी सेवा वे कर सकते थे।

मेरे गांव में आर्यसमाज की शाखा थी। भगेलू महाशय, जो मूलतः भगेलू राम थे, आर्यसमाज में आकर राम लखण आर्य कहलाने लगे थे। इसी तरह हरनारायण महाशय भी थे। वार्षिक अधिवेशन होता था। भजन संध्या होती थी। लेकिन आर्यसमाज को जाना मैंने बलरामपुर में आकर।

बिस्कोहर में एक दुबला पतला 30-35 साल का आदमी खद्दर का कुर्ता और सदरी पहने दिखलाई पड़ता, वह हाथ में तिरंगा झंडा लिए रहता। वह बिस्कोहर का नहीं किसी पास के गांव का बरई जाति का था। वह बिस्कोहर जब आता झंडा लिए रहता। शायद वह पैसा, दो पैसा या ऐसा ही कुछ चंदा भी लेता। गांव में साल में एक बार नागा बाबा लोग आते थे। एक दफा देखा कि उस तिरंगा झंडावाले व्यक्ति को नागा साधू मारने लगे। तब समझ में नहीं आया था कि नागा बाबा तिरंगा झंडेवाले को क्यों मार रहे हैं।

बलरामपुर कोई शहर नहीं था। साधन संपन्न और अपने समय को देखते हुए आधुनिक कस्बा जरूर था। लखनऊ और गोरखपुर के बीच का सबसे आधुनिक कस्बा। लेकिन बिस्कोहर और उसके बीच जमीन आसमान का अंतर था। सड़कें, बिजली, स्कूल, इंटर कालेज, बग्घी, कारें, रिक्शे, पाशाकें, बोलचाल की भाषा, संगठन, अखबार, संसार ही भिन्न था। इस भिन्नता ने बिसनाथ के मन में बिस्कोहर की दुनिया को समझने में सहायता की। दूरी से देखने पर चीजें ज्यादा स्पष्ट और साफ दिखलाई पड़ती हैं। बिल्कुल नजदीकी और तात्कालिकता स्थितियों और घटनाओं को अस्पष्ट बना देती है। अनुभव और बोध दो चीजें हैं। सौंदर्य का अनुभव सौंदर्य का बोध नहीं है। अनुभव असीमता में होता है, बोध उस असीम को खंडित करके ससीम बनाकर— अलग करके होता है। बिस्कोहर में देखा हुआ आकाश, वर्षा, शरद, शरद में खासतौर पर कोइयां के फूल जो सफेद कमल होते हैं जिन्हें कुमुद या कोकाबेली कहते हैं, बिसनाथ के

लिए अमृत हैं। उनका असर मन पर कैसा पड़ता है? मन पर असर तो पड़ता था समझ में नहीं आता था। बलरामपुर में कोइयां बहुत कम दिखलाई पड़ता। बलरामपुर के आसपास के गावों के तालाबों में, रेलवे लाइन के किनारे गड्ढों के जल में, वे जरूर दिखलाई पड़ते। शरद में उनकी याद आती। वे दृश्य नहीं होते किंतु उनकी याद आती। जब उनकी अनुपस्थिति एक अजीब तरह की रिक्तता पैदा करती तब उनका महत्व समझ में आता। वे जिस रूप में दिखलाई पड़ते थे उनसे कुछ भिन्न हो जाते। कैसे हो जाते?

निराला ने सौंदर्यानुभव को शब्दों में ढालते हुए लिखा है— नायिका प्रेमी से कहती है— मेरे अंगों से झरता हुआ अमृत पीने के लिए। बिसनाथ को लगा कुमुद से भरे। कुमुदों का रूप, रंग, स्पर्श न मालूम पड़ता— मालूम पड़ती गंध— इन सबका आस्वाद अमृतपान है। यह अनुभवबोध हमें असीम से एकाकार करके हमारे जीवन को सार्थक बना देता है। ईश्वर से साक्षात्कार करा देता है। भक्त कवियों का यही सहज समाधि है। सौंदर्य के प्रत्येक अनुभव बोध में यह चेतनता एवं सार्थकता मिलती है। इस सहज समाधि या जीवन सार्थकता के अनुभव के लिए बहुत ऊपर चले जाने की जरूरत नहीं।

उस समय चमत्कार और अनुभव गांधी, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस, अब्दुल गफ्फार खां, सरहदी गांधी के नामोल्लेख मात्र में था। वे हमारे अनुभव या चेतना में प्रवेश करके हमें झंकृत करते थे। मैं 13-14 के बिसनाथ के अनुभव और बोध की बात कर रहा हूँ। जो कंधी करना नहीं जानते थे, जूते चप्पल कभी कभी ही पहनते थे, महीने में एक बार हजामत के नाम पर मशीन चलवा लेते थे। दो पैसे में। सर में सरसों का तेल लगाना ही प्रसाधन था। बलरामपुर से गांव जाता— प्रायः दोपहर या तीसरे पहर घर पहुंचता— उस दिन रात में अम्मा बुकवा या उझिला लगातीं। यह उबटन था। सरसों उबालकर पीसकर उबटन बनाया जाता। उझिला से सुगंध आती। मां उबटन लगाती जातीं और कहती जातीं— अरे देह कैसा तेल सोख रही है, कितना रूखा है शरीर। कितने दिनों से तेल नहीं लगा है।

बलरामपुर में बहन के कमरे में शीशा था। फिल्मी अभिनेताओं, अभिनेत्रियों की तस्वीरें थीं। गांव में देवी देवताओं के चित्र देखता था। बलरामपुर में फिल्मी लोगों की तस्वीरें देखने लगा। शीशे में बड़ी देर तक अपना चेहरा देखता रहता। इतनी देर तक कि कभी कभी बहन टोकती, डांटती। अपने चेहरे की तुलना उन तस्वीरों के चेहरों से करता। मेरी बड़ी बहन के घर वालों की बस चलती थी। उस बस का ड्राइवर असम का था। उसकी पत्नी गोरी, भरी देह की थी। वह अपने कमरे में मुझे अक्सर बुलाती, यों भी मेरा मन उसके पास जाने को करता। वह लाइफब्याय साबुन लगाके नहाने के बाद जूड़ा खोले कमरे में आती या बैठी होती तो उसकी देह से अजीब मादक गंध महसूस होती। मन में ऐसी तरंगें उठतीं जो पहले नहीं उठती थीं। वह मुझे अपने पास बिठा लेती। टीन के मग में चाय पिलाती। कमर में हाथ डालकर चिपटा लेती, कहती— “यह लड़का मुझे अच्छा लगता है— सीधा सादा है, पढ़ाकू है। इधर उधर नहीं देखता।” मेरा मन उसका शरीर, उसकी साड़ी सुंघने को करता। वह मुझे बहन के कमरे में लगी फिल्मी अभिनेत्रियों की तस्वीरों में से किसी एक के समान लगती।

मेरे बड़े जीजा यानी जीजाजी के बड़े भाई के कमरे में रेडियो था। तिजोरी जितने बड़े बाक्स में रेडियो की मशीन थी। दोपहर को खाना खाने के बाद वे उसमें सोते। सोने के पहले रेडियो पर गाने सुनते। कभी मुझसे रेडियो लगाने के लिए कह देते। सुई घुमाना और रेडियो चलाना मुझे भी आ गया। वे कमरे में न होते तो मैं रेडियो चलाकर गाने सुनता। सहगल इतने लोकप्रिय थे और उनके फैंस इतने और ऐसे थे कि उनकी कोई बुराई करे तो गाली खाए। पंकज

मलिक का 'पिया मिलन को जाना' के.सी.डे. और कई अन्य लोगों के साथ गाया हुआ— 'दुनिया रंग रंगीली बाबा' हर तरफ गूंजते थे। रफी, मुकेश, लता मंगेशकर और थोड़ी देर बाद तलत का प्रवेश हो रहा था। मुझे तलत की आवाज बहुत पसंद है। दिलीप कुमार के चेहरे और एक्टिंग के साथ उनकी आवाज का तादात्म्य विलक्षण है। दिलीप कुमार जैसा कलेजाकाट चेहरा किसी और अभिनेता का मुझे नहीं लगता। नादिरा ने एक बार कहा था— दिलीप कुमार जैसी पीठ और किसी अभिनेता की नहीं है। दिलीप कुमार की पीठ की खूबसूरती का जादू देखना हो तो फिल्म 'गंगा जमुना' में बैजयंती माला के गाने 'दूँदो दूँदो रे साजना मेरे कान का बाला' के अंकन के समय उसकी पीठ को देखिए जिस पर नायिका के कान का बाला टंगा रह गया है। इस लोकगीत का उपयोग जिस सिचवेशन के लिए किया गया है उसे समझने की बात है। दिलीप कुमार लाजवाब हैं लेकिन युग वह राजकपूर का था। दिलीप कुमार के साथ आप किसी और अभिनेता या अभिनेत्री को नत्थी नहीं कर सकते। कामिनी कौशल, मधुबाला, नरगिस, निमी, सब थोड़ी थोड़ी देर के लिए। लेकिन राजकपूर के बारे में आप नरगिस के बगैर सोच ही नहीं सकते। यह फिल्मी जोड़ी हमारे समय में शायद हिंदी फिल्म के इतिहास में अद्वितीय रही। सिर्फ नरगिस ही नहीं आप राजकपूर के बारे में, उसकी फिल्मों के बारे में, आर.के. स्टूडियो के बारे में सोचें तो आप शैलेंद्र, मुकेश, शंकर जय किशन, आरचेकर के साथ सोचेंगे। राजकपूर श्रेष्ठ निर्देशक, शो मैन थे और अपनी टीम के साथ थे। टीम के बिछुड़ने के बाद राजकपूर राजकपूर नहीं रह जाते हैं; नहीं रह गए। लेकिन बलरामपुर की बात करते करते मैं काफी बहक रहा हूँ। मैं अक्सर बहकता हूँ। दिलीप कुमार, राजकपूर, नरगिस की बात कानपुर के दिनों की है। बलरामपुर की नहीं; यहां तो जुगनू, अनोखी रात, डा. कोटनीस की अमर कहानी, रामराज्य का युग था। इनमें रामराज्य सबसे ज्यादा पापुलर थी। उसका गाना 'भारत की इक सन्नारी की हम कथा सुनाते हैं' बालक, युवक, वृद्ध सबकी जबान पर था। मेरे मन में अभी भी राम और सीता का जो रूप है वह प्रेम अदीब और शोभना समर्थ का है। प्रेम अदीब सुल्तानपुर के थे। शोभना समर्थ नूतन और तनूजा की मां थीं। रामराज्य हिंदुओं में प्रचलित थी, थोड़ी बहुत मुसलमानों में भी जरूर रही होगी। भारतीय जीवन में फिल्मों के महत्व पर अभी पूरा ध्यान नहीं दिया गया है। अभी हाल तक और अभी भी अधिसंख्य फिल्में भारतीय जनता की मूलभूत एकता, समानता और अखंडता की वाहक हैं। यहां तक कि अभी तक पाकिस्तान और भारत की फिल्मों का मुहावरा एक है। गानों में तो और भी ज्यादा समानता है। हिंदी फिल्मों के गानों और उनकी धुनों की विविधता और लोकप्रियता अपार एवं अभूतपूर्व है। मुझे कभी कभी लगता है कि भारत का वास्तविक रूप फिल्मों के गानों में झलकता है। भारत का इतिहास, उसकी परिस्थितियां, विषमताएं, समानताएं, निम्नता और औदात्य, संकीर्णता उदारता, क्रूरता, अमानवीयता और मानवीय आध्यात्मिकता, वहशीपन और देवत्व सब फिल्मों में उजागर है। एक धोबी गधे पर बैठा कपड़ों को धोने तालाब या नदी पर जा रहा है और ट्रांजिस्टर (अब मोबाइल) पर गाना सुन रहा है— 'रहें न रहें हम महका करेंगे'। बाजारू गाना, पंजाबी, राजस्थानी, भोजपुरिया, छत्तीसगढ़ी धुनें सबकी सब हर समय उपलब्ध। सब तल्लीन होकर सुनते हैं। ऊबते हुए सुनते हैं। बेमतलब का— बिना ध्यान दिए सुनते जा रहे हैं और बिना समझे हुए भी भाव विभोर हो रहे हैं। इन फिल्मों के सहारे भारत का प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है। ये ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। धर्म, संप्रदाय, पर्व, उत्सव, मिथक, प्रकृति, संकीर्णता, उदारता, गरीबी, अमीरी, नारी पराधीनता, प्रेम का वरदान, उसकी पीड़ा, बाल विवाह, अनमेल विवाह, दलित विधवा का क्रंदन, उच्च वर्ग की हृदयहीनता, उदारता, बलात्कार, बलिदान, नारी सम्मान, अपमान सबकुछ और भी

सबकुछ फिल्मों और उनके दृश्यों, चरित्रों और गानों में दर्ज है। चिह्नित, भावांकित है। सबसे बड़ी बात यह सर्वजन सुलभ है। तकनीक का इतना बड़ा वरदान और इतनी वर्गरहित उपलब्धि! कोई भी दूसरी तकनीकी उपलब्धि इतनी सर्वजन सुलभ नहीं है इसलिए इतनी अधिक प्रभावी भी नहीं है।

हमारे समय में क्रोनी कैपीटलिज्म फिल्मों की इस सर्वजन सुलभता को ध्वस्त कर रहा है। अपार पैसा झोंककर विज्ञापन के द्वारा जनता के सौंदर्यबोध को विकृत करने की मानसिकता बढ़ा रहा है; जहां कला व्यवसाय तो बन ही गई है, कला को—हमारे सौंदर्यबोध को—अमानवीय करुणा रहित बनाने का कुचक्र चल रहा है। लेकिन इस दारुण प्रसंग पर यहां कितनी बात की जाए।

भारत में फिल्म उद्योग का प्रारंभ स्वाधीनता आंदोलन के समय में ही हुआ था। उस पर स्वाधीनता आंदोलन की स्पष्ट छाप है। प्रारंभिक मिथकीय विषयों पर आधारित फिल्मों में भी सामाजिक और कभी कभी राजनैतिक संदेश है पारसी थियेटर के रंग में लेकिन संदेश स्पष्ट है। शांताराम की, जो शायद हिंदी और मराठी फिल्मों के भी सर्वाधिक प्रसिद्ध निर्देशक थे, फिल्मों में संदेश अधिक कलात्मक ढंग से प्रेषित होते थे। शांताराम में सामाजिक उद्देश्यों को कलात्मकता के साथ प्रेषित करने की अद्भुत क्षमता थी। उनकी कलादृष्टि मौलिक और नवोन्मेषी थी। उनमें तात्कालिक मुद्दों पर रचना करने की क्षमता थी जिसका प्रमाण 'डा. कोटनीस की अमर कहानी' है जो सच्ची घटना पर भारत के आदर्शवादी युवक डाक्टर के चीन में जाकर सेवा करने के दौरान ही दिवंगत हो जाने की घटना पर आधारित है। फिल्म का प्रारंभ जवाहर लाल नेहरू के उद्बोधन भाषण से होता है। डा. कोटनीस की भूमिका स्वयं शांताराम ने निभाई है। इस फिल्म के बारे में एक बात और कही जाती है। इसकी 'रिलीज' के लिए जवाहर लाल नेहरू से प्रार्थना की गई थी। लेकिन नेहरू ने कहा यह फिल्म चाहे जैसी हो, व्यावसायिक है, मेरा आना विज्ञापन होगा। इसलिए मैं नहीं आऊंगा। आज के युग में नेहरू का 'डा. कोटनीस की अमर कहानी' जैसी फिल्म की रिलीज में शामिल होने से इनकार करना कैसा भी लगता हो लेकिन स्वाधीनता आंदोलन इसी दृढ़ता के साथ लड़ा गया था।

शांताराम आजाद हिंदुस्तान में प्रतिष्ठान के चहेते नहीं बने। उन्होंने अपनी मराठी अस्मिता और अखिल भारतीयता की टेक बनाए रखी।

राजकपूर ने फिल्म बनाई 'अब दिल्ली दूर नहीं'। उसमें नेहरू पर पर्याप्त फोकस था। नेहरू ने उस फिल्म में भी सहयोग करने से इंकार कर दिया।

शांताराम को दादा साहब फड़के सम्मान मिला। मेरी जानकारी और स्मृति के अनुसार (हो सकता है मेरी जानकारी और स्मृति ठीक न हो) शांताराम सम्मान लेने स्वयं नहीं आए। सचिव को भेज दिया।

शांताराम अपनी फिल्म में काम करने वाले अभिनेताओं अभिनेत्रियों को पारिश्रमिक बहुत कम देते थे। आश्चर्यजनक रूप से कम। लेकिन प्रसिद्ध से प्रसिद्ध अभिनेता अभिनेत्री उनकी फिल्मों में काम करने को लालायित रहते थे। 'झनक झनक पायल बाजे' जैसी फिल्म में कौन अभिनेता काम नहीं करना चाहेगा। संगीत कला साहित्य के शीर्ष व्यक्तित्व उनका आदर करते थे। किंतु जैसा कि होता है, महान व्यक्तित्वों का व्यक्तित्व सर्वथा निर्दोष नहीं होता, उनकी एक फिल्म है 'पिंजरा'। नायक का काम श्रीराम लागू ने किया है। नायिका का संध्या ने। मुझे लगा कि शांताराम का व्यक्तित्व इसमें प्रतीक के तौर पर उभारा गया है।

भक्ति काव्य विशेष रूप से रामचरितमानस की पंक्तियां उन दिनों बोलचाल में प्रयुक्त

की जाती थीं, वह अब भी की जाती हैं। विद्वत जनों के बीच स्वाधीनता आंदोलन के प्रभाव में मैथिली शरण गुप्त की 'भारत भारती' की पंक्तियां सबसे ज्यादा लोकप्रिय थीं। साथ में सोहनलाल द्विवेदी, नवीन, दिनकर की। बच्चन की 'मधुशाला' एक दूसरे ढंग की कविता के रूप में लोकप्रिय थी। नरेंद्र शर्मा का प्रेमगीत 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' बहुत लोकप्रिय था। निराला प्रसाद पंत, महादेवी साहित्यदीक्षित लोगों में ही प्रसिद्ध थे। इस दौर का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य राधेश्याम रामायण था। सुदूर गांवों में— मेरे गांव में— इसके गायक थे। इसे धर्मकाव्य के रूप में प्रतिष्ठा मिली हुई थी और इसी के साथ फिल्मी गाने सामान्य लोकजीवन में कहीं अधिक व्यापक रूप में प्रवेश कर रहे थे, प्रवेश कर गए थे। वे धार्मिक काव्य, राजनैतिक काव्य, नीति काव्य, प्रेम काव्य, सबकुछ थे। उनके साथ गंभीरता, साहित्यिकता रोमानी भाव भी जुड़ा था। वे द्रुत गति से लोकजीवन में व्याप्त हो रहे थे। वे गुनगुनाए जाते थे, गाए जाते थे और प्रेमपत्रों, चिट्ठियों में उद्धृत किए जाते थे। उनकी तर्ज पर भजन बन रहे थे, राष्ट्रीय गीत बन रहे थे। आज यह प्रवृत्ति कहीं ज्यादा तेज हो गई है, तब सिर्फ शुरुआत हुई थी। छुट्टियों में गांव गया। अम्मा ने बताया घर में सांप निकला था। अम्मा अकेली थीं। वे भरसक सांप को मारने नहीं देती थीं। चौका याने किचन में उन्होंने एक पांव पर खड़े होकर हाथ जोड़कर कहा, हाथ से फन बनाकर हिलाते हुए कहा— सांप ऐसा था ऐसा था, 'तन डोले मेरा मन डोले'। मुझे आश्चर्य हुआ, यह नागिन फिल्म का गाना इन्होंने कहां सुन लिया, जिसका उपयोग अपनी बोली में मिलाकर किया है।

हमारे बचपन में गांव में सिनेमा नहीं था। तब सिनेमा बलरामपुर में भी नहीं था। अखबार में विज्ञापन आता था। निशात टाकीज में... (लखनऊ या जहां से अखबार निकलता था, उस शहर का)। मुझे याद है निशात को निशात लिखा रहता था, त में हलंत के साथ और हम पढ़ते निशातू टाकीज। गांव में सिनेमा नहीं था इसका मतलब यह नहीं कि मनोरंजन के साधन नहीं थे। सच बात तो यह है कि तब मनोरंजन के साधन आज से कहीं ज्यादा थे और ज्यादा विविध थे। अनेकानेक खेल थे— मैदान के, तालाब के, पेड़ों के, चांदनी रात में खेले जाने वाले खेल, अंधेरी तारों भरी रात में खेले जाने वाले खेल, कबड्डी, कंचा, गुल्ली डंडा, चिक्का, लच्ची डाही, सोलह गोली, पसेरी धम्म, ततलमतूल ऊपर देखो हिरनी कि हिरना आदि। खो खो का भी एक रूप प्रचलित था। लच्ची डाही, पेड़ों पर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते दौड़ते पकड़ने छूने का खेल खतरनाक था। ततलमतूल एक तरह की कबड्डी ही थी लेकिन पकड़े जाने पर पीटने की खुली छूट थी। इसलिए इस खेल का अंत प्रायः लड़ाई झगड़े में होता था। लच्ची डारी और चिक्का के कारण गांव के अनेक खिलाड़ी जीवन भर के लिए लूले लंगड़े हो जाते। लड़कियों के खेल अलग थे। वे घर घरोंदा बनाकर एक टांग पर दौड़कर कोई खेल खेलती थीं। रस्सी से कूदना उनका प्रिय खेल था। इन खेलों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी सामग्री जुटाने में पैसा नहीं लगता था। साधन कम से कम लगते थे। 'सोलह गोटी' में गोटियों की जरूरत पड़ती थी। गोटियों का काम कंकड़ पत्थर करते थे। गुल्ली डंडा में पेड़ पौधों से डंडा गुल्ली बना ली जाती थी। कुश्ती को खेल तो नहीं कह सकते लेकिन वह थोड़ा बहुत खेल का भी काम करता था। कबड्डी गाकर, सांस रोककर खेली जाती थी। सांस टूटने पर खिलाड़ी हारा मान लिया जाता था। कुत्ते नहीं लड़ाए जाते थे लेकिन बच्चे पिल्ले लड़ाते थे। हम एक और खेल खेलते थे लड़ाने का। मार्च अप्रैल जब बेर में फूल आते हैं तब उन्हें सूंघने से ततइया (बर) के डंक झड़ जाते; उन बरों की कमर को धागे में बांध देते और उन्हें लड़ाते। पतंग तो लड़ाते ही थे। तब पतंग को खरीदना सबके बस की बात नहीं थी। बेल का गूदा निकालकर

उसमें छेद करके रस्सी से बांधकर फर से छोड़ते— वह नाचते हुए ध्वनि करता, हम उसे भौंरा कहते। भौंरा आवाज ज्यादा करे इसके लिए उसमें बकरी का दूध डालते।

इन सबके लिए समय चाहिए था और तब समय पर्याप्त था। याद रखिए कि तब बच्चे स्कूल भी इतना ज्यादा नहीं जाते थे। निम्नवर्गीय और निम्नवर्गीय बच्चे स्कूल प्रायः नहीं जाते थे। खेलकूद में वे सर्वर्ण बच्चों से बेहतर होते थे। बहुत कुछ उसी तरह जैसे कि नीग्रो या ब्लैक बच्चे गोरों के बच्चों की तुलना में खेलकूद में कहीं बेहतर हैं, हां और गाने में भी वही हाल है। देसी नौटंकी तमाशा में भी। फिल्मों ने इन सबको हजम कर लिया। लुप्त होते जाने की प्रक्रिया बिसनाथ ने अपनी जीवन प्रक्रिया के संग संग देखी।

खेलकूद के साथ साथ कलात्मक सृजनात्मक प्रकार थे।

नाटक को हमारे यहां पंचम वेद कहा गया है। नाट्य का संबंध विशेष रूप में तथाकथित निम्नवर्गीयजन से है। इन जातियों से इनके नृत्य, नाट्य प्रकार संबन्धित थे। धोबी नाच, पूर्व कथित चमार नाच, अहीरों का नाच विशिष्ट था। उनके नाच को फरुवाही कहते थे। फरुवाही नाच सबके बस की बात नहीं थी। उसमें अनेक दुष्कर कौशल थे। लगता था कि वे सब किसी युद्धजीवी जाति के नृत्य नाट्य हैं। अहीरों का जातीय नायक लोरिक है। उसके नाम से लोरिकनाचा है। लोरिकनाचा में कथा भी है। अवधी का अब तक उपलब्ध प्रथम सूफी काव्य 'चंदायन' है। लोरिक की प्रेमिका का नाम चंदा था। लोरिक का उत्तर भारत के मिथकीय इतिहास में जो महत्व है उसे अभी पूरी तरह समझा नहीं गया है। लोरिक कथा के आयाम बहुत कुछ समेटे है। इस कथा पर आधारित अवधी की प्रथम सूफी रचना 'चंदावत' या 'चंदायन' को इस्लाम को मानने वाले धर्मग्रंथ का महत्व देते थे। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'मृच्छकटिक' के गोपाल आर्यक को समुद्रगुप्त का सेनापति और लोरिक ही मानते हैं।

बलरामपुर के आसपास के गांवों में— जिनमें मेरा गांव बिस्कोहर भी आता है— नौटंकी और विदेसिया का प्रचलन था। लोग इस पर जान देते थे। किसी जगह विदेसिया या नौटंकी होती तो दूर दूर से लोग देखने आते। नौटंकी थोड़ा बहुत शहराती चीज थी। कानपुर और हाथरस नौटंकी के केंद्र थे। हमारे जमाने में तिरमोहन कंपनी की नौटंकी बहुत विख्यात थी। नौटंकी रचने वाले स्थानीय व्यक्तियों पर रचना बना देने में माहिर थे। सुल्ताना डाकू की नौटंकी मशहूर थी। ध्रुव, प्रहलाद, सत्य हरिश्चंद्र, शीरी फरहाद, लैला मजनू भी काफी लोकप्रिय थी। रेणु की प्रसिद्ध कहानी 'तीसरी कसम' पर बनी फिल्म में नौटंकी का अद्भुत रचनात्मक उपयोग है। हीराबाई नौटंकी में ही काम करती है। उसके संवाद गीतात्मक होते थे। वाद्य में नक्कारे का विशेष महत्व था।

गांव में बिदेसिया और सफेड़ा (सपेरा) का खेला होता था। विदेसिया का नायक विवाहिता को घर छोड़कर परदेस कमाने जाता था। विरहिणी नायिका के विरह और उस स्थिति से जुड़े हुए अनेक प्रसंग होते। अंत में परदेसी प्रियतम आता और संयोग होता। सफेड़ा में नायिका को सांप काटने की कथारूढ़ि थी। वह किसी न किसी तरह बच जाती और प्रिय से उसका मिलन होता। विदेसिया कथा का भी रूप था और गायन तर्ज का भी। उसकी प्रतीक कथा पंक्ति थी—

गौना करायके पिया घर बड़इले

अपना गए परदेस रे बिदेसिया

बिदेसिया और सफेड़ा का नायक नागर कहलाता। उसके आगमन पर रंगा कहता—
“सभा में दोस्तों नागर की आमद आयद है।” बिदेसिया और सफेड़ा का सबसे आकर्षक पात्र कनवा होता, कनवा यानी काना, वह जोकर होता। उसके रंगमंच पर आते ही— रंगमंच कोई

मंच नहीं होता था, जमीन पर ही खेल होता— सभा में, विशेष रूप से बालमंडली में, हंसी की लहर दौड़ जाती। वह नाना प्रकार की मुद्राएं बनाता, टिप्पणी करता— श्लील अश्लील हर तरह की। गांवों में श्लील अश्लील में अंतर बहुत कम होता है।

कस्बों में, गांवों में नट नटनियों के करतब रोमांचक होते थे। आज जो करतब बड़े बड़े विज्ञापनों के साथ टीवी पर दिखाए जाते हैं उनकी तुलना में उनके करतब कम साहसपूर्ण नहीं होते थे। रस्सी पर नृत्य दौड़ तो मामूली बात थी। हमारे गांव में जमींदार के घर के सामने नटिन का करतब होता। हौज में पानी भरवा दिया जाता। उसमें नथ डाल दी जाती। नटिन के हाथ पांव बांध दिए जाते। वह हौज के पानी में मुंह डालकर पहले से डली हुई नथ नाक में पहन लेती। नट नटिन के बारे में उनके करतब की बात अलग। उनकी सहज सुंदरता, उनकी बोली में रोमांस, उनकी पोशाक, चाल, भंगिमाओं में भाव की धार जिसे अब सेक्स अपील कहें, अलौकिक थी। नट बलिष्ठ होते— सुंदर और नटिनियां साक्षात् रति। वे चरित्रवान होते। हावभाव रोजी कमाने के लिए थे। कभी कभार नट समाज के बाहर किसी पुरुष का नटिनी से प्रेम या संबंध होता तो वह कथा मिथक बन जाती। ऐसा संबंध पक्का होता। विवाह नहीं होता। संबंध ही बनता। एक नटिन मेरे घर भी कभी कभी आती। अम्मा मुझे भेजती— दादा (पिता) को बुला लाओ। तुम्हारे दादा को इसका गाना बहुत पसंद है। वह गाती। दादा अम्मा सुनते। मैं भी बैठा रहता। उसे चावल दाल, कपड़ा या पैसा दिया जाता। मुझे याद है, वह काजल लगाए रहती। शायद दांतों में मिस्सी भी। साफ सुथरी, सांवली, मुस्कराकर गाती और बात करती।

मनोरंजन में आल्हा की बात न करना अक्षम्य होगा। आल्हा वर्षा ऋतु में गाया जाता था। आल्हा एक आदमी नहीं गाता। एक पिछुआ जरूर होता। वह अगले की छोड़ी हुई पंक्ति जोड़ देता। आल्हा गाने के लिए वीरता के भाव के साथ दमदार स्वास्थ्य भी चाहिए। स्मृति चाहिए। भूलने पर आशु कविता बनाने की क्षमता चाहिए। अच्छे गायक गमलाशैली में गाते थे। गमला यानी विविध छंदों में और कथाक्रम में बिखराव देकर। आल्हा का अपना छंद है। आश्चर्य होता है जानकर कि कामायनी का प्रारंभ आल्हा छंद से हुआ है। मतलब कि यह मूलतः कथा कहने का छंद है। शुरुआत सुमिरनी या देव स्मरण से होती थी। सुमिरनी प्रायः कवित्त या सवैये में होती थी। किसी देवता के स्मरण से सुमिरिनी खतम होने के साथ गायक सीधे कथा पर आ जाता था—

सूर महोबा में जनमे हैं एक से एक दइव के लाल

लड़न भिड़न को ऊदल ठाकुर किल्ला तोड़न को मलिखान

मैहर के शारदा मंदिर का आल्हा ऊदल की कथा के साथ विशेष संबंध है। मैहर में शारदा मंदिर की पहाड़ी के नीचे एक तालाब सा गड्ढा है जिसे आल्हा ऊदल का अखाड़ा कहा जाता है। आल्हा के कथा काव्य को आल्हखंड कहते हैं। इससे पता चलता है कि यह वृहद काव्य परमाल रासों का कोई खंड था। परमाल रासो की रचना जगनिक ने की थी। जगनिक कवि भी था और परमाल रासो का एक पात्र भी। बिल्कुल पृथ्वीराज रासो के चंदबरदाई की तरह। आल्हा के गायन का प्रभाव इतना पड़ता था कि कभी कभी उत्तेजना में इसमें हत्या हो जाती थी। कुछ अल्लैत हाथ में तलवार घुमाते हुए आल्हा गाते थे।

लोकजीवन में एक प्रवृत्ति यह भी है कि लोकप्रिय से लोकप्रिय और खूब आदर पाने वाले शिष्ट रूप का भेदस उपहास भी किया जाता है। आल्हा सामंती काव्यरूप है। इसका गायन खाते पीते आदमी के घर में होता था। अल्लैत को खिलाया पिलाया जाता था। निम्नवर्गीय जन इसे देखते थे और इसका उपहास भी अपने ढंग से करते थे। आल्हा गाने वालों के लिए कुछ पंक्तियां ऐसी भी प्रचलित थीं—

आल्हा मरि गए कोहड़ा के थाल्हा ऊदल मरे चने के खेत
 आल्हा गावें ढोल बजावें चिउरा दही सकेले जाएं
 कोदो पावें घर पहुचावें लड़िके मात मात मरि जाएं
 आल्हा गवैयक छाती फाटै और सुनवइया क मूंड पिराय
 जेकरे मोहारे ढोलक बाजै तेकर मझिल पूत मरि जाई

प्रवाद था कि आल्हा गाने पर झगड़ा जरूर होता है।

दलित वंचित समाज में प्रतिष्ठान का मजाक उड़ाने का अपने ढंग का मुहावरा होता है। नौटंकी या विदेसिया में नव्वाब और राजा या सेठ का काफी मजाक उड़ाया जाता। काजी साहब का अभिनय करने वाला धम्म से बैठ जाता। कहता— लो गोबरहवा मोहर लग गई। बटुक ब्रह्मचारी का मजाक उड़ाने वाला गाना था—

दलदलवा में फंसि गै बरमचारी
 लंबी लंबी टांग चुत्तर भारी
 दलदलवा में फंसि गए बरमचारी

अवध में शिया मुसलमानों की अच्छी आबादी है। उनकी आर्थिक स्थिति सभी मुसलमानों से बेहतर है। ज्यादातर जमींदार सुशिक्षित हैं। देखने में गोरे चिट्टे। जौनपुर, बलरामपुर, फैजाबाद और आसपास के गावों में उनकी बस्तियां या मोहल्ले हैं। हसन हुसैन की शहादत की कथा पर गाया जाने वाला शोकगीत 'मरसिया' उनका प्रिय गान है। उर्दू में मरसिया की रचना प्रत्येक शिया के घर में कुछ न कुछ की जाती है। मोहर्रम उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पर्व है। शिया मुसलमानों के अलावा अवध में पिछड़े वर्ग के लोग भी भारी संख्या में मोहर्रम मनाते हैं। ताजिया रखते हैं। बिस्कोहर में वेश्या समाज का सबसे बड़ा पर्व मोहर्रम है। उर्दू के मरसिए अच्छे हैं लेकिन मैंने गावों में अवधी के जो मरसिए सुने हैं वे मार्मिकता में अद्भुत हैं। हम लोगों ने बचपन में रामचरितमानस, कबीर, सूर, मीरा के भजनों और मरसिया के सोज दर्द को एक साथ पाया है। संभवतः इसीलिए अवध में इतनी सांप्रदायिक सहिष्णुता थी। अब की बात और है।

अवध का एक त्यौहार या उत्सव कहें था— बहराइच के गाजी मियां का मेला। इसे पिछड़े वर्ग के हिंदू और मुसलमानों में डफाली विशेष रूप से मनाते। डफाली मुसलमानों में पिछड़ी जाति का उपवर्ग है जो डफ बजाता है। दूर दूर से गाजी मियां के मानने वालों, बहराइच जाने वालों का समूह गाता बजाता आता। वे मई महीने में आते। हमारे यहां माना जाता कि जिस दिन गाजी मियां की शादी होती है आम का पका फल जरूर टपकता है। गाजी मियां को गाने में हरियाला बन्ना कहते।

गाजी मियां के इस उत्सव पर्व पर प्रसिद्ध इतिहासकार शाहिद अमीन ने एक शोधपूर्ण पुस्तक लिखी है जो इसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझने में बहुत उपयोगी है। बहराइच में गाजी मियां के मेले में जाने वालों का उल्लेख तुलसीदास ने एक दोहे में किया है।

बलरामपुर किसी कस्बे का नाम भर नहीं है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश और पूर्वी अवध की लोक संस्कृति का प्रतीक भी है। बलरामपुर आसपास के गावों से थोड़ा सा भिन्न और थोड़ा सा ऊपर उठा हुआ था। 'ऊपर उठा हुआ' सतर्क होकर बांचें लेकिन वह आसपास के गांवों से समरूप ज्यादा था असमान या ऊपर उठा हुआ कम, विशेषतः दलित पिछड़े और सामान्यजन की संस्कृति की दृष्टि से।

पूर्वी अवध के गांवों के बारे में अगर आपने उनके खानपान के बारे में नहीं सुना तो

आपने कुछ खास नहीं सुना। यह क्षेत्र इतना विविध और व्यापक है कि उसके लिए बहुत स्पेस चाहिए। हो सकेगा तो पूर्वी अवध के खाने पीने के बारे में एक किताब भी लिखूंगा। किताब लिखने की जरूरत शिद्दत से महसूस कर रहा हूँ। क्योंकि यह सब हमारी आंखों के देखते देखते विदा हो रहा है और विकास के नाम पर। यह कैसा विकास है जो स्वास्थ्य, सुंदरता, आस्वाद और असल के नाम पर बनावटीपन, रोग और कुरूपता को बढ़ावा दे रहा है। तकनीक नया कुछ जोड़ती है बेहतर के लिए न कि जो पहले से अच्छा हो उसे बरबाद कर देने के लिए। आजादी के बाद पूंजीवादी अपसंस्कृति का सबसे बड़ा आघात हमारे भोजन और खाने पीने की चीजों पर हुआ है। योरोप और अमरीका के देश हमसे कम विकसित नहीं हैं लेकिन उनके यहां खाने पीने की चीजों में इतनी मिलावट नहीं होती। दूध, सब्जियां, फल, अनाज सबको कृत्रिम तौर पर फुलाकर इतना बड़ा मोटा विकृत और बेस्वाद किया जा रहा है कि जो लोग पहले का खा चुके हैं उनके लिए ये सब बेस्वाद हो गए हैं। लोग भारतीय संस्कृति का नाम तो लेते हैं उनके हाथ में अब सलामी है लेकिन वे विदेशी खाद्य सामग्री से बाजार पटा देखते हैं और चुप रहते हैं। खैर इसका रोना छोड़कर हम बलरामपुर के आसपास के बारे में उन दिनों की बात करते हैं। बच्चों के स्कूलों के सामने कच्ची इमली, सूखे बेर जिसे झरबेरी कहते थे, लेमनजूस और सोनपपड़ी बिकती थी। इंटरवल होते ही बच्चे बच्चियां उन पर टूट पड़ते थे। हां वही जिनके पास पैसा होता था। उन दिनों खाते पीते घरों में बच्चों को एक रोज का एक आना या दो पैसे से ज्यादा जेबखर्च नहीं मिलता था। चीजें इतनी सस्ती थीं कि इतने जेबखर्च में ही ऐश हो जाती थी। गर्मी के दिनों में पत्ते पर बर्फ घिसकर और उस पर मीठा रंगीन शरबत कुछ डालते थे, इस बर्फ को बेचने वाला गाता जाता था— ‘बरफवा खाए जाओ जिआ न तरसाओ’ और बच्चे जिआ तरसाते थे या खाते थे। जामुन और अमरूद के दिनों में ये भी बिकते थे। पकौड़ी और मिठाई की बिक्री का चलन स्कूल में कम था— बिल्कुल नहीं के बराबर। स्कूल कालेजों में कैंटीन का रिवाज नहीं था। स्कूल में खाना कोई नहीं लाता था। खाने के एवज में भुजिआ चावल या चने का भूजा लाते थे। डीएवी स्कूल में मेरा क्लास फेलो बिजलीपुर का बाबूलाल हलवाई कभी कभी मेरे लिए पेड़ा ले आता था। पहले लिख चुका हूँ कि बलरामपुर का पेड़ा, कलाकंद, इमरती, दही, रबड़ी खासतौर पर बहुत अच्छा होता था। एक प्रकार का मीठा दही, बंगाल की मिष्टी दही से भिन्न, मिलता था जो उस क्षेत्र की विशेषता थी। सामिष में कबाब और घाघरा की रोहू मछली, मछली का कबाब भी वहां बनता था। अवध के सामिष भोजन के बारे में एक कथा प्रसिद्ध है। फैजाबाद के किसी नवाब ने किन्हीं तीन अंग्रेज अफसरों को खाने पर बुलाया। दस्तरखान पर प्लेटें रख दी गईं। बड़ी देर तक इंतजार के बाद अंग्रेज अफसर ने पूछा— “खाना कब आएगा।” नवाब साहब ने कहा— “खाना तो लग चुका है। आप प्लेटों को तोड़कर खाइए। यही खाना है।” मेहमानों ने प्लेट को किनारे से तोड़ा, मुलायमियत से वे टूट गए। एक एक टुकड़े में अलग अलग खाद्य सामग्री का जायका था, किसी में शीरमाल, किसी में कोरमा, किसी में कबाब था।

सामूहिक सामुदायिक भोजन में पूड़ी कचौड़ी, अचार, कोहड़ा (काशीफल) की सब्जी प्रमुख होती। मीठे में पेठा जरूर होता। ब्राह्मणों के भोजन में पूड़ी के साथ चूड़ा दही गुड़ भी होता। 1947 के बाद पंजाबी आ गए तो छोला भटूरा कुल्वा भी आ गया। ब्रेड पकौड़ा भी। बलरामपुर के लोग आश्चर्य से बोलते— पंजाबी दूध जरूर पीते हैं। गरीब से गरीब पंजाबी भी एक किलो दूध रोज सवेंरे घर लाता है। बात यह है कि अवध में सांस्कृतिक समृद्धि के बावजूद आर्थिक दुर्व्यवस्था बहुत भयंकर थी। दूध दही कुछ लोगों के लिए ही था। अधिकांश लोगों के लिए वह

न था या कम था। दूध दही पूड़ी कचौड़ी बालूशाही यह सब लोकगीतों और कल्पना में ज्यादा थे जीवन यथार्थ में कम। यथार्थ में तो अधिकांश जनता 'कफन' कहानी के घीसू माधव की तरह थी।

फिर भी 1947-48 तक बलरामपुर के आसपास गांवों में छोटे से छोटे काश्तकार के यहां नवान्न दो बार मनाया जाता। धान माह के समय थोड़ी सी या अधपकी धान की बाली में से धान हाथ से सुरक लिया जाता। उसका चिउरा सुरका का चिउरा कहलाता जिसमें खेत की अधपकी धान की बाली की गंध और उसका कच्चा स्वाद बना रहता। उसे गुड़ के साथ प्रसाद के रूप में आवाज लगाकर बांटा जाता। सुरका का चिउरा का स्वाद अब केवल स्वप्न में बचा है। दूध दही गुड़ के साथ उसे खाना जीवन लाभ पाना था और यह जीवन लाभ सर्वसुलभ था।

तब— मेरे बचपन तक— बल्कि आजादी मिलने तक कई ऐसे अन्न रोजमर्रा के इस्तेमाल में थे जो (प्रजातियां) अब नहीं मिलते अथवा मुश्किल से मिलते हैं। कोदो, सावां, मेडुआ, लहरवा— ये जड़हन नहीं थे यानी इन्हें बोकर फिर रोपा नहीं जाता था। जमीन पर वैसे छींट दिया जाता था और वे उग आते थे। पता नहीं किस कारण इन्हें विश्वामित्री अन्न कहा जाता था। शायद भाव यह है कि ये विश्वामित्र द्वारा प्रतिसृष्टि के अन्न हैं। ब्रह्मा की बनाई सृष्टि के नहीं। इनका दर्जा दूसरे नंबर का था और इन्हें गरीब लोगों का अन्न माना जाता था। हालांकि सामान्य किसान परिवार में इन्हें खाया जाता था। किसान परिवार में खेत में होने वाला अन्न ही उसका सर्वस्व होता है जिसके आधार पर परिवार का भरण पोषण होता है। धान की एक अन्य प्रजाति थी— ओसहन। जड़हन से अलग ओसहन की रोपाई या बैठाई की जाती थी। ओसहन को सांठी या साठा भी कहते थे। ओसहन ओसधान ओस से पोसित होने वाला धान या अश्विन धान कार्तिक के महीने में तैयार हो जाने वाला। सांठी साठा साठ दिनों में तैयार हो जाता था। यह धान बारीक या महीन तो नहीं होता था लेकिन स्वादिष्ट बहुत होता था। सादे पानी में बनाने से ही लगता था मानो दूध में पकाया गया है। अब यह मिलता ही नहीं। गांव में भी नहीं मिलता। बहुत ढूंढने पर मिले तो मिले। हमारा क्षेत्र चावल उगाने के लिए बहुत प्रसिद्ध है। एक विशेष प्रजाति का चावल हमारे क्षेत्र में होता था— कालानमक। इसका रंग (धान का) काला होता था। लेकिन इसकी खुशबू की गमक बहुत बेधक व्यापक होती थी। खेत में लहराते हुए पौधों से ही इसकी खुशबू दूर दूर तक फैलती थी। मेरे विचार से धान के पौधों जैसी सुगंध अन्य किसी चीज की नहीं होती। कालानमक कहने के लिए अब भी होता है किंतु उसमें अब खुशबू नहीं होती। खुशबू नहीं तो कालानमक और अन्य धानों में कोई अंतर भी नहीं रह गया है। पहले बनता था तो घर के ही नहीं पड़ोस वाले तक को पता चल जाता था कि कालानमक का भात बन रहा है। ये सभी धान बलरामपुर में मिल जाते थे। एक धान 'तिन्नी' था। तिन्नी तालाबों में अपनेआप उगता था। उसके पत्तों और डंठल को हाथी बड़े शौक से खाते थे। लटेरा और भैंसालोटन दो अन्य धान थे। लटेरा बहुत महीन लंबा कीमती धान और भैंसालोटन मोटा। मोटा हमारी तरफ कम कीमत वाला सर्वजनसुलभ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महीन, कीमती और उच्च वर्ग में प्रयुक्त होने वाले के अर्थ में। बलरामपुर के आसपास कहा जाता है— पहनना मोटा और खाना महीन। यानी पहनना चाहिए मोटा या सामान्य पोशाक लेकिन खाना बहुत अच्छा होना चाहिए। प्रसिद्ध है कि धान पान बाभन और सांप की अनगिनत प्रजातियां होती हैं। इनकी गणना कर पाना मुश्किल है। व्यापारीकरण ने ऐसा कर दिया है कि जो प्रकार ज्यादा पैसा देता है और ज्यादा पैदा होता है उसे छोड़कर बाकी सब प्रजातियां लुप्त हो रही हैं क्योंकि उन्हें पैदा नहीं किया जाता। धीरे धीरे उनके प्रति लोगों की रुचि भी समाप्त

हो जाती है और वे समय के अतल में गायब हो जाती हैं। एक दाल होती थी 'रंगमहलिया'— नन्हीं नन्हीं पीली गुलाबी रंग की। बहुत स्वादिष्ट होती थी। अब नहीं दिखलाई पड़ती। खाली पड़े मैदानों में अनेकानेक अनाम लेकिन सुपरिचित वनस्पतियां उगी रहती थीं। हम उनसे खेलते थे। बच्चों की एक खास आदत होती है कि वे किसी वनस्पति या वस्तु की उपेक्षा नहीं करते। उसे छूते, सूंघते और चखते जरूर हैं। कभी कभी इससे बहुत पीड़ा होती है। दुर्घटनाएं भी हो जाती हैं लेकिन बच्चों का स्वभाव अपनी जगह बना रहता है। तब गांवों में 'भाड़' होते थे। अनाज भूनकर खाए ही जाते थे। बैंगन, परवल, तोरी, कोहड़ा प्रायः सभी सब्जियां भी भूनकर खाई जाती थीं, चोखा बनाकर। तालाब में मछली मारी, वहीं घासफूस में भूनकर नमक मिर्च लगाकर खा लिया, उसका स्वाद भी लाजवाब होता था। भुने हुए बेल, अमरूद का स्वाद आजकल के लोग जानते ही नहीं होंगे। भुनी हुई वस्तुओं में सोंधापन होता है लोग उससे वंचित होते जा रहे हैं। जो खाना जितने ही सादे ढंग से— बाहर की चीजें अनावश्यक मसाले आदि कम से कम डालकर— बनाया जाता है, वह उतना ही स्वादिष्ट होता है। मसाले मांसाहार में अवश्य जरूरी होते हैं। हर क्षेत्र की तरह बलरामपुर में भी भोजन का अन्योन्याश्रित संबंध फसलों से था— जो फसल जब होती थी तब उसके साथ उत्सव या पर्व जुड़े थे— नवान्न वही था। उत्सव पर्व ही नहीं, शादी ब्याह भी फसलों से जुड़े थे, लोक संस्कृति का अंश भी। किसान के पास जब जो चीज बहुतायत से होती है वह उसकी फसल है। वह उसी को नाना प्रकार से बनाकर खाता है। इसकी उपमा नागार्जुन ने एक बार तुलसीदास की कविता से करके बताई। बोले— तुलसीदास ने रामकथा पर ही काव्य रचा लेकिन रामकथा को विविध काव्यरूपों— दोहा, चौपाई, बरवै, कवित्त, सवैया, सोहर, नाट्य, संस्कृत श्लोक, सबमें रचा। जैसे चार गृहस्थिन एक ही अन्न चने की— रोटी, दाल, सब्जी, पकौड़ी, बुंदिया (मिठाई), कढ़ी— सब बना देती हैं। किसान की समस्याएं भी होती हैं। चावल का भात, चावल की रोटी, पूड़ी, चौरैठा, पसावन (मांड़) सब बनता है।

एक बार उज्जैन में मैंने एक युवक अध्यापक से मालवे के लोगों के खाने की आदत की आलोचना करते हुए कहा कि तुम लोग भोजन के साथ दालमोठ नमकीन क्यों खाते हो? इससे पेट खराब होता होगा। उस युवक अध्यापक जगदीश शर्मा ने उत्तर दिया— यह हमारी जातीय संस्कृति का अंग है। फिर उसने कोसांबी को उद्धृत करते हुए कहा कि भोज्य सामग्री जातीय क्षेत्रीय संस्कृति का अंग होती है। जैसे मक्के की रोटी सरसो का साग (पंजाब), मछली भात बंगाल, लिट्टी चोखा बिहार का अंग है इसी तरह बलरामपुर के क्षेत्र की अपनी भोजन विधि वहां की क्षेत्रीय संस्कृति से अभिन्न है। जातीय संस्कृति और क्षेत्रीय में भी अनेक उपसंस्कृतियां होती हैं— अवध में ही मुसहर चूहा खाते हैं, बिहार में तो चूहा, कछुआ, चींटी आदि सब खाए जाते हैं। एक बार नागार्जुन ने ही बताया था— एक दिन मैं (नागार्जुन) गिन रहा था। कुल मिलाकर मैंने 30 जंतुओं का मांस खाया। संख्या इससे आगे नहीं बढ़ी। संख्या आगे न बढ़ने पर बाबा को दुख था।

बलरामपुर छूटने पर— उसके पहले गांव इस तरह नहीं छूटा था— जिन भोज्य पदार्थों की याद बहुत आती है उनमें से एक करेला का भरुआ है। दिल्ली में भी मिलता है, बनता है मगर वो बात कहां। करेले का भरुआ दो प्रकार से बनता है; एक तो सीधे मसाला भरकर तल लेते हैं। दूसरे उसे अंगीठी पर उबालने के बाद तलकर रसा लगाते हैं। अंगीठी पर उबलते समय उसकी खुशबू घर भर में फैल जाती है। मसाला कच्चा नहीं डाला जाता अधजला डाला जाता है। उसे कल्हरना कहते हैं। दूसरे अरुई के पत्ते का सोहिना और टिकवंच। कहने को यह कभी

कभी यहां और अन्यत्र भी बनता है। बलरामपुर में कई दालों और चावल को भिगोकर पीसते हैं और उसमें यथोचित मसाला— अरवी के पत्तों पर फैलाकर, उसपर मसाले को फैलाकर— तलकर या उबालकर टुकड़ों में काटकर फिर तला हुआ या रसा लगाकर खाते हैं। वैसा बनाना थोड़ा श्रमसाध्य है। अरुई के पत्ते का रिकवंच तो बनता ही है। अरुई के पत्ते में हींग खटाई की एक पुड़िया को बीच में रखकर उबालते हैं फिर उसका भुर्ता बनाते हैं। खटाई नहीं— पूर्वी अवध की आम की खटाई— गलका— डालकर बनाते हैं। अम्मा बनाती थीं हम भाई बहन खाते थे तो हम कहते— अम्मा पेटवा भर गया मन नहीं भरा। पेट भर गया। मन नहीं।

इसी तरह कोहड़ा का फूल/कोहड़ा है। संस्कृत में कुष्मांड और बाहर इसे काशीफल कहते हैं। कई और नाम भी हैं। कोहड़ा की मर्यादा बहुत है। यह निहायत नाजुक सब्जी है। देखने में चाहे जितनी मोटी फूली ऊबड़खाबड़ लगे, हिंदी प्रदेश में इसकी सब्जी के बिना कामकाज संपन्न नहीं होता। पूड़ी कचौड़ी के साथ जो स्वाद इसका आता है किसी और का नहीं। बिना प्याज लहसुन डाले पारंपरिक कारीगर जैसा इसे बनाते हैं वह मसाले वगैरह से नहीं बनता। बलरामपुर के आसपास के क्षेत्रों में औरतें इसे नहीं काटतीं। काटने के लिए पुरुष बुलाए जाते हैं। लोक संस्कृति में पर्यावरण की मृदुता और आत्मीयता को मिथकों, अंधविश्वासों और रीतिरिवाज में बदल दिया गया है। दीया औरतें आंचल में लेकर चलती हैं। उसे फूक मारकर नहीं बुझाया जाता। दीया बढ़ाया जाता है बुझाया नहीं जाता। ऐसा नहीं कहते कि दीया बुझाओ। अंधेरा होने के बाद वनस्पतियां खासतौर पर तुलसी (माता) का पत्ता नहीं तोड़ा जाता। यहां तक कि रात में सोते पानी को नहीं जगाया जाता। कुएं तालाब से पानी भरना स्थगित कर दिया जाता है।

कोहड़े की नाजुकी का यह हाल है कि बाबा तुलसीदास ने लिखा—

इहां कुम्हड़ बतिया कोऊ नाही। जो तरजनी देख मुरझाहीं

कोहड़े की बतिया— नन्हा फल— इतना मृदु और नाजुक होता है कि उसकी ओर उंगली का इशारा करो तो वह मुरझा जाता है। शरद में कोहड़ा बहुत फूलता है। कोहड़े की सब्जी तो बनती ही है लेकिन जिस व्यंजन की बात मैं करने जा रहा हूं वह है कोहड़े के फूल की सब्जी। उसकी पकौड़ी बनाकर फूल को तोड़े बिना उसे समूचा हल्का सा तलकर या कल्लारकर उसमें रसा लगाना, यह पूर्वी अवध की खास सब्जी है। कहीं कहीं इसे बोजका भी कहते हैं। वस्तुतः खास सब्जी होने से ज्यादा खास बनाने की विधि है। यह दिल्ली में तो मैंने कहीं खाई नहीं। इस बार गांव गया तो भतीजे ने मेरे लिए बनवाई थी, मैंने नीरज और वेद प्रकाश के साथ खाई। नीरज ने उसकी फोटो खींचकर अपने पास रख ली। कहते हैं कोहड़े के फूल की सब्जी अटल जी को बहुत पंसद थी। कटहल की सब्जी दिल्ली में कम खाई जाती है। पंजाब में लगभग नहीं। बलरामपुर में तला हुआ कटहल मिलता था। कटहल के स्लाइसेज काटकर उसे तला जाता था बेसन में फेटकर। कटहल का अचार भी बनता है। एक सब्जी सरपुतिया है, जो अवध के बाहर बहुत कम मिलती है, बिहार में मिलती है। सरपुतिया भी बहुत नाजुक सब्जी है। केवल शरद में मिलती है। अन्य मौसम में नहीं। शरद में ही एक पर्व होता है— जीवित पुलिका (जिउतिआ) का जिसमें इसे बनाया जाता है। पहले इलाहाबाद में भी मिलता था। अब मुश्किल से मिलता है। बलरामपुर में अभी मिलता है। मेरे गांव में भी।

मिर्च का अचार ठेठ पूर्वी है। मिर्च सबसे प्रिय आहार राजस्थान का है। लेकिन जिस तरह के अचार की बात मैं कर रहा हूं वह ठेठ पूरब में बनता है। इसका मसाला गमकने वाला होता है। इसे मिर्च में भरना आसान काम नहीं। मिर्च की ढेपी उलटकर अलग रखकर मसाले को

सींक से भरा जाता है फिर डेपी लगाकर सील की तरह बंद कर दिया जाता है। मिर्च का अचार बलिया तक में अच्छा बनता है, बलरामपुर में बनता था। फिराक गोरखपुरी इसके बहुत शौकीन थे। कहते थे कि मिर्च का अचार मत कहो। इससे मेरा स्वाद बिगड़ जाता है। कहो मरिचा का अचार। मरिचा कहकर खाने से ही मुझे पूरा स्वाद मिलता है। इसी तरह फिराक साहब केला को केरा कहते थे। वे कहते केरा कहकर खाने से ही मुझे पूरा स्वाद मिलता है। बलरामपुर की अपनी जबान में भी केला को केरा कहते हैं। मेरे गांव बिस्कोहर में भी।

शरद में बलरामपुर के आसपास के गांवों के तालाबों में कुमुद फूलते हैं। माफ करिएगा, इसे फिर दोहरा रहा हूं (कोइयां मुझे बार बार याद आता है।) कुमुद को कोइयां कहते हैं। यह रात में खिलने वाला छोटा सफेद कमल है। यह क्षेत्र फूले हुए कुमुदों से परिपूर्ण तालाबों से जगमगा उठता था। शरद सरस्वती का साक्षात रूप— बिना बोए उगाए प्रकृति का वरदान। हम बच्चे इसे तोड़ते सूंघते चखते। डंठल 'नाला' के साथ इसकी माला बनाकर पहनते। वह हल्की सी पवित्र गंध मानो शरद की गंध हो। उस क्षेत्र को मैं कोइयां के रूप और गंध के बिना याद ही नहीं कर पाता। कार्तिक की चांदनी रात में कोइयां के फूल मानो चांदनी के फूल लगते। मानो चांदनी ही जगह जगह सिमटकर फूल बन गई हो। तालाब का जल, आकाश की निर्मलता, चांदनी की ज्योत्सना— सब आपस में कुछ बातचीत करते— कुछ अस्पष्ट रहस्यपूर्ण, कुछ खुलता कुछ अबूझ।

vxyv v d ea tkjh

nf{k.kh nfu; k] bfrgkl xr oDr vkj ekDI Z

vkfnR; fuxe

कार्ल मार्क्स की 200वीं वर्षगांठ पर प्रख्यात समाज वैज्ञानिक आदित्य निगम ने हमारे विशेष अनुरोध पर यह आलेख तैयार किया है। तद्भव के पाठकों के लिए सादर प्रस्तुत।

Hkfiack

dky/मार्क्स की 200वीं सालगिरह इस साल दुनिया भर में मनाई जा रही है। इन दो सौ सालों में दुनिया ने न मालूम कितने ही उतारचढ़ाव देख लिए हैं। मार्क्स को गुजरे भी अब तो डेढ़ सौ बरस होने को हैं और तब से अब तक न जाने कितने बदलाव हम देख चुके हैं। उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में यूरोप में क्रांति की सारी उम्मीदें ध्वस्त हो चुकी थीं। पूंजीवादी विकास में एक स्थायित्व दिखाई दे रहा था और बड़ी बड़ी श्रमिक पार्टियों के उदय के साथ मार्क्स के अनुयाइयों ने भी शांतिपूर्ण संसदीय रास्तों से बदलाव के ख्वाब देखने शुरू कर दिए थे। दूसरे अंतर्राष्ट्रीय की अधिकांश पार्टियां कार्ल काउत्स्की और एडुअर्ड बर्नस्टाइन जैसे सिद्धांतकारों और नेताओं की रहनुमाई में उस राह पर अग्रसर हो चुकी थीं जिसे उस जमाने में सुधारवादी कहा जाता था।' रोजा लक्संबर्ग जैसे क्रांतिकारी मार्क्सवादी यह मानते थे कि यह रुझान सिर्फ सामाजिक बदलाव के नए रास्ते ही नहीं तलाश रहा था बल्कि वर्ग संघर्ष का रास्ता छोड़कर वर्ग सहयोग के रास्ते पर चल निकला था। उनकी यह बात आखिरकार तब बिलकुल सही साबित हुई जब पहले विश्वयुद्ध की पूर्वसंध्या पर तमाम यूरोप भर में इन सामाजिक जनतांत्रिक पार्टियों ने अपने अपने राष्ट्र और प्रकारांतर से अपने अपने पूंजीपति वर्ग के पीछे खड़े होने का फैसला किया। जंग की मुखालिफत न करके वे जंग में शरीक हो गईं।

और उस जमाने के बाद से लगातार यूरोप भर में मार्क्सवादी पार्टियों की भूमिका एक प्रभावहीन संसदीय विपक्ष की बनी रही। यह भूमिका महज सामाजिक जनतांत्रिक पार्टियों की नहीं बल्कि बाद में बनी कम्युनिस्ट पार्टियों की भी रही जो 1980 के दशक तक आते आते 'यूरो कम्युनिज्म' की तरफ मुड़ गई।²

मगर इसी दौरान बीसवीं सदी के आगाज के साथ ही क्रांति की सुगबुगाहटें दुनिया के अन्य हिस्सों में तेज होने लगी थीं और आखिरकार मुखर होकर रूसी इंकलाब की शक्त में सामने आईं और फिर यकायक दुनिया भर में फैल गईं। दुनिया भर में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में रूसी इंकलाब की चिंगारी पहुंचते ही आग की लपटों की तरह उन्होंने साम्राज्यवाद को घेर लिया और औपनिवेशिक व्यवस्था उसमें झुलसकर चरमराने लगी। चीनी क्रांति, वियतनाम की आजादी, हिंदुस्तान और अफ्रीका के तमाम मुल्कों की एक के बाद एक आजादी—वि-औपनिवेशीकरण (डीकोलोनिजेशन)—का पूरा का पूरा एक सिलसिला ही चल निकला जो नब्बे के दशक में दक्षिण अफ्रीका में 'अपर्थाइड' के अंत के साथ परवान चढ़ा। गौरतलब है कि ज्यादातर उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों में मार्क्सवाद और मार्क्सवाद से प्रेरित दलों की अहम भूमिका रही। इस दरमियान मार्क्सवाद का यूरोप से एशिया, अफ्रीका या लातिन अमरीका की ओर सफर खुद उसके भीतर जिस तरह की तब्दीलियां लाता है वह दिलचस्प हैं। विकसित पूंजीवादी देशों में जहां मार्क्सवाद लगातार कई कोशिशों के बाद भी व्यर्थ ही रहा वहीं 'पिछड़े' देशों में वह अपना क्रांतिकारी किरदार बनाकर रख पाया। कमजकम सतही तौर पर देखने पर तो ऐसा ही लगता है। मगर अगर थोड़ी अधिक गहराई में जाकर देखें तो पाएंगे कि उसका यह क्रांतिकारी रूप पूंजीवाद के बरअक्स नहीं, बल्कि उसके दायरे के 'बाहर' रह गई दुनिया में कौमी आजादी की लड़ाई में दीख पड़ता है। इन देशों में, इन संदर्भों में, मार्क्सवाद औद्योगिक मजदूर वर्ग के दर्शन के रूप में नहीं उपनिवेशवाद विरोध के दर्शन के रूप में सामने आता है—जिस उपनिवेशवाद के बारे में शुरुआती दौर में मार्क्स व एंगेल्स के विचार काफी विवादास्पद थे।³

सही मायने में दक्षिणी दुनिया (जिसे एक दूसरे नजरिए से पूरब या गैर मगरिब या गैर पश्चिम भी कहा जा सकता है) के देशों के नजरिए से बीसवीं सदी की सबसे अहम घटना वि-औपनिवेशीकरण ही थी। दक्षिणी दुनिया के लिए अगर इस सदी का इतिहास राजनीतिक वि-औपनिवेशीकरण का इतिहास था तो पश्चिम/मगरिब/उत्तर के लिए वह सदी दो घातक विश्वयुद्धों और यूरोप भर में फासिज्म के तांडव का इतिहास था। यह भी याद रहे कि दूसरी जंग का अंजाम एक हार चुकी ताकत—जापान—पर एटम बम गिराकर उसके अनगिनत साधारण लोगों की जिंदगियां—आने वाली पीढ़ियों तक के लिए—बर्बाद कर देने से हुआ जिसका शुमार दुनिया के इतिहास की सबसे नीच हरकतों होना चाहिए। लेकिन बात हिरोशिमा या नागासाकी में खत्म नहीं होती—अपना ढहता साम्राज्य बचाने के लिए वियतनाम के निहत्थे साधारण लोगों पर नेपाम की बमबारी और इस तरह की कई और हमलावर कार्रवाइयां लगातार होती जानी थीं।

फिर भी विडंबना यह कि पश्चिम वाले तो ठहरे सभ्य और हम पिछड़े और असभ्य! मगर दिलचस्प बात यह है कि पश्चिम की गुलामी से राजनीतिक रूप से आजाद हुए इन तमाम मुल्कों में ललक तो 'पश्चिम जैसा' बनने की ही थी—चाहे वे मार्क्स के अनुयाइयों की रहनुमाई में चलने वाले समाजवादी देश रहे हों चाहे पूंजीवादी रास्ता अख्तियार करने वाले। पश्चिम से आजाद होकर भी उसकी दिमागी गुलामी सर चढ़कर बोल रही थी। रूस के संदर्भ में स्टालिन

अक्सर कहा करते थे कि 'हमें कुछ दशकों में वह मुकम्मल करना है जो यूरोप ने कई सदियों में किया है'— यानि समाजवादी रास्ता अख्तियार करने से इस बुनियादी बात पर कोई फर्क नहीं पड़ना था कि हमें यूरोप जैसा होना है। एक मायने में बात सोलह आना सही भी थी। यह महज कोई स्टालिनीय विकार नहीं था— क्योंकि मार्क्स के मुरीद यह तो मानते ही थे कि दरअसल पूंजीवाद ही समाजवाद की नींव डालता है और पूंजीवाद के विकास से ही समाज में समाजवाद का 'भौतिक आधार' तैयार होता है। उनकी निगाह में तो यह एक अजीब इत्फाक से ज्यादा कुछ नहीं था कि इंकलाब विकसित पूंजीवादी देशों में न होकर पहले रूस में और फिर दुनिया के सबसे 'पिछड़े' देशों में ही हुआ। रूस को बेशक उस जमाने में 'साम्राज्यवादी' कहा जाता था मगर दरअसल उसका अधिकांश भूभाग पिछड़ा ही नहीं, 'अति पिछड़ा' था और उसका जो यूरोपीय हिस्सा था वह भी विकास के लिहाज से दूर दूर तक यूरोप जैसा नहीं था। खैर, जीत क्योंकि हमेशा जीतने वाले की ही होती है इसलिए रूसी क्रांति के बाद से लेनिन और उनका 'वाद' ही वक्त के साथ मार्क्सवाद के नवीनतम संस्करण के रूप में नवाजा जाने लगा। दुनिया भर के लोगों ने मार्क्सवाद को मार्क्स के लेखन और उनकी किताबों के जरिये नहीं बल्कि रूसी क्रांति और लेनिनवाद के जरिये जाना। नया लेनिनवादी सिद्धांत यह कहता था कि साम्राज्यवाद के उदय के बाद से पूरी दुनिया अब चूंकि एक विश्व साम्राज्यवादी जंजीर में बंध चुकी है इसलिए अब इंकलाब वहां होगा जहां इसकी सबसे कमजोर कड़ी होगी। 'कमजोर कड़ी' का अर्थ बाद में फ्रांसीसी दार्शनिक लुई अल्थुसे ने कुछ इस तरह समझाया : वही कड़ी कमजोर साबित होगी जहां उस युग के तमाम अंतर्विरोध एक साथ मौजूद हैं और आपस में टकराते हुए एक 'विस्फोटक एकता' में बंध जाते हैं। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों का रूस वो देश था जहां एक साथ दुनिया भर के तमाम अंतर्विरोध मौजूद थे। (अल्थुसे 1969, देखें अध्याय 3 और 6)

कहा जा सकता है कि यह मार्क्सवाद का पहला दक्षिणी संस्करण था जिसमें क्रांति और सामाजिक विकास का मूल कारक आर्थिक नहीं राजनीतिक था। आर्थिक आधार पर उन्नत देश, समाज ही दुनिया को राह दिखाएंगे इस मान्यता को इससे कुछ हद तक चुनौती मिली। माओ त्सेतुंग ने इसी तर्क को और आगे बढ़ाते हुए न सिर्फ किसानों को 'पिछड़े' देशों की मूल क्रांतिकारी ताकत के रूप में पहचाना बल्कि शहरों को गांवों से घेरकर आजाद करने की भी अपनी तजवीज पेश कर दी। माओ में कुछ हद तक पश्चिम के मॉडल से चीन को आजाद करने की इच्छा जरूर दिखाई देती है मगर चूंकि उसके तमाम पहलुओं पर गहराई से सोचा नहीं गया इसलिए अंततः 'ग्रेट लीप फॉरवर्ड' जैसे उनके कदम एक अपार त्रासदी बनकर रह गए— चिंतन के स्तर पर नया कुछ नहीं दे पाए। आखिरकार, माओ की भी मुराद एक अन्य रास्ते से यूरोप के वर्तमान तक पहुंचने की ही थी। बुनियादी तौर पर जिस मंजिल तक पहुंचना है उसके बारे में कभी सोचा ही नहीं गया। लिहाजा मार्क्सवाद का यह दक्षिणी संस्करण भी अधूरा ही रह गया। गोया सबको वही सब करने की आजादी चाहिए थी जो यूरोप कर रहा था : सोचने समझने का सारा काम तो यूरोप ने एकबारगी सारी दुनिया के लिए कर ही दिया था, अब बस हमें सिर्फ रणनीतिज्ञों की जरूरत ही तो शेष रह गई थी। यही दक्षिणी मार्क्सवाद की सबसे बड़ी खामी थी मगर यह फिलहाल हमारी चर्चा का विषय नहीं है— यहाँ, इस बहस को हम अन्य किसी मौके के लिए छोड़ते हैं।

बहरहाल, 1989 से सोवियत संघ समेत समाजवादी देशों का जो पतन शुरू हुआ उससे अधिसंख्य मार्क्सवादी सिद्धांतकार सकते में आ गए। इस घटनाक्रम को कैसे समझा जाए? अब इसकी व्याख्या करते हुए बहुत से सिद्धांतकार फिर एक बार मार्क्स की ओर लौटे और उनमें

से कइयों ने तो यह भी कहना शुरू किया कि समाजवाद चूंकि पूंजीवाद द्वारा निर्मित भौतिक आधार पर ही खड़ा हो सकता है इसलिए एक पिछड़े समाज में इंकलाब का होना ही गलत था, या अगर गलत नहीं तो संयोग भर था। अक्सर यह कहा जाता था कि अगर किसी ऐतिहासिक संयोग या मजबूरी के चलते ऐसे समाजों में क्रांति करनी ही पड़े तो उससे यह उम्मीद करना कि आप इतिहास के नियमों को लांघकर समाजवाद की ओर आगे बढ़ पाएंगे खामखयाली के सिवा कुछ नहीं है।⁴ दूसरे शब्दों में, औद्योगीकरण के जरिये पूंजीवाद की नींव रखने के पवित्र कर्तव्य को अंजाम दिए बिना समाज विकास की सीढ़ी लांघकर जाने के मंशा ही गलत है, ऐसा इन सिद्धांतकारों का मानना है। पश्चिम बंगाल में 2006 और 2007 के दरमियान वाम मोर्चे की सरकार के समय में घटी सिंगुर व नंदीग्राम की घटनाओं के पीछे यही विचार था : याद करें तब के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य का वो बयान जिसमें वे कहते हैं कि अगर कृषि की जगह उद्योग नहीं ले लेता तो 'इतिहास का अंत' हो जाएगा। (मेनन व निगम 2007 : 106) यही सोच नेपाल के प्रखर माओवादी नेता और राष्ट्रपति प्रचंड के उद्योगपतियों को दिए गए अभयदान में भी दीख पड़ती है जो उन्होंने चुनाव जीतने के फौरन बाद दिया था। इस बयान में उन्होंने कहा था कि माओवादी पूंजीवाद के खिलाफ नहीं हैं बल्कि सामंतवाद का खात्मा करना चाहते हैं। (इकोनोमिक टाइम्स 2008) मार्क्सवादी अर्थशास्त्री और चिंतक प्रभात पटनायक के पिछले कुछ सालों के लेखन में भी यही बात दिखाई देती है। (पटनायक 2008)

‘f i NMki u* vks ^vrhr* dk l oky

ऊपर की चर्चा से यह तो साफ हो ही जाना चाहिए कि 'पिछड़ापन'— जिसे आम तौर पर अतीत का 'अवशेष' माना जाता है— मार्क्सवादियों के लिए हमेशा एक परेशानी का बायस रहा है। दरअसल यह परेशानी सिर्फ मार्क्सवादियों की नहीं बल्कि तमाम आधुनिकतावादियों की है। ऊपर मैंने एक जगह यह दावा किया है कि असल में पूर्व औपनिवेशिक समाजों में आजादी का अर्थ राजनीतिक आजादी हासिल करने तक ही सीमित रहा और यह मान लिया गया कि आजाद होने के बाद जो करना है उसका नक्शा तो यूरोप में आधुनिकता के आगमन के साथ तय हो ही चुका है, जिसे हद से हद अपनी जरूरत के हिसाब से थोड़ी बहुत तरमीम के साथ हर समाज को लागू करना ही है। अर्थात् हमें एक 'औद्योगिक सभ्यता' कायम करने की ओर आगे बढ़ना है और उस ओर बढ़ने का रास्ता क्या है वह भी कमोबेश तय ही है। ऐसा सोचने वाले सब के सब मार्क्सवादी हरगिज नहीं थे— इनमें तमाम रंगों के आधुनिकतावादी और राष्ट्रवादी शामिल थे।

इन जीवन शैलियों के बारे में आम तौर पर दो तरह के नजरिए देखने को मिलते हैं। पहला वह जो हाल में आजाद मुल्कों के राजनेताओं और चिंतकों की सोच पर लगातार हावी रहा है, यह मानता है कि ये जीवनशैलियां चूंकि अतीत का अवशेष मात्र हैं इसलिए इनका खात्मा या उन्मूलन लाजिमी है। अलबत्ता, ऐसा करने के लिए किस रफ्तार से बदलाव किए जाएं और उनमें किस हद तक हिंसा का इस्तेमाल हो, इस पर कुछ मतभेद जरूर दिखाई देते हैं। अकादमिक स्तर पर 1950-60 के दशकों में लोकप्रिय 'मॉडर्नाइजेशन थ्योरी' के पैरोकार तो ऐसा मानते ही थे, तमाम अन्य प्रकार के राष्ट्रवादी राजनेता और चिंतक भी ऐसी ही सोच रखते थे। लगभग आम राय से आधुनिकीकरण— जिसके मायने यूरोप की तर्ज पर अपने समाजों को ढालने से ज्यादा कुछ न थे— सारी दुनिया का मंजिल ए मकसूद बन चुका था। दरअसल,

इस नजरिए को मानने वाले दो तरह के लोग थे जो आज भी हैं। एक वो हैं जिनमें तमाम रूढ़िवादी मार्क्सवादियों से लेकर नव उदारवादी शामिल हैं— जो यह मानते हैं कि इन अतीत की जीवनशैलियों का उन्मूलन लाजिमी है और दुनिया की प्रगति के लिए आज अगर कुछ लाख (या कुछ सौ लाख) लोगों की बलि चढ़ानी पड़े तो यह कीमत चुकाना जरूरी है। ऐसा ही कुछ बुद्धदेव भट्टाचार्य के दिमाग में भी था जब वे अपने औद्योगीकरण के रास्ते पर अग्रसर हुए। 1990 के दशक में नव उदारवाद के उदय के साथ इस नजरिए के पैरोकारों को नई ताकत मिली है। मगर इस नजरिए के पैरोकारों की एक दूसरी किस्म भी है जो यह मानती है कि हालांकि यह सही है कि ये पारंपरिक जीवनशैलियां अतीत की अवशेष हैं, फिर भी किसी को यह हक नहीं कि उन्हें इतिहास और प्रगति के नाम पर रौंदकर तबाह कर डाले। आजादी के बाद भारत जैसे कुछ देशों ने कमोबेश इस तरह के विचार के मद्देनजर वो रास्ता अपनाया था जिसे अंतोनियो ग्राम्शी के पद का अनुसरण करते हुए 'पैसिव रेवोल्यूशन' या 'निष्क्रिय क्रांति' कहा गया। वैसे तो ग्राम्शी के इस विचार के पीछे यह मान्यता थी कि जिन समाजों में पूंजी अपेक्षाकृत कमजोर है और 'सामंती' ताकतें मजबूत, वहां सीधे सीधे प्राक पूंजीवादी जीवन शैलियों का खात्मा करके आगे बढ़ने के बजाए आहिस्ता आहिस्ता पुराने उत्पादन के रिश्तों की जगह नए पूंजीवादी रिश्ते स्थापित करना जरूरी है। जाहिर है, यहां पर नजरिए का और कोई बुनियादी फर्क नहीं है— सिर्फ पूंजी की कमजोरी के चलते यह रास्ता चुना गया था। कम अज कम ग्राम्शी के सिद्धांत की समझ का आधार तो यही था। यह दीगर बात है कि इन समाजों के नेतृत्व के नजदीक समस्या यह भी थी कि पारंपरिक ढांचों से सीधे सीधे टकराना और उसे उखाड़ फेंकने का नतीजा व्यापक हिंसा के रूप में सामने आता। लिहाजा बीच का रास्ता निकालने की कोशिशों की गईं— वो चाहे भारत के जवाहरलाल नेहरू हों, या फिर केन्या के जोमो केन्याटा, या तंजानिया के जूलियस न्येरेरे, सभी कमोबेश पूंजीवाद और समाजवाद के बीच एक 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' जैसी राह ढूंढ़ रहे थे। इसे भारत में 'समाजवादी आकार का समाज' ('सोशलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसायटी') कहा गया तो अफ्रीका में 'अफ्रीकी सोशलिज्म' का नाम दिया गया। कम से कम हिंदुस्तान में इस रास्ते को अपनाने के पीछे बुनियादी तौर पर दो कारण थे। एक तो यह कि वह पुरानी या पारंपरिक जीवनशैलियों पर सीधे सीधे हमला कर के उखाड़ फेंकने के पक्ष में नहीं था। दूसरे, वह आर्थिक विकास और संचयन के नाम पर सब कुछ सीधे सीधे पूंजीपतियों के सुपर्द करने को भी राजी नहीं था और जमीन से बेदखली भी जितनी राज्य के प्रकल्पों के लिए जरूरी समझी गई उतने तक ही सीमित रखने के पक्ष में था। आज भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो यह मानते हैं कि आधुनिक विकास हर कीमत पर जरूरी है मगर इसे कम से कम हिंसा के साथ अंजाम दिया जाना चाहिए। और जाहिर है कि 'हर कीमत पर' के मायने यहां और कुछ नहीं पारंपरिक जीवनशैलियों का खात्मे की कीमत की बात ही है।

अकादमिक दुनिया में इस सोच की एक जमाने में काफी आलोचना हुई— खासकर इस बाबत कि आधुनिकता और परंपरा के बीच इस तरह की रेखा खींचना बिलकुल नाजायज है क्योंकि एक गहरे अर्थ में आधुनिकता और पूंजीवाद के आविर्भाव के बाद से सब कुछ इस कदर बदल गया है कि खालिस परंपरा नाम की कोई चीज कहीं बची ही नहीं है। मशहूर मार्क्सवादी इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम व टेरेंस रेंजर (1992) ने अपनी किताब 'द इन्वेंशन ऑफ ट्रेडिशन' में यह दिखाया कि किस तरह दुनिया भर में 'परंपरा' आधुनिकता के आईने में नित नए ढंग से ईजाद की जाती है। मगर इससे भी और बहुत पहले, 1960 के दशक में ही, आर्थिक विकास के संदर्भ में लातिन अमरीका के 'डिपेंडेंसी स्कूल' के आंद्रे गुंदर फ्रैंक जैसे सिद्धांतकारों ने यह

आलोचना रख दी थी कि 'नाकाफी विकास' ('अंडर डेवलपमेंट') महज विकास का अभाव नहीं है बल्कि विश्व पूंजीवाद के एक छोर पर हो रहे विकास का ही असर है। (गुंदर फ्रैंक 1969) लिहाजा जिसे अक्सर 'परंपरागत' आर्थिक ढांचा समझा जाता है वह अब काफी हद तक बदल चुका है। सांस्कृतिक अर्थ में तो नहीं मगर आर्थिक रूप से जरूर, इन विद्वानों ने यह तर्क पेश किया कि खालिस 'प्राक पूंजीवादी' या 'प्राक आधुनिक' अब कुछ भी नहीं है। इम्मानुएल वालरस्टाइन ने इसी समझ को और आगे बढ़ाते हुए 'पूंजीवादी विश्व व्यवस्था' की अपनी धारणा रखी जो यह दावा करती थी कि पूंजीवाद के उदय के बाद से गैर पूंजी या प्राक पूंजी नाम की कोई चीज नहीं बची है क्योंकि वह सब अब विश्व पूंजीवादी बाजार द्वारा नियंत्रित हैं। (हॉपकिंस व वालरस्टाइन 1980)

इसी तरह की आलोचनाओं से निकलता है वह दूसरा नजरिया जो यह मानता है कि जिन जीवनशैलियों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे भी दरअसल आधुनिक ही हैं क्योंकि वे आधुनिकता से अछूती नहीं हैं। यह तर्क दरअसल अच्छी मंशा रखते हुए भी एक ऐसे अन्य तर्क से जुड़ा है जिसे थोड़ा विस्तार से समझने की जरूरत है। इस तर्क के मुताबिक आधुनिकता और पूंजीवाद, दोनों ही वैश्विक परिघटनाएं हैं और शुरू से ही दुनिया के हर कोने में फैल जाते हैं। मगर ये सिर्फ अपने फैलाव में वैश्विक नहीं हैं बल्कि सार्विक (युनिवर्सल) भी हैं— यानी उसका एक आदर्शगत पहलू भी है, क्योंकि उसी के जरिये अब तक बिखरी हुई, संकीर्ण जीवनशैलियों की जगह एक नई, आधुनिक जिंदगी वजूद में आती है जो इन अब तक 'इतिहासविहीन' रहे लोगों को इतिहास के दायरे में खींचकर ले आती है। यह कोई नया दावा नहीं है। याद करें मार्क्स व एंगेल्स का कम्युनिस्ट घोषणापत्र में वह दावा जहां पूंजी के विश्व विजय अभियान का बखान किया गया है जिसमें वे कहते हैं कि 'अपने माल को बेचने के लिए पूंजीपति वर्ग की नित नये बाजार की जरूरत सारी दुनिया में उसका पीछा करती है...पूंजीपति वर्ग बिना उत्पादन के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए अपना वजूद बचा नहीं सकता'। इसी तर्ज पर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि 'दुनिया भर में वह अपने सस्ते पण्यों की धुआंधार बमबारी से तमाम संकीर्णताओं की दीवारें गिरा देता है।' इस तरह वे आने वाले वक्त में रूढ़ हुए इस विचार की नींव रखते हैं जो यह मानती है कि पूंजी न सिर्फ विश्वव्यापी है और सार्विक है बल्कि सर्वग्रासी भी, जिसके बाहर अब कुछ नहीं बचता क्योंकि वह सब कुछ अपने भीतर समेट लेता है।

पहले नजरिए की एक दूसरी आलोचना दार्शनिक स्तर पर रखी गई— आधुनिकता के 'इतिहासगत वक्त' (हिस्टोरिकल टाइम) की अवधारणा के खिलाफ। इतिहासगत वक्त यानि इतिहास की एकरेखीय अवधारणा की बुनियाद है जो वक्त का ख्याल— और जिस पर टिकी है 'प्रगति' की संकल्पना जो उस एकरेखीयता को वास्तविक रूप देती है, और जिसके चलते समाज की निरंतर प्रगति अपने आपमें एक मूल्य बन जाती है। इस नए/आधुनिक तसव्वुर के चलते समाजों और जीवनशैलियों को उसी आधार पर आंका जाता है और उसी आधार पर यह तय किया जाता है कि कौन कौन सी जीवनशैलियां आधुनिक और बचने के काबिल हैं और कौन सी अतीत का अवशेष मात्र हैं— जिसकी हम ऊपर चर्चा कर रहे थे। इस आलोचना ने इस पूरे के पूरे तसव्वुर को ही चुनौती देते हुए कुछ बुनियादी सवाल उठाये हैं। उसने यह सवाल खड़ा किया है कि यह कब और कैसे तय हुआ कि जो जीवनशैलियां हमारी समकालीन हैं, जो आज हमारे बीच मौजूद हैं, वे 'दरअसल' किसी अतीत के अवशेष हैं? जाहिर है कि ऐसा तय होना एक बड़े ज्ञानमीमांसीय परिवर्तन का ही परिणाम है जिसमें हम सब आधुनिक लोग

कमोवेश शरीक हैं। खुद हमारे देश में आशिस नंदी जैसे कुछ बुद्धिजीवियों ने यह बात 1980 के दशक में पुरजोर तरीके से रखी थी। (नंदी 1992) योहान्नेस फाबियान ने अपनी किताब 'टाइम एंड द अदर' में इसे 'समकालीनता का नकार' कहा। एक मायने में यह आलोचना पुरानी जीवनशैलियों की समकालीनता का पुरजोर दावा करती है और सिरे से आधुनिक इतिहासगत वक्त के खयाल को खारिज करती है। (फाबियान 2002)

जाहिर है कि यह दार्शनिक आलोचना अपने भीतर कई मुक्तिकामी इमकान लेकर सामने आती है। इसी के बूते पर तो आज के आदिवासी या इंडिजिनस लोगों का बराबरी और समकालीनता का दावा खड़ा होता है। इसी विचार के आधार पर ही आज हम पूंजीवाद की भी नए सिरे से आलोचना रख सकते हैं जो महज उस मजदूर वर्ग पर केंद्रित नहीं है जिसे अपने पुश्तैनी पेशों और जमीनों से बेदखल कर के 'सर्वहारा' में तब्दील किया जा चुका है बल्कि उन आबादियों की तरफ से भी हैं जिनकी बरबादी करके ही पूंजीवाद अपना स्वरूप पाता है।

इस आलोचना के असर में, और पहले नजरिए के खिलाफ, यह दावा भी कई उत्तर औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों की तरफ से पेश किया गया कि 'हम सब आधुनिक हैं'— क्योंकि हम सब एक ही आधुनिक वक्त में जीते हैं। मगर इस दावे के साथ भी कुछ अन्य परेशानियां खड़ी हो जाती हैं।

D; k ge l c vkekdud g&

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पहले नजरिए की दो किस्म की आलोचनाएं सामने आई हैं— एक समाज वैज्ञानिक आलोचना और दूसरी फलसफाई या दार्शनिक। समाज वैज्ञानिक आलोचना यह कहती है कि चूंकि आधुनिकता और पूंजीवाद ग्लोबल परिघटना हैं इसलिए तकरीबन 16वीं सदी से ही इन्होंने पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। जहां विश्व पूंजीवादी बाजार अब सारी दुनिया भर की अर्थ व्यवस्थाओं को नियंत्रित करता है वहीं आधुनिक राष्ट्र राज्य और उन्हें संचालित करने वाला ज्ञान और आधुनिक संस्थाएं अब हमारे सारे आचरण को नियंत्रित करती हैं। लिहाजा, अब न तो पूंजीवाद के बाहर कुछ है न आधुनिकता के। जिन्हें हम पारंपरिक या प्राक आधुनिक चलन या जीवनशैलियां माने बैठे हैं वे सभी दरअसल अब आधुनिकता और पूंजीवाद के अक्स में ढल चुके हैं। इस दावे से जहां एक तरफ हमारी दावेदारी बढ़ती है और समकालीनता के बूते पर हम बराबरी का दावा कर सकते हैं, वहीं दूसरी तरफ वह एक दूसरी समस्या खड़ी कर देता है जिस पर थोड़ा गौर करने की जरूरत है।

अपनी बात थोड़ा और साफ करने के लिए मैं एक मिसाल लेना चाहूंगा। यह मिसाल है दीपेश चक्रवर्ती की किताब 'प्रोविंशलाइजिंग यूरोप' से। यहां वे रणजीत गुहा (1983) की किसान विद्रोहों पर विस्तृत चर्चा का विश्लेषण करते हैं— खास तौर पर गुहा द्वारा हॉब्सबौम के किसान विद्रोहों पर रखी गई उस थीसिस का कि ये विद्रोह अमूमन प्राक राजनीतिक थे। उद्धरण इस प्रकार है :

“गुहा का तर्क यह है कि इस आधुनिकता में जो कुछ भी 'पारंपरिक' दिखता था वह उसी हद तक पारंपरिक था जिस हद तक उसकी जड़ें प्राक औपनिवेशिक वक्त तक जाती थीं मगर वे किसी भी सूरत में अचल होने के अर्थ में प्राचीन नहीं थे। यह एक राजनीतिक आधुनिकता थी जिसे अंततः एक फलते फूलते चुनावी जनतंत्र को जन्म देना था, उस सूरत में भी जब 'अवाम के जीवन के व्यापक क्षेत्र और चेतना' किसी किस्म की 'बुर्जुआ वर्चस्व'

के दायरे के बाहर ही रह गए थे।' (चक्रवर्ती 2000 : 15, जोर हमारा)

मैंने यहां उस वाक्य पर जोर देना चाहता हूँ जहां दीपेश कहते हैं कि 'यह एक राजनीतिक आधुनिकता थी जिसे अंततः एक फलते फूलते चुनावी जनतंत्र को जन्म देना था।' इससे कुछ ही पन्ने पहले दीपेश हमें 'नागरिक रूपी किसान' के अपने पद से अवगत करा चुके हैं और बता चुके हैं कि 'गुहा का बयान इस कर्ता को आधुनिक के रूप में पहचानता है' और 'किसानों के राजनीतिक आचरण और चेतना को प्राक राजनीतिक मानने से इंकार करता है।' (वही : 13) मगर हमें क्यों मानना चाहिए कि यह नागरिक रूपी किसान आधुनिक है? दीपेश कहते हैं : 'क्योंकि जिस राजनीतिक वृत्त में किसान और उसके आका शिरकत करते हैं वह आधुनिक था।' (वही : 12)

मैंने यह उद्धरण यहां यह बताने के लिए दिया है कि दरअसल इस तरह के तर्क का यही खास अंदाज होता है : एक बार आप ने आधुनिकता के दायरे में कदम रख दिया तो फिर उसके बाद आप आधुनिक के सिवा कुछ नहीं हो सकते। यह विचार हमारे लिए बड़ा सुकूनदेह हो सकता है कि अब 'हम' सब सम सामयिक हैं मगर वास्तव में एक किसान के या आदिवासी की जिंदगी में क्या बदला? उनके हालत? उनकी सोच? उनका आचरण? दरअसल कुछ भी तो नहीं बदला है। अगर इस नजरिए के पैरोकारों पर आप थोड़ा दबाव डालेंगे तो वे आप से कहेंगे कि 'हम सब आधुनिक तो हैं मगर अलग अलग ढंग से।' यह अलग ढंग क्या है सिवाय पुराने, पारंपरिक तौर पर चले आ रहे रहने सोचने के तौर तरीकों के जो थोड़े बहुत फेरबदल से साथ उनके तथाकथित आधुनिक होने में भी बने रहते हैं? यह जानना दिलचस्प होगा कि हमारे इस दावे के बावजूद, कितने किसान या आदिवासी खुद को उस अर्थ में 'आधुनिक' मनाने को तैयार होंगे जिस अर्थ में दिल्ली के विश्वविद्यालयों का कोई शिक्षक आधुनिक होगा।

जिस वक्त की बात रणजीत गुहा कर रहे थे (यानी औपनिवेशिक काल के आदिवासी व किसान विद्रोह का समय) और जिस वक्त की बात दीपेश चक्रवर्ती कर रहे हैं (यानी आजादी के आसपास का समय जब एक चुनावी जनतंत्र की नींव डाली गई), दोनों ऐसे जमाने थे जब आदिवासियों और किसानों की तरफ से आधुनिकता के दावे कुछ मुक्तिकामी आशय जरूर लिए हुए थे। मसलन आजादी के समय यह तर्क रखना कि भारत जैसे देशों में तथाकथित 'पिछड़ी' और निरक्षर आबादियों की बहुलता के चलते यहां जनतंत्र स्थापित ही नहीं हो सकता है, न सिर्फ गलत होता बल्कि उस जमाने में यह बात अंग्रेज औपनिवेशिक शासक के सुर में ही सुर मिलती। मगर इस तर्क के जो अन्य परिणाम होने थे वो शायद इतने दशकों बाद लिख रहे दीपेश चक्रवर्ती की निगाह से भी ओझल ही रहे।

आखिरकार, यह बात तो तकरीबन तय ही मान ली गई थी और है कि आधुनिकता और पूंजीवाद, इन्हें जिस रूप में हम समझते हैं, पूरी तरह यूरोपीय ईजाद हैं। इनका गैर यूरोपीय समाजों में रोपण कोई सीधी और आसान बात नहीं थी— न आज है। खासकर ऐसे समाजों में जहां एक प्राक पूंजीवादी परंपराएं मौजूद थीं और जहां अमरीका या ऑस्ट्रेलिया आदि देशों की तरह स्थानीय आबादियों का सफाया नहीं कर दिया गया। इन समाजों में यह कहना कि 'हम सब आधुनिक हैं' क्या मायने रखता है? क्या मायने रख सकता है? इस लेख में मेरा यह तर्क है कि इस किस्म का दावा हद से हद एक प्राथमिक इशारा भर हो सकता था— अर्थात् कहानी की शुरुआत मात्र, उसका अंत नहीं। असली बात इसके बाद शुरू होती है।

यहां समस्या यह है कि अगर यह मान भी लिया जाए कि जिस राजनीतिक वृत्त में हम सब शिरकत करते हैं वह आधुनिक है, तो भी इससे यह नतीजा नहीं निकलता है कि इसलिए

हम सब आधुनिक हो गए हैं। यह सही है कि हमें चुनावों/चुनावी जनतंत्र से लेकर आधुनिक राष्ट्र राज्य के तमाम इदारों के दायरे में रहकर अपने चलन और अपने जीवन को ढालना पड़ता है, मगर इससे हम आधुनिक हरगिज नहीं हो जाते। मसलन जाति का सवाल ही लें तो क्या हम कह सकते हैं कि हम जातिगत सोच और चालचलन से उबर पाए हैं? आज की तारीख में भारतीय समाज में दलितों पर हो रहे रोजाना जुल्म में आधुनिकता का असर जरूर है क्योंकि आज सवर्णों में बेचैनी इस बात को लेकर ज्यादा है कि दलितों में आत्म विश्वास बढ़ा है, वे कई जगह ऊंची जातियों के लोगों के सामने सर उठाकर चलने लगे हैं, और सबसे बड़ी बात यह कि आज हमारे जीवन में दिशा निर्देश के लिए कोई मनुस्मृति नहीं एक आधुनिक संविधान है। मगर इसके बावजूद क्या यह कहा जा सकता है कि ऊंची जातियों द्वारा ढाए जा रहे जुल्म के पीछे प्राक आधुनिक सोच और चालचलन की कोई भूमिका नहीं है? जाहिर है ऐसा दावा कर्त्तई गलत होगा।

दरअसल परंपरा बनाम आधुनिकता का द्वैत हमें हमेशा एक या दूसरे को चुनने के लिए मजबूर करता है जबकि हकीकत यह है कि हमारे पास परंपरा और आधुनिकता के अलग अलग किस्म के घोल मौजूद होते हैं— किसी में परंपरा का एक पहलू और आधुनिकता का एक अन्य पहलू साथ साथ मौजूद है तो किसी में किन्हीं अन्य पहलुओं का घोल होता है। और चूंकि आधुनिकता का आदर्श— पूंजीवाद की ही तरह— एक यूरोपीय ईजाद है इसलिए यह घोल हमेशा एक अजीबो गरीब किस्म की शकल में सामने आता है।¹ हमारे जैसे समाज हमेशा उसकी कसौटी पर कुछ कमतर ही पाए जाते हैं। उस आदर्श के आइने में देखें तो पाएंगे कि हमारी आधुनिकता तो अधूरी है ही, हमारा सेकुलरिज्म भी भौंडा है, हमारा जनतंत्र अधिकचरा है, हमारा विकास अवरुद्ध है, यहां तक कि हमारा पूंजीवाद भी रुका हुआ है। इस स्थिति से उबरना हमारे जैसे समाजों के लिए तकरीबन नामुमकिन सा हो जाता है। इसी वजह से हमें अक्सर आधुनिकता और परंपरा के ऐसे भौंडे सम्मिश्रण देखने मिलते हैं जिन्हें हम न तो परंपरा ही कह सकते हैं और न आधुनिकता।

बहरहाल, मेरा सवाल यहां कुछ अलग है। मसला यहां दरअसल यह है कि जब हम यह मानने लगते हैं कि पूंजीवाद और आधुनिकता दरअसल सर्वग्रासी (टोटलाइजिंग) हैं और इनकी जकड़ से आजाद कुछ भी नहीं है तब हमें हर चीज में, हर नई परिघटना में इनकी ही कारिस्तानी दिखाई देने लगती है। इनके खिलाफ प्रतिरोध का या लड़ाई का कोई मुकाम ही दिखाई देना बंद हो जाता है। अब कोई यह भी पूछ सकता है कि पूंजीवाद के खिलाफ लड़ने की बात तो समझ में आती है मगर आधुनिकता के खिलाफ कोई क्यों लड़े? आधुनिकता ने किसी का क्या बिगाड़ा है? बल्कि उसने तो हमें व्यक्ति की स्वायत्तता और उसके अधिकारों की जरूरत से अवगत कराया है और पुराने दकियानूसी खयालों से आजाद कराया है। बेशक यह बात सही है मगर उतनी सीधी और सरल भी नहीं है। आज हम जिन बहुत सी बातों के लिए पूंजीवाद की आलोचना करते हैं उनकी जिम्मेदारी सामान रूप से आधुनिकता के दर पर भी आन पड़ती है। मसलन, पुरानी जीवनशैलियों को अतीत के अवशेष के रूप में देखना जिस वक्त के तसब्बुर से निकलता है और जिसके साथ प्रगति का विचार अकाट्य ढंग से जुड़ा है वह पूंजीवाद की देन नहीं है बल्कि आधुनिकता की फलसफाई विरासत है। इसी तरह पूंजीवाद का सैद्धांतिक आधार तैयार करने में आधुनिक राजनीतिक और नैतिक दर्शन का बुनियादी योगदान है जिसने यह बात स्थापित कर दी कि प्रकृति के नजदीक रहने वाले, थोड़े में गुजारा करने वाले लोगों की जिंदगी जंगली/असभ्य और तर्कवाद विरोधी (इर रैशनल) है और सभ्यता व तार्किकता की

मांग है कि कुदरत ने जो कुछ हमें दिया है हम उसका दोहन करके लगातार नई दौलत पैदा करें। जॉन लॉक इस तरह के दर्शन के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, जिस फलसफे से व्यक्ति और उसके हक प्रतिष्ठित होते हैं उसकी भी बुनियाद व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार ही है जिससे स्वामित्व बोधक व्यक्तिवाद पैदा होता है। पूंजीवाद के इस्तेमाल के लिए तमाम कुदरत की देन को— जमीन समेत— एकबारगी खरीद फरोख्त के लिए तैयार करने के लिए उसका सेकुलरीकरण और वि अध्यात्मिकरण जरूरी था, और यह काम भी पूंजीवाद ने मुकम्मल नहीं किया, आधुनिकता ने ही किया।

मगर सबसे अहम एक सवाल अब भी बाकी है। इस सारी बहस से ऐसा लग सकता है कि आज की दुनिया के हर अच्छे बुरे के लिए यूरोप ही जिम्मेदार है और जो कुछ पिछले तीन सौ सालों में पैदा हुआ वह वहीं हुआ। लिहाजा एक बार पूंजीवाद और आधुनिकता के अलग अलग इतिहास और उनके आपसी रिश्ते को समझना जरूरी हो जाता है।

व्यक्तिगत विकास की इतिहास

इतिहासगत वक्त की एकरेखियता का एक पहलू यह भी है कि वह हमारे सामने इतिहास को एक सीधी लकीर की मानिंद पेश करता है और हमें हर चीज अपने जन्म से, अपनी उत्पत्ति से लेकर अपने बालिग स्वरूप तक एक 'क्रमविकास' के रूप में दिखाई देती है। मगर चीजें इतनी सरल और सपाट होती नहीं हैं। पिछले कुछ सालों के नए इतिहास शोध ने इस बाबत कई सवाल हमारे लिए फिर खोलकर रख दिए हैं। आधुनिकता की यूरो केंद्रिक समझ के बरअक्स यह नया शोध दिखाता है कि आधुनिकता का जन्म एक ही लम्हे में, यूरोप के नवजागरण या फिर प्रबोधन के साथ नहीं हुआ। ऐसा कतई नहीं था कि अचानक 14वीं सदी में यूरोप में नई रोशनी आई जो 18वीं सदी के प्रबोधन में आकर परवान चढ़ी और जिसके जरिये दुनिया आधुनिकता को प्राप्त हुई। ऐसा नहीं है कि यूरोप की आलोकप्राप्ति से पहले सारी दुनिया ही अंधेरे में डूबी थी। बल्कि सचाई इसके बिलकुल उलटी है। 8वीं सदी से 12वीं सदी तक तमाम अरब के इलाकों में विज्ञान और दर्शन फलफूल रहा था और यह माना जाता है कि वह उसका का स्वर्ण युग था। विज्ञान के क्षेत्र में उस जमाने में जो हैरतगंज खोजें हुई थीं वे जॉन होब्सन (2004) और जॉर्ज सालिबा (2007) के काम में सविस्तार दर्ज हुई हैं। इनसे हमें पता चलता है कि कोपरनिकस जैसे वैज्ञानिक किस हद तक अरब विज्ञान से मुतास्सिर थे। अन्य शोधों से यह भी पता चलता है कि 5वीं सदी के भारतीय गणित, शून्य की खोज और उसके साथ दशमलव पद्धति के जन्म ने किस तरह 8वीं सदी में अरब विद्वानों के जरिये अरब बौद्धिक जगत में प्रवेश किया और 11वीं / 12वीं सदी में जाकर कहीं यूरोप में ग्रहण किया गया और उसके भी कुछ सदियों बाद आम चलन में आने के बाद उसने कई क्रंतिकारी असर पैदा किए। अल फराबी, इब्न सिना और इब्न रुशद जैसे कद्दावर दार्शनिकों के काम ने पश्चिमी दुनिया में दर्शन के जगत में असर तो डाला ही, और भी दिलचस्प है कि यूरोप जब चर्च के आधिपत्य के चलते अपने अंधकारमय मध्य युग में गर्क था तब इब्न रुशद के लातिन / यूरोपीय अनुयायियों ने ही 13वीं सदी में तर्कवाद के बीज बोये और रफ्ता रफ्ता चर्च के आधिपत्य को चुनौती देनी शुरू की। विज्ञान, तकनीकी की आश्चर्यजनक तरक्की और उसके बूते पर एक पूरे के पूरे औद्योगिक क्रांति का नजारा हमें चीन में देखने को मिलता है। वहां प्रिंट, कंपास और बारूद जैसे चीजें ईजाद हुईं जिनके बिना उपनिवेशवाद की कल्पना करना भी संभव नहीं है।

चीन की हैरत में डालने वाली आर्थिक तरक्की ने पिछले सालों में विद्वानों में एक बहस छेड़ने में मदद की है। चीन के आर्थिक इतिहास पर काम करने वाले विद्वानों ने लाजिमी तौर पर यह सवाल उठाया है कि ऐसा कैसे हुआ कि चीन ऐसे तमाम आविष्कार करने और अपनी जबरदस्त औद्योगिक क्रांति के बावजूद न तो पूंजीवाद की तरफ आगे बढ़ा और न ही औरों पर कब्जा जमाकर एक औपनिवेशिक ताकत बना।

यहां मैं जो बात जोर देकर रखना चाहता हूँ वह यह है कि आधुनिकता और पूंजीवाद नाम की जो शय हैं उनमें पड़ने वाले बाकी सभी मसाले दुनिया भर से इकट्ठा कर के यूरोप लाए गए थे मगर एक खास चीज थी जो विशुद्ध रूप से यूरोप की देन थी— जिसके बिना पूंजीवाद वजूद में नहीं आता। एक अन्य विद्वान जयरस बानाजी ने यह भी दिखाया है कि 9वीं सदी से पूरे अरब इलाकों में और भूमध्य सागर के इर्दगिर्द के इलाकों में तिजारत का फलता फूलता इतिहास देखने को मिलता है और बाद के पूंजीवादी विकास में इस्तेमाल में आने वाले कई चलन वहां देखने को मिलते हैं। मगर वह भी औद्योगिक पूंजीवाद की शक्ल नहीं लेते। यहां इस विषय की तफसील में जाना तो संभव नहीं है मगर मोटी बात यह है कि इन दोनों का जन्म, जिस रूप में उन्हें हम आज जानते हैं, यूरोप में एक खास नए 'बौद्धिक विन्यास' का नतीजा था जिसमें एक तरफ तार्किकता / तर्कवाद (रैशनलिज्म) का एक नया विमर्श था तो दूसरी तरफ उससे जुड़ा व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत संपत्ति व मालिकाना का विमर्श। मैं यह बात यहां जोर देकर कहना चाहता हूँ कि रैशनलिज्म या तर्कवाद न तो यूरोपीय प्रबोधन की देन है और न अकेले क्लासिकी यूनान की, बल्कि भारत समेत दुनिया के कई समाजों में, कई ऐतिहासिक मुकामों पर हम इसके दर्शन कर सकते हैं। लिहाजा तर्कवाद का अपने आप में आधुनिकता से कोई ताल्लुक नहीं है।

ताहम, इस रैशनलिज्म के नए विमर्श में शायद कुछ बातें पहली बार देखने को मिलती हैं जिनका रिश्ता वक्त के नए तसव्वुर से है, क्योंकि इसी के जरिये तर्कवाद ने खुद को आधुनिकता से जोड़ा और पिछड़ेपन को तार्किकता के अभाव, धर्मांधता, अंध विश्वास आदि के साथ। जॉन लॉक जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने तो सीधे सीधे तर्कवाद को आधुनिकता से ही नहीं बल्कि संचयन और धनोपार्जन के साथ जोड़ा। उन्होंने माना— और बिला शक इसमें वे अकेले नहीं थे— कि 'प्राकृतिक' जीवन बर्बरता की निशानी है और तार्किकता का ताल्लुक नए धन की सृष्टि के जरिये संस्कृति व सभ्यता के निर्माण से है। जो लोग सदियों से प्राकृतिक जीवनशैली में डूबे रहे हैं वे इस धरती की धरोहर के हकदार नहीं हैं। उस पर उसी का हक है जो उसके इस्तेमाल से नई दौलत पैदा करे, और इंसानी जिंदगी की बेहतरी के लिए उसका इस्तेमाल करे। जाहिर है कि प्रकृति के नजदीक जिंदगी बसर कर रहे आदिवासी इस लिहाज से बर्बर और शहरी 'सभ्यता' से जुड़े लोग प्रगतिकामी माने जाएंगे। इस पूरे विमर्श में व्यक्तिगत संपत्ति और मालिकाने की केंद्रीय भूमिका थी क्योंकि ऐसा कर पाने के लिए प्राकृतिक संपदा के खरीद फरोख्त का रास्ता तभी साफ होता है जब संपत्ति (खासकर जमीन) समुदायों के नियंत्रण से आजाद हो और 'मेहनती' लोग उसे उसकी प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति दिलाकर इस भूमिका के योग्य बनाएं। यहां 'मेहनती' से हमारी (असल में जॉन लॉक की) मुराद सचमुच मेहनत करने वाले किसानों से नहीं है बल्कि उन लोगों से है जो अपने गुलामों को खटाकर इसका दोहन करके नई दौलत पैदा करने के लिए 'उद्योगी' होते हैं। तर्कवाद की यह परिभाषा बिलकुल नई थी। इसके जरिए आधुनिकता और तर्कवाद का आपसी रिश्ता तो बनाया ही जाता है, साथ ही पूंजीवाद के लिए राह भी प्रशस्त की जाती है।

अभी तक हम आधुनिकता और पूंजीवाद का जिक्र एक साथ करते आए हैं, लेकिन अब इस मुकाम पर इन दोनों में फर्क करना जरूरी हो जाता है। जैसा मैंने ऊपर कहा है, आधुनिकता नाम की शय का वजूद में आना फकत यूरोप से रसद जुगाड़ करके संभव नहीं होता। उसके लिए दुनिया भर में सदियों से चले आ रहे चलन, दुनिया के अन्य हिस्सों में हो रहे ज्ञान के विस्तार, दर्शन की नई उपलब्धियां या विज्ञान व तकनालजी में हो रहे नए अविष्कार— ये सब काम आते हैं। इनके बिना आधुनिकता का वजूद में आना मुमकिन नहीं होता। राजनीतिक सिद्धांतकार सुदीप्त कविराज (2005) ने कुछ साल पहले आधुनिकता से मुताल्लिक एक महत्वपूर्ण तर्क रखा है जिसे वे 'क्रमबद्धता' (सीक्वेंशलिटी) का तर्क कहते हैं। यह तर्क मूलतः दुनिया भर में आधुनिकता के अलग अलग रास्तों और फलस्वरूप अलग बनावटों (मल्टिपल मॉडर्निटीज) की व्याख्या के तौर पर रखा गया था। कविराज का तर्क यह है कि हम आम तौर पर आधुनिकता को एक सिंगल या सिंगुल परिघटना मान लेते हैं जबकि अगर गौर से देखें तो पाएंगे कि वह कई प्रक्रियाओं से मिलकर बनती है और जो हर समाज में एक ही ढंग से, एक ही तरतीब में नहीं आते हैं। ये अलग अलग प्रक्रियाएं औद्योगीकरण, सेकुलरिकरण, वैयक्तिकरण, पूंजीवाद, जनतंत्र वगैरह यूरोप में एक खास तरतीब में वजूद में आए हैं जिससे उसकी एक खास बनावट हमें देखने को मिलती है। यूरोप में औद्योगीकरण अपने पूरे जोर और बेइंतहा हिंसा के साथ मुकम्मल हुआ और जमीन और खेती से जुड़ी आबादियां पूरी तरह बेदखल कर के शहरी श्रम बाजारों में झोंक दी गई। उस दौर के जो विवरण आज हमारे पास उपलब्ध हैं— चाहे वह मार्क्स का ग्रंथ पूंजी हो या फिर फूको का 'मैडनेस ऐंड सिविलाइजेशन' हो, चाहे इतिहासकारों के अध्ययन हों— उनसे यह साफ हो जाता है कि इन बेदखल और बेघर हुए लोगों से किस तरह जानवरों की तरह काम लिया जाता था। उसी का नतीजा था कि वहां जनतंत्र की जरूरत महसूस हुई और उसके लिए बड़े आंदोलन भी हुए। जब तक जनतंत्र अस्तित्व में आया तब तक पूरी आबादी को अनुशासित किया जा चुका था और एक खास किस्म की आधुनिकता की नींव पड़ चुकी थी। मगर इसके बनिस्बत अगर आप भारत जैसे समाज को देखते हैं तो पाते हैं कि यहां चूंकि जनतंत्र— कमजकम उसका विमर्श और चुनाव आदि— सिद्धांतः पहले आ चुका था इसलिए उसने औद्योगीकरण और पूंजीवाद की बनावट पर भी भरपूर असर डाला। इस तरह आज भी 21वीं सदी के दूसरे दशक के अंत में भी हम औद्योगीकरण की मार झेल रहे लोगों के जबरदस्त संघर्ष देख रहे हैं। इस सबके फलस्वरूप हमारी आधुनिकता यहां एक बिलकुल अलग शक्त ले लेती है।

कविराज के इस तर्क का मैं यहां जिक्र इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि इस तरह देखने से आधुनिकता के बारे में सोचते हुए हमारे सामने कई रास्ते खुल जाते हैं। लेकिन अपने तर्क की सारी संभावनाओं को कविराज आगे नहीं ले जाते— लिहाजा यह काम हमें करना होगा। एक बार जब आप आधुनिकता को इस तरह कई प्रक्रियाओं के 'जमावड़े' के रूप में देखने लगते हैं तब आप यह भी देख सकते हैं कि इसका जन्म किसी एक खास मौके पर, एक खास जगह पर नहीं हुआ बल्कि उसके अलग अलग घटकों के जन्म की अलग अलग कहानियां हैं, अलहदा इतिहास हैं— कोई चार सौ साल पहले के चीन तक जाता है, तो कोई 5वीं या 6वीं सदी के भारत तक आता है तो कोई 9वीं से 12वीं सदी की अरब दुनिया तक जाता है। याद करें ऊपर की हमारी चर्चा से तो यह सवाल भी उठना स्वाभाविक— जो कई आर्थिक इतिहासकार आजकल उठा रहे हैं— है कि इतना सब होने के बावजूद चीन क्यों पूंजीवादी रास्ते पर अग्रसर नहीं हुआ? इन तमाम चीजों पर गौर करेंगे तो पाएंगे कि एक मायने में यूरोप की खास देन 'पूंजीवाद' ही

है— यानी व्यक्तिवाद, व्यक्तिगत बुर्जुआ संपत्ति, और प्रकृति के लगातार दोहन के जरिये 'प्रगति' का एक पूरा फलसफा, जिसके दर्शन हम जॉन लॉक के सैद्धांतीकरण में देख चुके हैं। यहां एक बात और साफ कर देना जरूरी है : जिस तरह आधुनिकता कई प्रक्रियाओं, चलनों, 'ज्ञानों' से निकली है उसी तरह जिसे मार्क्स ने 'पूंजीवाद' कहा वह भी ऐसे ही कई तत्त्वों से मिलकर बना है जिनके खुद के इतिहास बहुत दूर तक, यूरोप के बाहर जाते हैं। लिहाजा, मैं जब यह कह रहा हूँ कि यूरोप की खास देन 'पूंजीवाद' थी तो यहां मेरी मुराद किसी सर्वग्रासी व्यवस्था से नहीं है बल्कि वजूद के एक खास अंदाज से है— उसी तरह जैसे सेकुलरवाद या राष्ट्रवाद भी वजूद के अंदाज हैं। वजूद के इस अंदाज के केंद्र में है एक नए किस्म का इंसान जो सी.बी. मक्फर्सन के 'स्वत्वबोधक व्यक्तिवाद' (पोजेसिव इंडिविजुअलिज्म) का मूर्त रूप है। आधुनिकता के 'आधुनिक' बनने में इस पूंजीवादी अंदाज की केंद्रीय भूमिका है। यह तत्त्व न सिर्फ तर्कवाद की नई परिभाषा और इतिहासगत वक्त के नए तसव्वुर से ओतप्रोत ढंग से जुड़ा है बल्कि यह व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि को फलसफाई तौर पर सामाजिक उन्नति / प्रगति का वाहक भी मानता है। ऐसा शायद दुनिया के इतिहास में पहली बार हुआ। कुल मिलाकर इन तीनों तत्त्वों ने वो तमाम रास्ते खोल दिए जिनके बूते पर आधुनिक पूंजीवादी विकास दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। नए पूंजीवादी मानव के सामने से भोग और संचयन पर लगे सारे धार्मिक व नैतिक अंकुश अब हट गए और हर सूरत में सामाजिक प्रगति के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि को नवाजा जाने लगा।

इस नजरिए से अगर देखें तो पाएंगे कि जिस आधार पर हम पूरी की पूरी जीवनशैलियों को अतीत के अवशेष के रूप में देखने के अभ्यस्त हो चले हैं वह दरअसल इसी यूरोपीय पूंजीवादी नजरिए और तर्कवाद के नए विमर्श की देन है। इसी नजरिए ने वो हालत पैदा कर दिए हैं कि हम लगातार अपने वर्तमान में मौजूद 'अतीत' से जूझते रहते हैं। नतीजतन फिर चाहे हम यह दावा भी करें कि 'हम सब आधुनिक हैं', हम दरअसल उसी नजरिए के, उसी दायरे के तहत जवाब ढूंढ़ रहे होते हैं क्योंकि 'आधुनिक' से हमारा आशय वही होता है जिसे हम यूरोपीय प्रबोधन की उपज मानते हैं। दरअसल, अगर हम एक बार फिर चक्रबर्ती के तर्क की ओर लौटें तो देख पाएंगे कि बस्तर या लालगढ़ का आदिवासी इनमें से किसी भी अर्थ में 'आधुनिक' नहीं है। मगर अब अपनी जीवनशैली बनाये रखने के लिए या अपने 'समकालीन' होने का दावा करने के लिए उसे 'आधुनिकता' के तमगे की जरूरत नहीं है। अब हमारे सामने सिर्फ यूरोप को उसकी जगह दिखाने का काम ही नहीं है बल्कि आधुनिकता और पूंजीवाद को भी अब हम उसकी वास्तविक जगह दिखा सकते हैं।

I anHKZ

अनोवार अब्देल मलेक (1981), नेशन एंड रेवोल्यूशन : वॉल्यूम 2 ऑफ सोशल डायलेक्टिक्स, लंदन : द मैकमिलन प्रेस

इकोनोमिक टाइम्स (2008), 'ओनली किंग्स एसेट्स टू बी नॅशनलाइज्ड सेज प्रचंडा टू सूद नेपाल इंक', इकोनोमिक टाइम्स, 19 मई 2008, <https://economictimes.indiatimes.com/news/politics-and-nation/only-kings-assets-to-be-nationalised-says-prachanda-to-sooth-nepal-inc/articleshow/3051792.cms>. 7 सितंबर को उतारा गया

कविराज, सुदीप्त (2005), 'एन आउटलाइन ऑफ अ रिविजनिस्ट थ्योरी ऑफ मॉडर्निटी', यूरोपियन जर्नल ऑफ सोसिओलोजी, वॉल्यूम 44, न. 3, पेज 497 526

गुंदर फ्रैंक, आंद्रे (1969), कैपिटलिज्म ऐंड अंडरडेवलपमेंट इन लातिन अमेरिका, न्यू यॉर्क व लंदन : मंथली रिव्यू प्रेस

गुहा, रणजीत (1983), एलिमेंटरी एस्पेक्ट्स ऑफ पेजेंट इंसरजेंसी इन कोलोनियल इंडिया, न्यू डेल्ही : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

चक्रवर्ती, दीपेश (2000), प्रोविन्शलाइजिंग यूरोप : पोस्टकोलोनियल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफरेंस, प्रिंसटन : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस

पटनायक, प्रभात (2008), 'द सीपीआई (एम) ऐंड द बिल्डिंग ऑफ कैपिटलिज्म', नेटवर्कआइडियाज । ऑर्ग, 30 जनवरी 2008, <http://www.networkideas.org/news-analysis/2008/01/the-cpim-and-the-building-of-capitalism/>, 7 सितंबर को उतारा गया

नंदी, अशिस (1991), साइंस, हेजेमोनी ऐंड वायोलेंस : रिक्वीम फॉर मॉडर्निटी इन इंडिया, नई दिल्ली रू ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

फाबियान, योहान्नेस (2002), टाइम ऐंड द अदर, न्यू यॉर्क : कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस

मेनन, निवेदिता व आदित्य निगम (2007), पावर ऐंड कांटेस्टेशन : इंडिया सिंस 1989, लंदन : जेड बुक्स

लुई अल्युसे (1969), फॉर मार्क्स, लंदन : एलेन लेन द पेंगुइन प्रेस

सलिबा, ज्योर्ज (2007), इस्लामिक साइंस ऐंड द मेकिंग ऑफ द यूरोपियन रेनेसांस, कैंब्रिज व लंदन : द एम आई टी प्रेस

हॉपकिंस टेरेंस व इम्मानुएल वालरस्टाइन (1980), प्रोसेसीज ऑफ द वर्ल्ड सिस्टम, बेवर्ली हिल्स व लंदन : सेज पब्लिकेशंस

हॉब्सन, जॉन (2004), द ईस्टर्न ओरोजिंस ऑफ वेस्टर्न सिविलइजेशन, कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

हॉब्सबीम, एरिक व टेरेंस रेंजर (1992), द इन्वेंशन ऑफ ट्रेडिशन, कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

fvlif.k; ka

1. चूंकि इनमें बहुत सी पार्टियां खुद को 'सामाजिक जनतांत्रिक' (सोशल डेमोक्रेटिक) कहती थीं, इसलिए इनके नाम से जोड़ कर आने वाले जमाने के नए क्रांतिकारी मार्क्सवादियों ने इस प्रवृत्ति को ही 'सामाजिक जनतंत्र' का नाम दे दिया।
2. यूरो कम्युनिज्म नाम की प्रवृत्ति ने दरअसल पिछले सौ सालों के यूरोप में वामपंथ गढ़ने के तत्तुरबे को एक सैद्धांतिक शक्ल में देखना चाहा जिसमें यूरोप के आर्थिक व राजनीतिक विकास की विशिष्टताओं पर जोर दिया और खास तौर पर यह पेशकश रखी कि चूंकि वहां संसदीय जनतंत्र अपनी जड़ें बहुत गहराई तक जमा चुका है इसलिए अब समाज परिवर्तन का वही एकमात्र रास्ता रह गया है।

3. वैसे तो इस विषय पर काफी कुछ लिखा जा चुका है मगर यहां मिस्र में मार्क्सवादी चिंतक अनोवार अब्देल मलेक का एक उद्धरण देना पर्याप्त होगा, क्योंकि इससे उस नजरिए का अंदाजा बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है जिसका मैं जिक्र कर रहा हूं। वे कहते हैं : “मिसाल के तौर पर, लातिन अमरीका में नस्ल की समस्या पर आर्जेन्टीनी इतिहासकार गुस्ताव बेहुत द्वारा छापी गई किताब में हमें इस बाबत कई दिलचस्प हवाले मिलते हैं जहां, अन्य लोगों के अलावा, एंगेल्स का भी जिक्र आता है। जनवरी 23, 1848 में दोष् जर्दंतुंग में छपे एक लेख में और फरवरी 1849 में न्यू जर्दंतुंग में एंगेल्स 1847 में हुई अमरीका और मेक्सिको के बीच जंग की चर्चा करते हैं। वे साफ साफ शब्दों में मेक्सिको में अमरीकी विस्तार की प्रशंसा करते हैं क्योंकि वे उसे एक उन्नत सभ्यता के विस्तार के रूप में देखते थे।...एक सदी बाद शायद इस तर्क को वियतनाम पर भी लागू किया जा सकता है। खअब्देल मलेक 1981, अब्देल मलेक के इस उद्धरण में वियतनाम के जिक्र में एक तंज तो है ही, साथ ही इस बात की तरफ इशारा भी है कि इस बीच दुनिया के बारे में मार्क्सवाद का नजरिया खुद कितना बदल गया है।
4. यह बात कई ट्रोट्स्कीपंथी तो मानते थे ही, मगर सोवियत संघ के पतन के बाद भारत के कम्युनिस्ट हलकों में यह बात कुछ ऐसे कही जाने लगी गोया रूस में इंकलाब का होना ही गलत था।
5. यह सही है कि मुख्तलिफ औपनिवेशित देशों पर काम करने वाले इतिहासकारों ने अपने अपने संदर्भ में (भारत और चीन के बारे में तो यह बात जरूर कही जा सकती है) एक ‘अर्ली मॉडर्निटी’ यानी ‘प्रारंभिक आधुनिकता’ के तत्त्व ढूंढ लिए हैं जिससे यह गुमान हो सकता है कि आधुनिकता असल में यूरोपीय ईजाद तो नहीं है मगर एक सार्विक परिघटना जरूर है— और दुनिया के तमाम समाज, उपनिवेशवाद से पहले, अपने अपने ढंग से आधुनिकता की तरफ बढ़ ही रहे थे। बहरहाल, इस बात को अगर मान भी लिया जाए तो भी इस बात से कम ही अध्येता इंकार करते हैं कि उपनिवेशवाद के अविर्भाव के बाद से एक ही तरह की आधुनिकता तमाम दुनिया पर थोपी गई है।

dchj vks rksjhn dh i q0; k[; k

gjcd eq[k; k

dchj के विषय में कुछ और लिखना बाकी है? शायद।

स्वाभाविक है कि इतने महान और महत्वपूर्ण व्यक्ति को अलग अलग नजरियों से परखा गया हो। कबीर के अपने काल से ही और कुछ ही समय पश्चात उनके संबंध में गंभीर टिप्पणियां दर्ज की जाने लगीं। मध्यकाल के शीर्ष बौद्धिक अबुल फज्ज ने उन्हें 'मुवाहिद' की संज्ञा दी जिस पर हम विस्तार से चर्चा करेंगे। अबुल फज्ज के लगभग 150 वर्ष बाद मोबिद ने अपनी पुस्तक 'दविस्तान ए मजाहिब' में कबीर पर कई पृष्ठों में तजकिरा किया है।² गुरुग्रंथ साहिब में कबीर के 225 शब्द (पद) दर्ज हैं।³

हमारे अपने समय में इतिहासकार यूसुफ हुसैन खान ने जहां कबीर पर इस्लाम का प्रभाव दर्शाया है⁴ वहां एक अन्य इतिहासकार, इरफान हबीब ने इस प्रभाव से इंकार किया है।⁵ जहां प्रथम इतिहासकार इस प्रभाव की रेखा इस्लाम की सामाजिक समानता की परिकल्पना से संयुक्त करते हैं, द्वितीय इतिहासज्ञ इस्लाम की इस परिकल्पना को ही नकारते हैं। उनके अनुसार भारत में देहली सल्तनत की स्थापना के बाद अनेक रूपेण परिवर्तन आए जिनमें सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी एवं वैचारिक उथलपुथल हुई। उनके अनुसार कारीगरी के पेशे में काफी विस्तार हुआ जिसके साथ साथ कारीगर वर्ग में भी विस्तार हुआ और उसकी आर्थिक अवस्था में सुधार आया। इस सुधार से ही इस वर्ग को सामाजिक समानता की विचारधारा की प्रेरणा मिली जिसने भक्ति संतों के एकेश्वरवाद के विचार का प्रतिपादन किया। हबीब के अनुसार यह एकेश्वरवाद इस्लामी एकेश्वरवाद की नकल नहीं था, उससे अलग था। उनको इस पर आश्चर्य नहीं हुआ कि इस एकेश्वरवाद के प्रतिपादक और प्रचारक अधिकतर इसी कारीगर या उससे संलग्न वर्ग से ही उभरकर आए थे। नामदेव (छीपा), कबीर (जुलाहा) रविदास (ढोरों की लाश उठाने वाला),

साईं (नाई)— इन सब नीचे के वर्ग और जातियों में ही इस विचार का प्रचार हुआ। इसमें राम और रहीम को एक दूसरे का विरोधी नहीं एक दूसरे का पर्याय ही स्वीकार किया गया।⁶

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रामाणिक पुस्तक 'कबीर' में भक्ति संत की विचारधारा को नाथपंथी निर्गुण भक्ति की शृंखला में स्थापित किया गया है⁷ जबकि फ्रांसीसी विद्वान शार्लट वांदवील ने कबीर को भारत में इस्लाम के आगमन के पश्चात एक विकसित होती हुई 'हिंदू मुस्लिम संस्कृति' के प्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया है।⁸ इन सब स्थापनाओं से अलग पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर में मध्यकालीन भारत में निहित 'देशज आधुनिकता' के तत्वों को उजागर किया है।⁹

इन विविध परिप्रेक्ष्यों के बीच इस निबंध में एक और परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है जिस पर विमर्श आमंत्रित है।

यह धारणा लगभग सामान्य है कि कबीर का अपने समय में समाज को सबसे महत्वपूर्ण योगदान धार्मिक/सांप्रदायिक तनावों को हल्का करने में है जो इस्लाम के भारत में आगमन के पश्चात उभरकर आए थे। यह कहना भी सही होगा कि अपनी पहचान पर आधारित (identity based) तनाव भारत में इस्लाम के आगमन के साथ पहली बार उजागर नहीं हुए; इससे पहले भी भारत के दीर्घ इतिहास में अलग अलग संजाति विषयक (ethnic) और सांप्रदायिक गुटों में संघर्ष और हिंसा का अभाव नहीं रहा। अशोक के शिलालेखों में इसकी साक्षी निहित है जब बार बार समाज में समन्वय बनाये रखने और सांप्रदायिक तनाव में संयम रखने पर जोर दिया गया है। यदि तनाव न होता तो यह हिदायत देना अनावश्यक हो जाता। लेकिन इस्लामी एकेश्वरवाद सभी प्रचलित धार्मिक/सांप्रदायिक/जाति आधारित व्यवस्थाओं का विकल्प था यद्यपि उनमें स्वयं अनेक अंतर भी थे।

भारत एकेश्वरवाद से अपरिचित नहीं था। अनेक धार्मिक और दार्शनिक विचारों में यह भी एक धारा थी हालांकि व्यावहारिक रूप से यह समाज के हाशिये पर ही स्थित था। इस्लाम की बुनियादी अवधारणा— लाइलाहा इल्लिलाह, एक ईश्वर के सिवा कोई अनेक ईश्वर नहीं— ने अन्य सब धारणाओं को धर्म और दर्शन के दायरे से बहिष्कृत कर दिया। यह बहिष्कार इस्लाम से पहले भी स्थापित हो चुका था। ईसाई धर्म की अवधारणा कि जीसस ईश्वर का पुत्र है इसलिए ईश्वर ने अपने पुत्र के जरिये बाइबल में अंतिम सत्य प्रकाशित कर दिया है, जिसने अन्य सभी धार्मिक सत्यों को विस्थापित करके अल्लाह की इबादत का एक ही तरीका स्थापित कर दिया। इस एकेश्वरवाद को अरबी भाषा में 'तौहीद' की संज्ञा दी गई है।

कबीर का सबसे महान, महत्वपूर्ण और स्थायी योगदान 'तौहीद' को बुनियादी तौर पर पुनर्भाषित करना है। यह पुनर्भाषा भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं में स्थित थी; हिंदू मुस्लिम धार्मिक व सांप्रदायिक तनाव में नरमी लाना उसका प्रभाव था न कि उसका कारण।

तौहीद को इस्लामी चिंतकों ने अलग अलग नजरिये से देखा हो यह स्वाभाविक है। जबकि अल्लाह की एकलता पर किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया, विमर्श का केंद्र बना उसके आविर्भाव (menifestation) के एक या अनेक रूप। क्या अल्लाह के आविर्भाव का भी एक ही रूप संभव है या वह रूप एकाधिक हो सकते हैं? आठवीं सदी के विवेकशील संप्रदाय, 'मु'अतजिल', खुद को 'अहल अल तौहीद व अल अद्ल' (अल्लाह की एकलता और न्याय में विश्वास करने वाला संप्रदाय) की संज्ञा देते थे।¹⁰ इसके संस्थापक वसील बिन अता (699-748) ने किताब अल तौहीद¹¹ की रचना की। उनके लिए तौहीद का अर्थ था किसी भी दैवीय गुणों या विशेषताओं से इंकार और अल्लाह की इच्छा के स्थान पर मानव की स्वेच्छा पर विश्वास।

इल्हाम (अल्लाह द्वारा व्यक्ति विशेष, जैसे मुहम्मद, को रहस्योदय करना) के स्थान पर विवेक द्वारा हर प्रकार के ज्ञान की स्थापना उनका बुनियादी उसूल था; हर प्रकार के ज्ञान को, यहां तक कि इल्हाम को भी तर्क की परीक्षा से गुजरना उनके लिए लाजमी था।¹² उन्हें मुहम्मद के अल मे'राज (जिसके अनुसार मुहम्मद अल्लाह से मशवरा करने घोड़े पर सवार होकर आसमान गए थे और वापस आए तो उनका बिस्तर अभी भी गर्म था) से इंकार था क्योंकि यह एक किंवदन्ती थी जिसका कोई तर्कपूर्ण प्रमाण नहीं था।¹³ उनकी यह धारणा थी कि— 'क्योंकि दैवीय हुक्म को बदला नहीं जा सकता इसलिए इबादत करना या नमाज पढ़ना अर्थहीन है।'¹⁴ अल्लाह उनके लिए एकल है, सर्वशक्तिमान नहीं है। इस प्रकार मु'अतजिल संप्रदाय मुस्लिम समाज में गहराई तक समाये विश्वासों और अवधारणाओं को चुनौती दे रहे थे। उन्हें इस्लामी राज्य और कट्टर उलेमा ने मिलकर बड़े पैमाने पर हिंसा का इस्तेमाल कर खामोश कर दिया।

मंसूर अल हल्लाज (859-922) का दो शब्दों का अविस्मरणीय वाक्य 'अन अल-हक' ('मैं ही सत्य हूँ' जिसमें 'मैं ही खुदा हूँ' भी निहित है क्योंकि अरबी में हक का अर्थ सही, सत्य और खुदा— अंतिम सत्य— होता है) भी स्वयं से बाहर अल्लाह से इंकार करता है। एकल अल्लाह मस्जिद या किसी विशिष्ट जगह पर नहीं मिलता; वह हम सबमें, हर एक में बसता है; इसलिए उसकी इबादत के लिए मस्जिद में जाकर रस्मों का पालन अनावश्यक है। तौहीद की मंसूर की समझ भी शक्तिशाली उलेमा के लिए गंभीर चुनौती थी जिसकी कीमत उसे अपनी जान गवां कर देनी पड़ी।¹⁵

इब्न अल अरबी (1165-1240) मंसूर से अधिक सौभाग्यशाली था। उसने समुदाय के बुनियादी अकीदों को चुनौती नहीं दी बल्कि इस्लामी एकेश्वरवाद के साथ सर्वेश्वरवाद (pantheism — ईश्वर एकल है लेकिन उसके प्रकट होने के अनेक रूप होते हैं) का सम्मिश्रण करने का प्रयत्न किया। 'वास्तविकता' उसके अनुसार 'एक भी है और अनेक भी। वास्तविकता में एकलता भी है और विविधता भी; वह अनंत भी है और सीमित भी, सर्वोत्कृष्ट भी और अंतर्निहित भी। उसमें अपने अंतर में विभिन्न द्वंद्वों को समाने और उनमें समन्वय स्थापित करने की क्षमता है। वह (एकल अल्लाह) स्वयं को उतने अंशों में प्रकट कर सकता है जितने कि एक व्यक्ति या पदार्थ अनेक आईनों में प्रकट होता है, जहां हर आईना उस छवि को अपनी स्थिति के अनुसार प्रतिबिंबित करता है।'¹⁶ अपने समय और उसके पश्चात अल अरबी के विचार गंभीर विवादों का विषय बने लेकिन उन्होंने तौहीद की अभिव्यक्ति में सर्वेश्वरवाद का एक तत्व अवश्य संलग्न कर दिया।

इस्लाम के इतिहास में तौहीद के और भी पहलू प्रकाश में आए; उनमें से एक 'ब्याख्या' पर संक्षिप्त विचार कर हम कबीर के उस गहन नवपरिवर्तन की ओर मोड़ लेंगे जो इस निबंध का केंद्रबिंदु है। यह 'ब्याख्या' एक शक्तिशाली आंदोलन के रूप में विस्तृत हुई जिसका अंजाम बारहवीं सदी में मोरक्को में एक अस्थाई खिलाफत की स्थापना में हुआ। इस आंदोलन को अल-मोहद नाम दिया गया और इसके प्रवर्तक इब्न तुमर्त थे। इसके सदस्यों को अल मुवाहिद्दून का खिताब दिया गया जिसका अर्थ था तौहीद में एतकाद या विश्वास रखने वाला समूह। इसका मुख्य उद्देश्य था मुहम्मद के काल के बाद इस्लाम में आए गैर इस्लामी तत्वों को परिष्कृत करना और इस्लाम को फिर उसी पाकीजा अवस्था में वापस ले जाना जो मुहम्मद के समय में थी।¹⁷ अट्ठारवीं सदी में सऊदी अरब में अलवहहाब ने भी इसी प्रकार का अल मुवाहिद्दून आंदोलन आरंभ किया था जिसका लक्ष्य भी उसी प्रकार (केवल सुन्नी) इस्लाम को परिष्कृत करना था; इस कार्य में उनके संसाधनों में एक हाथ में असीम धन दौलत और दूसरे में बंदूक थी। इस्लाम

के परिष्कार की कोशिश की परछाइयां अभी भी नजर आ जाती हैं। तालिबान और अल कायदा आदि भी कुछ ऐसी कोशिश में मुब्तला हैं।

यह देखा जा सकता है कि तौहीद की इन सब व्याख्यायों, अभिव्यक्तियों और आंदोलनों का एक सीमित दायरा, एक परिधि है, वह इस्लाम है। इन सबका मकसद इस्लाम को समझना, उसकी व्याख्या करना और उसको शक्ति प्रदान करना है। इस्लाम के इस दायरे के बाहर इसका कोई संदर्भ नहीं है। वह कबीर है जिसने इस दायरे से बाहर निकलकर तौहीद को नया अर्थ प्रदान किया। लेकिन इसके पहले कि हम कबीर के इस नये अर्थ तक पहुंचें, यह उचित होगा कि हम इस प्रयत्न के लिए उसकी साख परख लें।

बादशाह अकबर का दरबारी, मित्र और इतिहासकार अबुल फज्जल कबीर के नाम और कार्य से परिचित था और कबीर को 'मुवाहिहद' की संज्ञा देता है। वह यह भी उल्लेख करता है कि कबीर को समक्ष 'गुप्त अर्थ स्पष्ट हो चुके थे और उसने संसार की जीर्ण शीर्ण रस्में त्याग दी थीं; उसके अधिकतर पद स्थानीय (हिंदी) भाषा में और सत्य की तलाश के लिए स्मरणीय हैं।' अबुल फज्जल यहां सूफी मत में प्रचलित 'जाहिर/बातिन (गुप्त)' के परंपरागत अंतर्विरोध या विकल्प के सहारे, जिसका वह अक्सर प्रयोग करता है, कबीर का आदर करता है कि उसने स्वयं ही जीवन का असली अर्थ प्राप्त कर लिया था। 'संसार की जीर्ण शीर्ण रस्में' का इस संदर्भ में स्पष्टतः एक अर्थ था—वह सब धार्मिक अनुष्ठान जिन्हें कबीर त्याग चुके थे और उनकी अधिकतर साखियां और पद उनको व्यर्थ दर्शाते हैं। अबुल फज्जल के अनुसार कबीर की खोज अंतिम सत्य की खोज थी।

कबीर के मुवाहिहद होने की एक और बहुत दिलचस्प साक्षी है। अबुल फज्जल के एक कनिष्ठ साथी, अब्दुल हक मुहद्दिस ने अपने पिता की उनके अपने पिता से एक बातचीत दर्ज की है। उसके पिता ने अपने पिता से पूछा कि प्रतिष्ठित कबीर क्या हिंदू थे या मुसलमान; पिता ने जवाब दिया कि कबीर न हिंदू थे न मुसलमान वह मुवाहिहद थे। पुत्र ने पूछा मुवाहिहद कौन होता है तो पिता ने कहा कि अभी तुम कम उम्र के हो यह बात समझ नहीं पाओगे; जब बड़े हो जाओगे तो समझ लोगे।¹⁸

जाहिर है कि कबीर उस किसी भी अर्थ में मुवाहिहद नहीं थे जिनसे हमारा ऊपर परिचय हुआ है। उनका मुवाहिहद होना तौहीद को एक नया अर्थ देने पर आधारित है। यह अर्थ स्वयं कबीर ने दिया था। यहां वह अर्थ है जो अबुल फज्जल और अकबर के 'सुलह कुल' के सिद्धांत की बुनियाद है।

संगठित धर्म, जैसे हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाई आदि के अपने अपने ईश्वर, अल्लाह या भगवान हैं जिनका अस्तित्व उनके अपने अनुयाइयों के लिए सुरक्षित है और अन्य धर्मों से प्रतिस्पर्धा में स्थित है। अर्थात् धर्मों का अंतर्विरोध उनके अलग अलग अस्तित्व का आधार है। मानव का इतिहास धर्मों के अंदरूनी और अंतर धार्मिक खूनखराबे से रंजित है। ईसाई जगत में एक ही धर्म के विभिन्न पंथों में धर्म से बहिष्कार, उत्पीड़न, क्रॉस पर जलाये जाने का लंबा इतिहास है; इस्लामी दुनिया में अब तक सुन्नी, शिया, अहमदिया और अन्य पंथ—जिन्हें दरअसल मजहब कहा जाता है—आपस में शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धांत से समझौता नहीं कर पाये हैं। हिंदू समुदाय में वैष्णव, शैव, शाक्त और विशेषकर बौद्ध समुदाय के दरम्यान तनाव और हिंसा का इतिहास विदित है।

कबीर ने ईश्वर और अल्लाह के अंतर्विरोध और प्रतिस्पर्धा और धर्मों के अंतर्विरोध और प्रतिस्पर्धा के स्थान पर एक नया अंतर्विरोध स्थापित किया : उन्होंने ईश्वर और अल्लाह बनाम

एक सार्वलौकिक दैवीय शक्ति की और विविध परस्पर विरोधी धर्मों बनाम एक सार्वलौकिक धार्मिकता या आध्यात्मिकता की परिकल्पना की। इस परिकल्पना में ईश्वर और अल्लाह अलग अलग नहीं हैं; अगर हैं तो एक दूसरे के पर्याय हैं। ईश्वर या अल्लाह एकल हैं लेकिन तौहीद के उन अर्थों में नहीं जिनमें मुस्लिम समुदाय और इस्लामी चिंतकों ने उसकी व्याख्या की थी; कबीर का तौहीद हर धर्म, हर मजहब की सीमाओं से बाहर था। उसकी अपनी भाषा में—

एक निरंजन अलह मेरा
हिंदू तुरक दुहू नहीं मेरा
राखूं व्रत ना महरम जाना
तिसही सुमिरूं जो रहे निदाना
पूजा करूं न निमाज गुजारूं
एक निराकार हिरदै नमस्कारूं
ना हज जाऊं ना तीरथ पूजा
एक पिछायां तौ का दूजा
कहे कबीर भरम सब भागा
एक निरंजन सूं मन लागा ¹⁹

या

भाई रे दो जगदीस कहां से आया
कहु कौने बौराया
अल्ला राम करीमा के सब
हरी हजरत नाम धराया
गहना एक कनक ते गहना
वा में भाव ना दूजा
कहत सुनत को दुई करि थापे
एक नमाज एक पूजा
वही महादेव वही मुहम्मद
ब्रह्मा आदम कहिये
को हिंदू को तुर्क कहावै
एक जमीं एक रहिये
वेद किताब पढ़े वह कुतुबा
वे मौलाना वे पांडे
बेगर बेगर नाम धराये
एक माटी के भाडे
कहे कबीर ये दोनों भूले
राम ही किन्हु न पाया
वे खसी वे गाय कटावे
बाद ही जनम गंवाया ²⁰

यह दिलचस्प बात है कि तौहीद का यह नया अर्थ उसे भारत की पृष्ठभूमि में ही प्राप्त हुआ। शायद इसका कारण यह था कि मुस्लिम और ईसाई समाजों में जहां एकेश्वरवाद प्रचलित था धार्मिकता की सीमाओं में रहकर धर्मों की दीवार तोड़ना संभव नहीं था। यह संभावना भारत

जैसे बहुल धर्म, बहुल संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रबल हो सकी। इसमें अंतर्धार्मिक और उनके अनुयाइयों के दरम्यान तनाव व हिंसा की संभावनाओं पर अंकुश लगा। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि भारत के मध्यकाल में, जिसे प्रमुख औपनिवेशिक इतिहासकार जेम्स मिल और उसके पश्चात कई औपनिवेशिक इतिहासकारों जैसे ईलियट, डाउसन, स्टैनले लेन-पूल आदि ने 'मुस्लिम काल' की संज्ञा दी थी, लगभग 550 वर्षों के लंबे समय में, जब मुगलों और मराठों, मुगलों और जाटों, मुगलों और सिक्खों में राजनैतिक स्तर पर युद्ध हुए, खूनखराबा हुआ लेकिन सामाजिक स्तर पर सांप्रदायिक फसाद नहीं हुए। इस प्रकार के सांप्रदायिक फसाद की पहली साक्षी हमें 1714 में मिलती है, औरंगजेब की मृत्यु के सात साल बाद, जब अहमदाबाद में होली के दिन दो सांप्रदायिक गिरोहों में—जिनमें से एक हिंदू और दूसरा मुसलमान था, दंगे हुए लेकिन जिन पर दो दिन में नियंत्रण पा लिया गया।²¹ पूरी अठारहवीं सदी में पांच दंगों का विवरण मिलता है।²² आज, स्वतंत्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य के तहत हर वर्ष लगभग 500 दंगे हो जाते हैं जिनका अधिकतर राज्य ही निदेशक होता है।

कबीर की तौहीद की यह पुनर्व्याख्या ही अकबर और अबुल फज्जल के सुलह कुल की परिकल्पना की नींव है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। दिलचस्प है कि अबुल फज्जल अक्सर 'अल्लाह' का प्रयोग न करके 'इलाही' का प्रयोग करता है। अकबर द्वारा प्रचालित 'दीन-ए-इलाही' का औपचारिक शीर्षक 'तौहीद-ए-इलाही' है, 'दीन-ए-इलाही' का प्रयोग केवल एक इतिहासकार—अकबर के दरबारी मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी ने किया है।²³ 'इलाही' से अभिप्राय देवता या ईश्वर से अधिक देवत्व (divinity) है। अकबर और अबुल फज्जल भी एक सांप्रदायिक अल्लाह या ईश्वर और सांप्रदायिक धर्मों के स्थान पर सार्वलौकिक देवत्व के हामी थे। सुलह कुल की परिकल्पना यहीं से प्रस्फुटित होती है जिसमें राज्य किसी एक धर्म या एक समुदाय का पक्षपाती नहीं होता।²⁴

कबीर द्वारा तौहीद की यह भारतीय परिभाषा उसके अपने काल तक सीमित नहीं रही। उसके काल से आज तक इसकी प्रासंगिकता बरकरार रही है।

पंजाब के महान सूफी संत और कवि, बुल्ले शाह (1680-1757) भी कबीर का विचार दोहराते हैं जब फरमाते हैं कि व्यक्ति का निर्वाण धार्मिक रस्मों को पूरा करने से नहीं होता बल्कि अपने धार्मिक 'मैं' को (अर्थात् धार्मिक पहचान को) मिटाने में होता है।

*मक्का गयां गल मुकदी नहीं
सौ सौ जुम्मे पढ़ आए
गंगा गयां गल मुकदी नहीं
भावें सौ सौ गोते खाये
गया गयां गाल मुकदी नहीं
भावें सौ सौ पंड पढ़ाये
बुल्लेह शाह गल ताई मुकदी
जदों 'मैं' नूं दिलों गंवाये*²⁵

या उन्नीसवीं सदी में खुद मिर्जा गालिब का यह कमाल का शेर कबीर की वाणी को लगभग शब्दशः दोहराता है—

*हम मुवाहिद हैं हमारा कीश है तर्क-ए रुसूम
मिल्लतें जब मिट गई अत्जाये ईमा हो गई*²⁶

(हम मुवाहिद हैं, हमारा धर्म है रस्मों को तोड़ना; मिल्लतें या समुदायों की मजहबी पहचान जब

मिट गई तो ईमान अर्थात् असली धर्म का तत्व बन गई।)

उन्नीसवीं सदी में ही सुदूर बंगाल में राजा राममोहन राय ने 'तोहफतुल मुवाहिहदीन (मुवाहिहदीन का तोहफा) नामक प्रतिष्ठित पुस्तक लिखी और ब्रह्मसमाज की स्थापना की जिसका प्रमुख लक्षण था धार्मिक रस्मों से दूर रहना। गांधी जी के प्रिय भजन, ईश्वर अल्लाह तेरो नाम, सबको सम्मति दे भगवान, में भी तौहीद की इस नई परिभाषा की अवधारणा है जिसमें ईश्वर और अल्लाह परस्पर विरोधी नहीं, एक दूसरे के पर्याय हैं। कबीर की यह भाषा हमें रोजमर्रा के जीवन में प्रयुक्त दिखाई देती है : ईश्वर एक ही है; उसके रूप अलग हैं और उसके द्वार तक पहुंचने तक अनेक द्वार हैं। भारतीय धर्म निरपेक्षता का यह विशिष्ट दृष्टिकोण इसी से प्रेरित है जहां राज्य और धर्म में अंतर स्थापित करने का यूरोपी प्रयोग भी सफलता की चरम सीमा तक नहीं पहुंच पाया है। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं कि आज भी जब भारत में कहीं भी सांप्रदायिक फसाद होते हैं, जो अब राज्य के संरक्षण में अक्सर होते हैं, समाज अपनी ओर से इस आग को बुझाने के लिए कबीर की भाषा को ही प्रयोग में लाते हैं?

I mHkZ

1. अबुल फज्ज, vkbū , vdcjh, जिल्द 1, सं. एच. ब्लाख्यैन्न कलकत्ता, 1872 (मूल फारसी पाठ), पृ. 433
2. मोविद, nfcLrku&, etkfgc, इब्राहीम बिन नूर मुहम्मद द्वारा प्रकाशित, मुंबई, 1875, पृ. 158-63
3. Pashaura Singh, **The Bhagats of the Guru Granth Sahib**, Oxford University Press, New Delhi, 2003, P. 83
4. Yusuf Husain, **Glimpses of Medieval Indian Culture**, Asia Publishing House, New Delhi, 1959, Chapter 1, (Islam and the Cult & Bhakti)
5. Irfan Habib, 'Medieval Popular Monotheism and its Humanism : The Historical Setting', **Social Scientist**, 21, 3-4 (March April 1993) 78-88
6. वही पृ. 83
7. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, dchj (कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
8. Charlotte Vaudeville, **A Weaver Named Kabir**, Oxford University Press, New Delhi, 1997.
9. पुरुषोत्तम अग्रवाल, vdfk dgkuh iæ dh %dchj dh dfork vjg mudk l e; , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
10. Mir Valiuddin, 'Mu'tazilism' in M.M. Sharif, ed, **A History of Muslim Philosophy**, 2 Vols., Adam Publishers, New Delhi, 2012; here Vol. I, P. 200
11. वही, पृ. 205
12. वही, पृ. 199
13. वही, पृ. 203
14. वही,
15. Louis Massignon, 'AL-Hallaj' वही, पृ. 346-49
16. AE Affifi , 'Ibn 'Arabi' in ibid., p. 410

17. **Encyclopedia of Islam**, Vol. VII, E.J. Brill.
18. अब्दुल हक मुहद्दिस, v[kckj vy v[;kj, देवबंद, पृ. 306
19. पुरुषोत्तम अग्रवाल, vdfk dgkuh, पृ. 317
20. वही, पृ. 335
21. Najaf Haider, 'A 'Holi Riot' of 1714 : Versions from Ahmadabad and Delhi', in S.Settar ed., **We Lived Together**, ICHR, New Delhi, 2002, P. 127-44
22. Muhammad Umar, **Islam in Northern India during the Eighteenth Century**, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1993, P. 154
23. अब्दुल कादिर बदायूनी, e[[kc vy&rokjh[k, जिल्द 2 सं. डब्ल्यू एन लीस एवं मुंशी अहमद अली, कलकत्ता, 1865 (मूल पाठ), पृ. 304; अबुल फज्ल, vkbũ&, vdcjh, जिल्द 1, सं. एच. ब्लाख्मैन्, कलकत्ता, 1872, पृ. 158-61 (आईन 77); अंग्रेजी अनुवाद, एच. ब्लाख्मैन्, ओरियंटल बुक्स, नई दिल्ली, 1977, पृ. 170-76 और टिप्पणी 176-223
24. हरबंस मुखिया, Hkjrjh; eky, आकार बुक्स, नई देहली, 2008, पृ. 63-64; SAA Rizvi, **Religious and Intellectual History of the Muslims in Akbar's Reign**, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1975, P. 369-70
25. <http://sufipoetry.wordpress.com/poets/bulleh-shah>
26. डा. जाकिर हुसैन, सं., nhoku&, xkfyC, शिरकत काव्यानी, बर्लिन 1925, पृ. 103

jk"VHkk"kk | s jktHkk"kk rd % | fo/kku | Hkk ea Hkk"kk dk izu vk\$ fgah

'kkuhr dk\$'kd

शुभनीत बलिया, उ.प्र. के सतीश चंद कॉलेज में इतिहास के शिक्षक हैं।

Hkkjr की संविधान सभा में जिन मुद्दों पर सबसे तीखी बहसें हुईं, उनमें भाषा का मुद्दा भी एक था। दिसंबर 1946 में संविधान सभा ने संविधान निर्माण का काम शुरू किया, जो नवंबर 1949 तक चला। भाषा के ज्वलंत प्रश्न को संविधान सभा ने बिलकुल आखिर तक स्थगित रखा। भाषा से जुड़े जिन मुद्दों को संविधान सभा को हल करना था, वे थे : भारत की राष्ट्रभाषा का सवाल; राष्ट्रभाषा के साथ अंग्रेजी के बने रहने की समयसीमा क्या होगी; राष्ट्रभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच संबंध; अंकों का प्रश्न। इन मुद्दों पर संविधान सभा में जोरदार बहसें हुईं, जिनमें संविधान सभा के सदस्यों ने अपनी चिंताएं, सरोकार और मंतव्य सभा के सामने रखे। इन बहसों में एक ओर वह समूह था, जिसमें हिंदी के उग्र समर्थक शामिल थे, तो दूसरी ओर वे लोग थे, जो हिंदी के समर्थकों से इतर राय रखते थे, इनमें बहुतेरे लोग दक्षिण भारत के राज्यों से थे, तो कुछ हिंदुस्तानी के समर्थक भी थे। भारतीय संविधान और उसकी निर्माण प्रक्रिया के अधिकारी विद्वानों में से एक ग्रेनविल ऑस्टिन ने भाषासंबंधी इन प्रावधानों को संविधान सभा द्वारा 'आधे मन से किया गया समझौता' करार दिया है।¹

दिसंबर 1946 में ही संविधान सभा में भाषा का मुद्दा उठा, जब आचार्य जे.बी. कृपलानी संविधान सभा में सभा की कार्यवाही के संचालन से जुड़े नियम और प्रक्रिया संबंधी प्रावधानों का मसौदा प्रस्तुत कर रहे थे। डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा उस समय अस्थायी सभापति के रूप में

संविधान सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। आचार्य कृपलानी द्वारा प्रावधानों का मसौदा प्रस्तुत किए जाने के बाद जब सभा के सदस्य अपने संशोधन प्रस्तुत कर रहे थे, तभी युक्त प्रांत (यूपी) से संविधान सभा के लिए चुने गए आर.वी. धुलेकर खड़े होकर 'हिंदुस्तानी' में बोलने लगे। जब सच्चिदानंद सिन्हा ने उनसे हिंदुस्तानी की बजाय अंग्रेजी में बोलने को कहा क्योंकि सभा में ऐसे भी सदस्य थे, जो हिंदुस्तानी से अनभिज्ञ थे तो धुलेकर ने कहा : जो लोग हिंदुस्तानी नहीं जानते, उन्हें भारत में रहने का अधिकार नहीं है। वे लोग जो इस सभा में भारत का संविधान बनाने के लिए एकत्र हुए हैं, और हिंदुस्तानी नहीं जानते, वे इस सभा का सदस्य होने के हकदार नहीं हैं। अच्छा होगा कि वे सभा से चले जाएं।²

इसके बाद जब डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा ने धुलेकर से अपने संशोधन प्रस्ताव के बारे में बोलने को कहा तो धुलेकर ने यह प्रस्ताव रखा : "सभा की नियम समिति अपने सभी नियम हिंदुस्तानी में बनाए। जिनका अंग्रेजी में अनुवाद किया जा सकेगा। जिसमें हिंदुस्तानी संस्करण ही आधिकारिक माना जाएगा।"³ डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा ने धुलेकर के संशोधन प्रस्ताव को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। इतिहासकार रामचंद्र गुहा के अनुसार जब धुलेकर फिर भी लगातार बोलते रहे, तब जवाहरलाल नेहरू ने उनसे सभा में अनुशासन बनाए रखने के लिए कहा। नेहरू ने धुलेकर से कहा कि "यह झांसी में हो रही कोई सभा नहीं है, जहां आप भाइयों और बहनों" कहने के बाद अंतहीन भाषण देने लगे।"⁴ ध्यान देने की बात है कि इस पूरी घटना के दौरान हिंदुस्तानी की वकालत कर रहे धुलेकर बाद में हिंदुस्तानी के मुखर विरोधी हो गए और इसे हिंदी का दुश्मन बताने लगे।

I fo/ku I Hkk dh dk; bkgH eaHkk"kk dk iZu

14 दिसंबर 1946 को सभा के नियम बनाने वाली समिति ने यह सुझाव दिया कि सभा की कार्यवाही हिंदुस्तानी में होनी चाहिए और अध्यक्ष की अनुमति से सभा के सदस्य अपनी मातृभाषा में सभा में अपनी बात रख सकेंगे। समिति द्वारा यह निर्णय भी लिया गया कि सभा की कार्यवाही का पूरा विवरण अंग्रेजी के साथ साथ हिंदुस्तानी में भी रखा जाएगा। नियम समिति के ये प्रस्ताव निर्विरोध स्वीकार किए गए हों, ऐसा नहीं था। जहां सेठ गोविंद दास सरीखे सदस्य सभा की कार्यवाही को केवल हिंदुस्तानी में संचालित करने के पक्षधर थे, वहीं के. संधानम सरीखे सदस्य सभा के कार्य संचालन के लिए और उसके कार्य विवरण के लिए भी अंग्रेजी के हामी थे। भाषा का जटिल मुद्दा संविधान सभा द्वारा नियुक्त मौलिक अधिकारों से संबंधित उप समिति के समक्ष भी उठा, जब उप समिति के सदस्यों ने मौलिक अधिकारों के संदर्भ में भाषा संबंधी प्रावधानों पर चर्चा शुरू की। 14 जुलाई 1947 को जब संविधान सभा की बैठकों के चौथे सत्र की शुरुआत हुई, तो भाषा संबंधी सवाल ने एक नया मोड़ लिया। संविधान सभा में अगले दिन वल्लभभाई पटेल ने प्रांतीय संविधान समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट के दूसरे अध्याय में, भाषा संबंधी प्रावधानों का उल्लेख किया गया था, कहा गया था कि : प्रांतीय विधायिकाओं में होने वाली कार्यवाही प्रांतीय भाषा/भाषाओं अथवा हिंदुस्तानी अथवा अंग्रेजी में संपन्न होगी। सभापति अथवा सदन के अध्यक्ष को यह अधिकार होगा कि वह सदन में भाषासंबंधी नीति का पालन सुनिश्चित करे और जरूरी समझे तो सदन के कार्य विवरण में भाषणों का सारांश शामिल करे।⁵

संविधान सभा में अगले पांच दिनों तक उपरोक्त रिपोर्ट के संदर्भ में कई संशोधन प्रस्तुत किए गए, जिनमें प्रांतीय विधायिकाओं में प्रयोग में आने वाली भाषा के तौर पर हिंदुस्तानी की

जगह हिंदी की वकालत की गई। संशोधन के ये प्रस्ताव बालकृष्ण शर्मा, पुरुषोत्तम दास टंडन, एच.वी. पाटसकर, डी.पी. खेतान और एच.जे. खांडेकर द्वारा लाये गए थे। इससे पूर्व 14 जुलाई को ही संविधान सभा में बोलेते हुए हिंदी के उग्र समर्थक आर.वी. धुलेकर ने सभा के सदस्यों को भारत के आसन्न विभाजन की याद दिलाते हुए कहा कि 'सभा के सदस्यों को इस पर विचार करना होगा कि अब भी संविधान सभा का रुख वही होगा जो आरंभ में था या कि उसमें कुछ बदलाव आना चाहिए।'⁶ भाषा के संदर्भ में धुलेकर ने कहा कि 'इस सभा में पहले मैंने हिंदुस्तानी का समर्थन किया था, पर अब बदले हुए परिदृश्य में हमें भाषा और लिपि के सवाल पर पुनर्विचार करना होगा।' भाषा संबंधी सवाल पर संविधान सभा में हिंदुस्तानी के प्रति अचानक उपजे विरोधभाव पर टिप्पणी करते हुए ग्रेनविल ऑस्टिन ने ठीक ही लिखा है कि 'संविधान सभा के तीसरे और चौथे सत्र के बीच गुजरे दो महीनों के दौरान भाषासंबंधी विवाद के प्रश्न पर सभा के विचार में आमूल परिवर्तन दिखाई पड़ता है। यह बदलाव स्पष्ट तौर पर विभाजन का नतीजा था।' ऑस्टिन के अनुसार विभाजन ने 'सिर्फ हिंदुस्तानी का ही गला नहीं काटा, बल्कि संविधान में अंग्रेजी और प्रांतीय भाषाओं की मौजूदगी पर भी संकट खड़ा कर दिया।'⁷

रविशंकर शुक्ल और जी.एस. गुप्त सरीखे सदस्यों ने हिंदुस्तानी के अस्तित्व को ही नकार दिया, जबकि शिब्वन लाल सक्सेना और गोविंद दास सरीखे सदस्यों ने सभा में संशोधन के प्रस्ताव प्रस्तुत किए, जिनका उद्देश्य हिंदी और देवनागरी को क्रमशः राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का दर्जा दिलाना था। जहां तक अंग्रेजी का सवाल था, तो इनमें से कुछ संशोधनों में यह प्रस्तावित था कि 'संसद के निर्णय के अनुसार अंग्रेजी बतौर दूसरी राजभाषा इस्तेमाल हो सकती है।' इन संशोधनों में अंग्रेजी के जारी रहने की समयावधि भी तय कर दी गई थी, जो पांच से सात वर्ष थी। इसके उलट कुछ प्रस्तावित संशोधनों में अंग्रेजी के कम से कम पंद्रह वर्ष जारी रखने की मांग की गई थी और इनमें राष्ट्रभाषा के रूप में नागरी और फारसी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदुस्तानी का समर्थन किया गया था। ये संशोधन सभा के दक्षिण भारतीय और मुस्लिम सदस्यों द्वारा पेश किए गए थे, हालांकि इसमें सच्चिदानंद सिन्हा और के.टी. शाह सरीखे अपवाद भी थे।

१९४९ में भाषा और लिपि के अंकों का सवाल

भाषा संबंधी इन मुद्दों पर, जिनमें भाषा और लिपि के साथ अंकों का सवाल भी जुड़ गया था, संविधान सभा में सितंबर 1949 में जमकर चर्चा हुई। के.एम. मुंशी और एन.जी. आयंगर ने भाषासंबंधी विवाद को हल करने हेतु अपने सुझावों को 2 सितंबर 1949 को सभा में प्रस्तुत किया। सुझावों का यह मसौदा 'मुंशी, आयंगर फॉर्मूला' के नाम से जाना गया। इस मसौदे में निम्न सुझाव शामिल थे : नागरी लिपि में लिखी गई हिंदी को संघ की राजभाषा का दर्जा; अंतरराष्ट्रीय अंकों को अपनाना; संघ के कामों में अगले पंद्रह वर्षों तक अंग्रेजी का इस्तेमाल, यह अवधि संसद द्वारा बढ़ाई जा सकती थी; विधेयक, अधिनियमों और अध्यादेशों के आधिकारिक संस्करण हेतु अंग्रेजी का प्रयोग और उच्च तथा उच्चतम न्यायालय में अंग्रेजी का प्रयोग।

संविधान सभा में 2 सितंबर 1949 को भाषा का प्रश्न तब उठा, जब संविधान के शिक्षा संबंधी प्रावधानों पर बहस चल रही थी। यह सवाल उर्दू के नामचीन शायर और प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता हसरत मोहानी (1875-1951) ने उठाया। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रहे हसरत मोहानी अलीगढ़ से प्रकाशित होने वाली उर्दू पत्रिका उर्दू ए मुअल्ला के संपादक भी

थे, जिन्हें कृष्ण पर लिखी गई अपनी भक्तिमय रचनाओं के लिए भी जाना जाता है।⁸ संयुक्त प्रांत से सभा के सदस्य चुने गए हसरत मोहानी का कहना था कि शिक्षा को समवर्ती सूची में रखा जाना चाहिए, न कि प्रांतीय विषयों वाली सूची में। मोहानी ने संविधान के उन प्रावधानों पर अपनी चिंता जाहिर की, जो उनके अनुसार केंद्र की शक्ति को लगातार बढ़ा रहे थे और प्रांतों को कमजोर बना रहे थे। मोहानी ने यह भी जोड़ा कि संयुक्त प्रांत जैसे कुछ राज्य शिक्षण के माध्यम के सवाल पर 'अतार्किक और निरंकुश रवैया' अपना रहे हैं। शिक्षण के माध्यम के रूप में मातृभाषा की वकालत करते हुए मोहानी ने विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट को भी उद्धृत किया। उन्होंने उर्दू की उपेक्षा करने के लिए संयुक्त प्रांत की सरकार को आड़े हाथों लिया। और यूपी विधान सभा के अध्यक्ष पुरषोत्तम दास टंडन के उस निर्णय की आलोचना की, जिसमें टंडन ने यह निर्णय दिया था कि 'सभा में प्रस्तुत किए जाने वाले सभी विधेयक सिर्फ हिंदी भाषा में ही होने चाहिए।'⁹

शिक्षा संबंधी प्रावधानों के अलावा सरकारी सेवाओं की अर्हता निर्धारण पर हुई चर्चा में भी भाषा का मुद्दा बार बार उठा। 7 सितंबर, 1949 को बंगाल से चुने हुए प्रतिनिधि सतीश चंद्र सामंत ने संविधान के मसौदे के अनुच्छेद 282 में, जो अखिल भारतीय सेवाओं से संबंधित था, एक संशोधन प्रस्ताव पेश किया। सतीश चंद्र सामंत (1900-1983) भारत छोड़ो आंदोलन में अपनी सक्रिय भूमिका और तामलुक में 'जातीय सरकार' की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि लोकसेवा की परीक्षाओं हेतु अर्ह होने के लिए अभ्यर्थी को 'राष्ट्रभाषा' के अतिरिक्त कम से कम एक क्षेत्रीय भाषा में भी पारंगत होना चाहिए। इस संदर्भ में उन्होंने विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशों को भी उद्धृत किया।¹⁰ सभा के एक अन्य सदस्य डॉ. मनमोहन दास ने संघ की राजभाषा और एक क्षेत्रीय भाषा के साथ ही लोकसेवा के लिए अंग्रेजी में दक्षता को भी अनिवार्य करने की सलाह दी। भारत की राजभाषा चुनने के प्रश्न पर टिप्पणी करते हुए मनमोहन दास ने कहा कि 'अब तक हमने भाषा के सवाल को मुलतवी रखा। शायद हम इस मुद्दे पर होने वाले विवाद से उपजने वाली अनचाही परिस्थितियों से बचना चाहते थे। पर समय आ गया है कि अब हमें इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, और बिना देरी किए हमें इस पर फैसला लेना चाहिए।'¹¹

मनमोहन दास के इस वक्तव्य के ठीक पांच दिन बाद 12 सितंबर 1949 को संविधान सभा में भाषा के मुद्दे पर चर्चा शुरू हुई। भाषा के सवाल पर बोलते हुए त्रावणकोर और कोचीन से प्रतिनिधि चुने गए कांग्रेस के नेता पी.टी. चाको (1915-1964) ने एक तय अवधि तक अंग्रेजी को जारी रखने की वकालत की। उनका यह भी कहना था कि 'भाषा के सवाल को भविष्य की संसद के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए।' क्योंकि राष्ट्र के सामने भाषा, लिपि और अंकों के सवाल से भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण कुछ ऐसे मुद्दे थे, जिन्हें तुरंत हल करना जरूरी था। चाको के अनुसार राष्ट्रभाषा का विकास समयानुसार होगा, वह कृत्रिम ढंग से नहीं बनाई जा सकती और न ही उसे अनिच्छुक लोगों पर थोपा जाना चाहिए। भाषा के प्रश्न पर सभा के कुछ सदस्यों द्वारा दिखाई गई 'असहिष्णुता' पर टिप्पणी करते हुए चाको ने चेतावनी दी कि 'हमारी असहिष्णुता ने पहले ही भारत का विभाजन कर दिया है। अब हमें फिर से ऐसा नहीं होने देना है। भावी पीढ़ियों के लिए भाषा का मसला तय करने की बजाय कहीं बेहतर होगा कि हम इस मसले को भावी पीढ़ियों के लिए ही छोड़ दें।'¹² सभा में भाषा के प्रश्न पर बढ़ रही 'असहिष्णुता' पर चिंता जताते हुए एक अन्य सदस्य बी. दास ने कहा कि 'संयुक्त प्रांत

और मध्य प्रांत के नेता आखिर इतने असहिष्णु क्यों हैं? इन राज्यों के नेताओं ने एक के बाद एक हिंदी में भाषण दिया, यह जानने के बावजूद कि भाषा के मुद्दे पर की जा रही उनकी अपील सिर्फ हिंदीभाषी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के लिए नहीं है।'

fyfi dk l oky

संविधान सभा के एंग्लो इंडियन सदस्य फ्रैंक एंथनी (1908-1993) ने हिंदी के लिए रोमन लिपि अपनाने का आग्रह किया। उनका विश्वास था कि यह कदम 'प्रांतों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई अंतःक्रिया बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा।' मद्रास से प्रतिनिधि चुने गए डॉ. पी. सुब्बारायन ने अपने प्रस्तावित संशोधन में संघ की भाषा के रूप में रोमन लिपि में लिखी गई हिंदुस्तानी की वकालत की। साथ ही, वे अंतरराष्ट्रीय अंकों के भी पक्षधर थे। उनका कहना था कि भाषाओं की अनुसूची में अंग्रेजी और संस्कृत को भी शामिल किया जाना चाहिए। पी. सुब्बारायन (1889-1962) ने सभा में अपने उन अनुभवों के बारे में भी बताया, जब 1937 में मद्रास में कांग्रेस सरकार बनने के बाद स्कूली शिक्षा के अंतर्गत पहली तीन कक्षाओं तक हिंदी को अनिवार्य कर दिया गया था। मद्रास के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य बनाने का निर्णय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के नेतृत्व वाली सरकार द्वारा लिया गया था, जिसमें पी. सुब्बारायन शिक्षा मंत्री थे।¹³ हिंदी के प्रसिद्ध कवि और संविधान सभा के सदस्य बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने पी. सुब्बारायन के इस भाषण के दौरान कई बार व्यवधान डाला।

पी. सुब्बारायन की तरह ही सरदार हुकम सिंह ने अपने संशोधन प्रस्ताव में रोमन लिपि में लिखी हिंदुस्तानी का समर्थन किया। शिरोमणि अकाली दल के सदस्य रहे सरदार हुकम सिंह (1895-1983) आरंभ में देवनागरी लिपि में लिखी गई हिंदी के समर्थक थे, पर भाषा के मसले पर हिंदी समर्थकों की असहिष्णुता और उग्र रवैये को देखकर उन्होंने रोमन लिपि में लिखी हिंदुस्तानी का समर्थन किया। अपने सुझाव के समर्थन में उन्होंने कहा कि सेना में पहले से ही रोमन लिपि में हिंदुस्तानी का व्यवहार हो रहा है और रोमन लिपि से हिंदुस्तान के अन्य प्रांतों के लोग भी परिचित हैं। साथ ही, उन्होंने सुभाष चंद्र बोस सरीखे उन नेताओं का भी उल्लेख किया, जो रोमन लिपि के समर्थक रहे थे।

l okn vks fookn

आदिवासी नेता डॉ. जयपाल सिंह मुंडा (1903-1970) ने भाषा के मुद्दे पर अपने विचार रखते हुए हिंदी समर्थकों के शुद्धतावादी आग्रह की कड़ी आलोचना की और भाषा के मुद्दे पर समन्वय और सहिष्णुता की नीति का समर्थन किया। अपने संशोधन प्रस्ताव में जयपाल सिंह ने संविधान की भाषा संबंधी अनुसूची (जिसे संविधान निर्माण के बाद आठवीं अनुसूची के नाम से जाना गया) में तीन आदिवासी भाषाओं यानी मुंडारी, गोंडी और ओरांव को भी जोड़ने का सुझाव दिया।¹⁴ वहीं बंगाल के प्रतिनिधि सतीश चंद्र सामंत ने बांग्ला को भारत की राजभाषा या राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव दिया। सभा के कुछ सदस्यों ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी पर अपनी आपत्ति जताई और यह चेतावनी दी कि ऐसी भाषा कभी भी आम लोगों के बीच स्वीकार्यता हासिल नहीं कर सकेगी और उनके कामों में रोड़े अटकाएगी।

कोयंबटूर से संविधान सभा के सदस्य चुने गए टी.ए. रामलिंगम चेडियार (1881-1952) ने संविधान सभा में भाषा के प्रश्न को सर्वसम्मति से हल करने पर जोर दिया। साथ ही, उन्होंने दक्षिण भारत के लोगों की चिंताओं को भी सभा के समक्ष रखा। रामलिंगम चेडियार का सुझाव

था कि गैर हिंदी भाषियों, खासकर दक्षिण भारतीयों को हिंदी सीखने के लिए पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए। उनका यह भी कहना था कि हिंदी को 'राष्ट्रभाषा' नहीं कहा जाना चाहिए।¹⁵ कुछ ऐसा ही मत शंकरराव देव का भी था, जिन्होंने जोर देकर कहा कि हिंदी को राष्ट्रभाषा न कहकर, 'राज्यभाषा, राजभाषा अथवा संघभाषा' कहा जा सकता है। श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भी भाषा के मुद्दे पर हिंदी समर्थकों के उग्र रवैये की निंदा की। उनके अनुसार 'विविधता में एकता' ही हिंदुस्तान की पहचान थी, जो 'आपसी समझ और सहमति के आधार पर ही मजबूत की जा सकती है और इसी प्रकार इसके लिए जरूरी समुचित वातावरण का निर्माण हो सकता है।'

भाषा के मुद्दे पर बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने सभा के सदस्यों से आग्रह किया कि भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए वे भारत की अखंडता का भी ध्यान रखें। महात्मा गांधी को उद्धृत करते हुए नेहरू ने जोर देकर कहा कि 'राष्ट्रीय महत्त्व के सभी कार्य देश की अपनी भाषाओं में ही संपादित किए जाने चाहिए और यह भाषा आम लोगों की भाषा होनी चाहिए, न कि विद्वज्जनों की भाषा।' अकारण नहीं कि नेहरू ने उन शुद्धतावादियों की कड़ी आलोचना की, जो भाषा के मानकीकरण के उत्साह में भाषा को आम लोगों से दूर ले जा रहे थे। नेहरू के अनुसार भाषा और मनुष्य का संबंध अन्योन्याश्रित होता है, जिसमें 'यदि मनुष्य भाषा की रचना करता है, तो भाषा भी मनुष्य और समाज को आकार देती है।'¹⁶ भाषा और मनुष्य के जुड़ाव पर बोलते हुए शंकरराव देव ने संविधान सभा में कहा कि 'मेरे लिए भाषा मातृतुल्य है, क्योंकि मेरी मां ने मुझे जन्म दिया, पर यह मेरी भाषा ही है, जिसने मुझे उस मुकाम तक पहुंचाया, जहां आज मैं खड़ा हूं।'¹⁷ इसलिए शंकरराव देव ने स्पष्ट तौर पर यह कहा कि संविधान के राजभाषा संबंधी प्रावधानों से किसी भी अन्य भारतीय भाषा के हितों को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहिए।

भाषा के सवाल पर संविधान सभा में चल रही तीखी बहसों के बीच कुछ ऐसे भी सदस्य थे, जो सभा के सदस्यों से शांतिपूर्वक और धैर्य के साथ इस समस्या पर विचार करने की अपील कर रहे थे। मसलन, मद्रास से सभा के प्रतिनिधि चुने गए जेसुइट पादरी और शिक्षाविद जेरोम डिसूजा (1897-1977) ने सभा के सदस्यों से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए संकीर्णता और क्षेत्रीयता से ऊपर उठने का आग्रह किया। वहीं लक्ष्मीकांत मैत्र ने अपने बेहद संतुलित भाषण में भाषा से जुड़े प्रश्न की संवेदनशीलता को रेखांकित करते हुए कहा कि 'भाषा का मुद्दा इतना महत्त्वपूर्ण और जटिल मुद्दा है कि अगर हम बहुमत या चुनाव के आधार पर इसका निर्णय करेंगे तो यह उन लोगों के दिलों में हमेशा खटकता रहेगा, जो इसे स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करेंगे। उनकी यह व्यथा और पीड़ा अंततः देश की एकता के लिए खतरा बनेगी।'¹⁸ जवाहरलाल नेहरू ने भी अपने भाषण में भाषा के मसले पर समावेशी और लोकतांत्रिक रवैया अपनाने का आग्रह करते हुए अपने भाषण का अंत इन शब्दों में किया : आज हम एक नए युग के कगार पर खड़े हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने जेहन में भावी हिंदुस्तान की तस्वीर साफ कर लें। हमें कैसा हिंदुस्तान चाहिए? क्या हमें एक ऐसा आधुनिक हिंदुस्तान चाहिए, जिसकी जड़ें निश्चय ही अतीत के प्रेरणादायी अंश में पैठी हुई हों, ऐसा आधुनिक हिंदुस्तान जो आधुनिक विज्ञान से समृद्ध हो, या कि हम प्राचीन काल में रहना चाहते हैं, एक ऐसे युग में जिसका वर्तमान से कोई संबंध न हो? हमें इन दोनों के बीच चुनाव करना होगा। यह सवाल दृष्टिकोण का भी है कि हम भविष्य की ओर आगे देखना चाहते हैं या पीछे मुड़कर अतीत की ओर।'¹⁹

I 60/kku I Hkk eafgmlrkuh

नेहरू ने अपने भाषण में हिंदुस्तानी का समर्थन किया और इसे 'देश की सामासिक संस्कृति' का परिचायक बताया। नेहरू के अलावा संविधान सभा में कुछ अन्य सदस्यों ने भी हिंदुस्तानी के पक्ष में भावनात्मक अपील वाले भाषण दिए। असम से प्रतिनिधि चुने गए कुलधर चलिहा (1887-1963) ने, जोकि असम कांग्रेस के महत्वपूर्ण नेता थे, हिंदुस्तानी की सराहना करते हुए इसकी 'गरिमा, अभिव्यक्ति के सौंदर्य और लचीलेपन पर' जोर दिया। मध्य प्रांत और बरार से संविधान सभा के प्रतिनिधि चुने गए और कांग्रेस के नेता काजी सैयद करीमुद्दीन (1899-1977) ने अपने प्रस्ताव में हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात कही। मद्रास से संविधान सभा की प्रतिनिधि चुनी गई दुर्गाबाई (1909-1981) ने भी हिंदुस्तानी का समर्थन किया।²⁰ स्वतन्त्रता सेनानी और सामाजिक कार्यकर्ता दुर्गाबाई ने 'आंध्र महिला सभा' की स्थापना की थी। देवनागरी लिपि में लिखी हुई संस्कृतनिष्ठ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रस्ताव को दुर्गाबाई ने महात्मा गांधी की सहिष्णुता की नीति और उनके विचारों के विरुद्ध बताया। अपने भाषण में उन्होंने दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार प्रसार में महात्मा गांधी और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के योगदान को भी याद किया। मौलाना अबुल कलाम आजाद और शंकरराव देव ने भी हिंदुस्तानी का समर्थन किया। मौलाना आजाद ने संविधान सभा में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उस फैसले की याद दिलाई, जिसमें कांग्रेस ने हिंदुस्तानी के प्रयोग पर जोर दिया था। उनका कहना था कि हिंदुस्तानी के जरिये कांग्रेस नेतृत्व ने 'उर्दू और हिंदी के बीच मतभेदों को दूर करने की कोशिश की थी।'²¹ हिंदुस्तानी के समावेशी कलेवर पर टिप्पणी करते हुए मौलाना आजाद ने कहा कि इसमें उत्तर भारत में बोली जानी वाली लगभग सभी भाषाओं की विविधता को स्थान मिलता है। इसी क्रम में, महात्मा गांधी की हिंदुस्तानी की याद दिलाते हुए मौलाना आजाद ने कहा कि 'महात्मा गांधी की हिंदुस्तानी साहित्यिक उर्दू या हिंदी न होकर, उन दोनों का मिश्रण थी।' उर्दू और हिंदुस्तान के जुड़ाव पर टिप्पणी करते हुए मौलाना आजाद ने कहा :

“उर्दू हिंदुस्तान की ही जवान है। यह हिंदुस्तान में ही पली बड़ी है और इस देश के लाखों हिंदू मुसलमानों की अपनी भाषा है। आज भी यह अलग अलग प्रांतों के लोगों के बीच संवाद की भाषा है और अंतर प्रांतीय संबंधों का आधार है।”²²

संविधान सभा में भाषासंबंधी यह बहस जब चल ही रही थी, उसी दौरान कुछ सदस्यों ने संस्कृत को भारत की राजभाषा बनाए जाने का प्रस्ताव रखा।²³ कुल 28 सदस्यों ने संस्कृत को राजभाषा बनाने के प्रस्ताव का समर्थन किया, जिनमें उल्लेखनीय रूप से टी.टी. कृष्णमचारी, कुलधर चलिहा और लक्ष्मीकांत मैत्र शामिल थे। 13 सितंबर 1949 को इस प्रस्तावित संशोधन पर बोलते हुए लक्ष्मीकांत मैत्र ने संस्कृत की खूबियों पर जोर देते हुए कहा कि 'संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसे दर्शन व विज्ञान सरीखे गूढ़ गंभीर विषयों के साथ साथ दैनंदिन जीवन में भी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।'²⁴

I 60/kku I Hkk eafgmlrkuh I efkZkack nf"Vdksk

बालकृष्ण शर्मा, रविशंकर शुक्ल, पुरुषोत्तम दास टंडन और डॉ. रघुवीर सरीखे हिंदी समर्थकों ने संविधान सभा में दिए गए अपने भाषणों में देवनागरी लिपि में लिखी गई हिंदी को ही भारत की राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया। इन लोगों ने न सिर्फ हिंदुस्तानी का समर्थन कर रहे सदस्यों की आलोचना की, बल्कि हिंदुस्तानी जैसी किसी भाषा के अस्तित्व को ही सिर से नकार दिया। जहां तक अंकों का सवाल था, तो हिंदी समर्थकों ने अंतरराष्ट्रीय अंकों को अपनाने का पुरजोर

विरोध किया और नागरी अंकों का समर्थन किया। वे हिंदी के साथ अंग्रेजी के इस्तेमाल की अवधि को घटाकर पांच वर्ष कर देना चाहते थे, और उस समयावधि के बीत जाने के बाद सिर्फ हिंदी का प्रयोग करने के हामी थे।

गैर हिंदीभाषी क्षेत्रों के लोगों की समस्याओं के प्रति कोई संवेदना दिखाये बगैर मध्य प्रांत और बरार से संविधान सभा के प्रतिनिधि चुने गए रविशंकर शुक्ल ने सभा में कहा कि दक्षिण भारत के लोगों को जल्द से जल्द हिंदी सीख लेनी चाहिए क्योंकि 'यदि वे जल्दी ऐसा नहीं करेंगे तो वे पीछे छूट जाएंगे।'²⁵ उल्लेखनीय है कि रविशंकर शुक्ल ने 1947 में ही 'हिंदी वालो, सावधान!' शीर्षक से एक किताब लिख मारी थी, जिसमें उन्होंने उर्दू और हिंदुस्तानी पर जमकर हमला बोला था और लिखा था कि 'मेरा दृष्टिकोण शुद्ध हिंदी के हित का दृष्टिकोण है।'²⁶ एक अन्य हिंदी समर्थक आर.वी. धुलेकर ने तर्क दिया कि 'भाषाओं में एक प्रतिस्पर्धा (दौड़) थी, जिसमें हिंदी विजयी हुई है और हिंदी को रोका नहीं जा सकता।' धुलेकर ने हिंदुस्तानी के समर्थकों की आलोचना करने के साथ ही हिंदुस्तानी को 'तुष्टीकरण की नीति' का परिणाम बताया। भारतीय मुस्लिमों के बारे में भी धुलेकर ने ऐसी ही बेबुनियाद बातें कहीं : 'बहुसंख्यक मुस्लिम हमारे साथ नहीं हैं। उन्हें ये महसूस नहीं होता कि यह देश उनका है और इसलिए वे अलग होना चाहते हैं। वे पृथक निर्वाचन मंडलों की मांग करते हैं।' सभापति डॉ. राजेंद्र प्रसाद और जवाहरलाल नेहरू ने हस्तक्षेप करते हुए धुलेकर को इन बेबुनियाद और अतार्किक बातों को बोलने से रोका। बाद में, सभा में बोलते हुए काजी सैयद करीमुद्दीन ने 'हिंदुस्तानी को तुष्टीकरण की नीति का नतीजा' बतलाने के लिए धुलेकर की आलोचना की। उन्होंने धुलेकर से यह सवाल किया कि 'क्या इसका मतलब यह है कि कांग्रेस जो भी काम करती है, वह तुष्टीकरण के लिए ही करती है? क्या धर्मनिरपेक्ष राज्य भी तुष्टीकरण की नीति का ही नतीजा है? मैं सभा में साफ तौर पर यह कहना चाहूंगा कि हिंदुस्तान यहां रहने वाले सभी तबके के लोगों का देश है और उन्हें यहां जीने का पूरा अधिकार है।'²⁷

14 सितंबर 1949 को संविधान सभा में बोलते हुए पुरुषोत्तम दास टंडन ने राष्ट्रभाषा के रूप में देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिंदी और भारतीय अंकों की वकालत की। हिंदी में प्रशासनिक शब्दावली के अभाव के प्रश्न पर टंडन का कहना था कि 'संस्कृत की सहायता से हिंदी आसानी से प्रशासनिक शब्दावली के अभाव को दूर कर सकेगी और पांच साल के भीतर ही हम उच्च न्यायालय की समूची कार्यवाही हिंदी में संपन्न कर सकेंगे।'²⁸ टंडन के भाषण के दौरान श्यामा प्रसाद मुखर्जी, शंकर राव देव, लक्ष्मीकांत मैत्र और हसरत मोहानी सरीखे सदस्यों ने सभा में टंडन द्वारा कही जा रही बातों से अपना मतभेद व्यक्त किया। जब पुरुषोत्तम दास टंडन ने युक्त प्रांत को 'हिंदी प्रांत' कहा तो हसरत मोहानी ने कड़ी आपत्ति जताते हुए कहा कि 'युक्त प्रांत या तो हिंदुस्तानी प्रांत है या उर्दूभाषी प्रांत, इसे हिंदी प्रांत कहना उचित न होगा।' अलगू राय शास्त्री और डॉ. रघुवीर ने भी टंडन के मत का समर्थन करते हुए हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया। डॉ. रघुवीर का कहना था कि हिंदुस्तानी और उर्दू असल में एक ही भाषा हैं और ये साहित्यिक हिंदी से बिलकुल अलग है। डॉ. रघुवीर के अनुसार हिंदी ही 'राष्ट्रभाषा के लिए जरूरी सभी शर्तों को पूरा करती है।'

के.एम. मुंशी द्वारा सभा में भाषा संबंधी अनुच्छेदों का मसौदा पेश किए जाने के बाद शिब्वन लाल सक्सेना जैसे कुछ सदस्यों ने इस मसौदे में कुछ संशोधन के प्रस्ताव पेश किए और नजीरुद्दीन अहमद और मोहम्मद इस्माइल सरीखे कुछ सदस्यों ने प्रस्तावित मसौदे पर और चर्चा कराने का सुझाव दिया। पर बाद में अधिकांश सदस्यों ने अपने संशोधन प्रस्ताव वापस

किसी व्यथा के निवारण के लिए संघ या राज्य के किसी अधिकारी को संघ या राज्य की किसी भी भाषा में प्रतिवेदन देने का हकदार होगा। इसी अनुच्छेद के उपखंड (ख) में भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान किया गया, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस भाग के अंतिम और महत्वपूर्ण अनुच्छेद 351 में संघ को हिंदी भाषा के विकास के लिए निर्देश दिए गए हैं। इसके अंतर्गत हिंदी के प्रसार और विकास को संघ का कर्तव्य घोषित किया गया। राजभाषा हिंदी के स्वरूप के बाबत इस अनुच्छेद में कहा गया कि यह हिंदी ऐसी हो कि 'वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके।' साथ ही, हिंदी की प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और संविधान की आठवीं अनुसूची की अन्य भाषाओं के रूप, शैली और पदों को हिंदी में आत्मसात करने की भी बात कही गई। जहां तक राजभाषा हिंदी के शब्द भंडार की बात थी, तो 'मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने' का निर्देश इस अनुच्छेद में दिया गया।

हिंदी लोकवृत्त में संविधान के इन भाषा संबंधी प्रावधानों पर जमकर चर्चा हुई। ऐसी ही चर्चाओं का एक प्रतिनिधि मंच था, हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित किए जाने वाले वार्षिक अधिवेशन। 1949 में हैदराबाद में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के सभापति चंद्रबली पांडे ने अपने अध्यक्षीय भाषण में संविधान में भाषा संबंधी प्रावधानों की जमकर आलोचना की। अंग्रेजी को पंद्रह वर्षों तक शासकीय कार्यों में इस्तेमाल करने के प्रावधान को, जिसे संसद द्वारा आगे बढ़ाया जा सकता है, चंद्रबली पांडे ने हिंदी के 'अनिश्चितकालीन वनवास' की संज्ञा दी और कहा : "राम को वनवास मिला था 14 वर्ष का, किंतु नपातुला 14 वर्ष का। चौदहवां वर्ष बीता नहीं कि 'राजा राम अवध रजधानी।' परंतु हिंदी की स्थिति निराली है। उसे 15 वर्ष का वनवास है और इस 15 वर्ष की इति नहीं है।"³⁰

इतना ही नहीं चंद्रबली पांडे ने भारतीय अंकों के अंतरराष्ट्रीय रूप को अपनाने की भी कड़ी आलोचना की। सम्मेलन के इसी अधिवेशन में आयोजित राष्ट्रभाषा परिषद के सभापति क्षेत्रेश चंद्र चट्टोपाध्याय ने भी संविधान के भाषासंबंधी प्रावधानों के विषय में अपना संशय व्यक्त किया। चंद्रबली पांडे की तरह ही क्षेत्रेश चंद्र ने भी अंग्रेजी के पंद्रह वर्ष तक जारी रहने और भारतीय अंकों के अंतरराष्ट्रीय रूप के प्रावधान को भी आड़े हाथों लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने संविधान के अनुच्छेद 351 में व्यक्त उस विचार की भी आलोचना की, जिसमें हिंदी को 'भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम' बनाने और उसमें हिंदुस्तानी व अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदों को आत्मसात करने की बात कही गई थी। उनके अनुसार 'विधान की धारा (अनुच्छेद) 351 में जो 'हिंदुस्तानी' का नाम लिया गया है, वह सर्वथा निरर्थक है, कारण अनुसूची 8 में जो भाषाएं सन्निविष्ट हैं, उनमें 'उर्दू' है, 'हिंदुस्तानी' नहीं।'

अगले वर्ष कोटा में आयोजित हुए सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए जयचंद्र विद्यालंकार ने भी संविधान के भाषा संबंधी प्रावधानों, विशेषकर अंग्रेजी का इस्तेमाल पंद्रह वर्ष तक जारी रहने के प्रावधान, की आलोचना करते हुए कहा : "आज एक बरस हुआ जब जनता के प्रतिनिधि कहलाने वालों ने स्वयं यह निश्चय किया कि भारत के शासन और शिक्षा में भारत की वाणी अभी पंद्रह बरस तक मुंह पर न लानी होगी, कि अंग्रेजी का हिलता हुआ दांत अभी कम से कम पंद्रह बरस तक और शायद उसके बाद भी मुंह में थामकर रखना होगा।"³¹

किंतु कोटा में आयोजित हुए सम्मेलन के राष्ट्रभाषा परिषद के सभापति रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर ने संविधान के भाषा संबंधी प्रावधानों, विशेषकर अनुच्छेद 351 की सराहना करते हुए कहा कि 'हिंदी का रूप कैसा हो, इसकी भी रूपरेखा संविधान की 351वीं धारा में स्पष्ट कर दी गई है। उसको ही मान लेने में दूरदर्शिता है, चतुराई है और कार्यसाफल्य भी।' ³³ अनुरोध करते हुए उन्होंने कहा कि 'मेरी प्रार्थना है कि भाषा के संबंध में जो बातें संविधान में स्वीकृत हो गई हैं, उनको हिंदी भाषाभाषी और अहिंदी भाषाभाषियों को अंतःकरण से और अनुशासन की दृष्टि से मान लेना चाहिए और उसी मार्ग से कार्य चलाना चाहिए। यह एक ही मार्ग है जिससे झगड़े, कटुता और मार्गभिन्नता मिट सकती है।' उल्लेखनीय है कि रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर संविधान सभा के भी सदस्य थे। वे दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा से भी जुड़े थे और कर्नाटक क्षेत्र में हिंदी प्रचार में उनका महत्वपूर्ण योगदान था।

fu"d"kl

इस लेख में भाषा के प्रश्न पर संविधान सभा में हुई बहसों की विस्तृत पड़ताल की गई है। भाषा के बेहद जरूरी सवाल पर संविधान सभा के सदस्यों ने किस तरह आम सहमति बनाने पर जोर दिया, उनके ये प्रयास आखिरकार क्यों असफल होते चले गए, इन बहसों के निहितार्थ क्या हैं, कुछ इन्हीं सवालों के जवाब इस लेख में ढूंढने की कोशिश की गई है। ये बहसों एक तरफ विचारों के उस समृद्ध लोकतंत्र का परिचायक हैं, जिसमें जयपाल सिंह मुंडा सरीखे लोग संविधान सभा में आदिवासी भाषाओं की वकालत कर रहे थे, कुछ लोग अंग्रेजी और हिंदुस्तानी की, तो कुछ हिंदी की। कुछ लोगों का मानना था कि भाषा के सवाल को भावी पीढ़ी के लिए ही छोड़ देना चाहिए कि वे ही अपने हिसाब से इसका हल ढूंढें। इन बहसों को पढ़ने पर यह बात भी स्पष्ट होती है कि संविधान सभा में हिंदी के उग्र समर्थकों ने अपनी हठधर्मिता के चलते हिंदी के हितों को नुकसान ही पहुंचाया। अपनी अतिवादिता के चलते हिंदी समर्थकों ने सर्वसम्मति और समायोजन के उन सिद्धांतों को भी ताक पर रख दिया, जिसका संविधान सभा ने अन्य संदर्भों में पालन किया था। हिंदी की पैरोकारी करते हुए हिंदी समर्थकों ने संविधान सभा में अन्य भाषाई समूहों की अपनी भाषा से जुड़ी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पहचान की भी अवहेलना की और उनके प्रति तनिक भी संवेदनशीलता दिखाने से गुरेज किया। साथ ही, इस लेख में संविधान के भाषा संबंधी प्रावधानों पर हिंदी साहित्य सम्मेलन सरीखे भाषाई संगठनों की तीखी प्रतिक्रिया का भी विश्लेषण करने की कोशिश की गई है, जहां इन प्रावधानों की जमकर आलोचना की गई और इसे 'हिंदी का वनवास' तक कहा गया।

I mHKZ

1. ग्रेनविल ऑस्टिन, द इंडियन कांस्टीट्यूशन कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, 2000), पृ. 331
2. कांस्टीटुएंट एसेंबली डिबेट्स (यहां के बाद डिबेट्स), भाग 1, खंड 2
3. वही,
4. रामचंद्र गुहा, इंडिया आफ्टर गांधी द हिस्ट्री ऑफ वर्ल्ड्स लार्जस्ट डेमोक्रेसी, (मैकमिलन, 2007), पृ. 117-118
5. डिबेट्स, भाग 4, खंड 2 ब।
6. डिबेट्स, भाग 4, खंड 1
7. ऑस्टिन, द इंडियन कांस्टीट्यूशन, पृ. 346

8. हसरत मोहानी की कृष्ण संबंधी रचनाओं के बेहतरीन विश्लेषण हेतु पढ़ें, सी.एम. नईम, 'द मौलाना हू लव्ड कृष्ण', इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, सं. 17 (2003), पृ. 37-44
9. डिबेट्स, भाग 9, खंड 24 अ।
10. डिबेट्स, भाग 9, खंड 28 ब। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन नवंबर 1948 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में किया गया था। आयोग ने अगस्त 1949 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप दी थी।
11. डिबेट्स, भाग 9, खंड 28 ब। मनमोहन दास, जो अंग्रेजी को भारत और दुनिया के बीच संपर्क भाषा के रूप में देखते थे, के उलट महावीर त्यागी ने अंग्रेजी का विरोध किया और अंग्रेजी शिक्षा को 'भारत का अभिशाप' कहा। अपने संशोधन प्रस्ताव में महावीर त्यागी ने लोकसेवा की परीक्षाओं के लिए मातृभाषा की वकालत की।
12. डिबेट्स, भाग 9, खंड 32 ब।
13. उल्लेखनीय है कि पी. सुब्बारायन कांग्रेस में शामिल होने से पूर्व 1926-1930 के दौरान मद्रास प्रेसीडेंसी के मुख्यमंत्री भी रह चुके थे और उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन में भी भाग लिया था।
14. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 अ।
15. डिबेट्स, भाग 9, खंड 33 ब।
16. डिबेट्स, भाग 9, खंड 32 सय नेहरू के भाषा संबंधी विचारों के लिए देखें उनका लेख 'द क्वेश्चन ऑफ लैंग्वेज', जवाहरलाल नेहरू, द यूनिटी ऑफ इंडिया, (एल. ड्रमंड, 1941)।
17. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 अ।
18. डिबेट्स, भाग 9, खंड 33 अ।
19. डिबेट्स, भाग 9, खंड 32 स।
20. डिबेट्स, भाग 9, खंड 33 अ।
21. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 अ।
22. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 ब।
23. उल्लेखनीय है कि सात वर्ष बाद अक्टूबर 1956 में भारत सरकार ने सुनीति कुमार चटर्जी की अध्यक्षता में एक संस्कृत आयोग नियुक्त किया, जिसे 'राष्ट्र में संस्कृत की स्थिति का मूल्यांकन' करना था। इस समिति के अन्य सदस्य थे : वी. राघवन, एस.के. डे और आर.एन. दांडेकर, आदि। आयोग की सिफारिशों के आलोचनात्मक विश्लेषण हेतु देखें, सुमति रामास्वामी, 'संस्कृत फॉर द नैशन', मॉडर्न एशियन स्टडीज, 33 (2), मई 1999, पृ. 339-81
24. डिबेट्स, भाग 9, खंड 33 अ।
25. डिबेट्स, भाग 9, खंड 32 स।
26. रविशंकर शुक्ल, हिंदी वालो, सावधान!, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी : 1947, सं. 2004.), देखें 'निवेदन'।
27. डिबेट्स, भाग 9, खंड 33 अ।
28. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 अ।
29. डिबेट्स, भाग 9, खंड 34 स।
30. प्रेमनारायण शुक्ल (संपा.), सभापतियों के भाषण, भाग-3, (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग : 1987), पृ. 147
31. भदंत आनंद कौसल्यायन (संपा.), राष्ट्रभाषा की समस्याएं राष्ट्रभाषा परिषद के सभापतियों के भाषणों का संग्रह, (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग : 1986), पृ. 153-154
32. सभापतियों के भाषण, भाग-3, पृ. 214
33. राष्ट्रभाषा की समस्याएं, पृ. 162

rjg uæj okyh Qk; j fcxM

r#.k HKVukxj

dgrs हैं यह एक सच वाक्या है जो यूरोप के किसी शहर में हुआ था।

बताया यूं गया कि एक बुजुर्ग औरत थी। वह शहर के पुराने इलाके में अपने फ्लैट में रहती थी। शायद बुडापेस्ट में, शायद एम्सटर्डम में या शायद कहीं और ठीक ठीक मालुमात नहीं है। पर इससे क्या अंतर पड़ता है। सारे शहर तो एक से दीखते हैं। क्या तो बुडापेस्ट और क्या एम्सटर्डम। बस वहां के बाशिंदों की जवानें मुख्तलिफ हैं, बाकी सब एक सा दीखता है। जवानें मुख्तलिफ हों तब भी शहर एक से दीखते रहते हैं।

वह बुजुर्ग औरत ऐसे ही किसी शहर के पुराने इलाके में रहती थी, अकेली और दुनियादारी से बहुत दूर। यूं उसकी चार औलादें थीं, तीन बेटे और एक बेटी, पर इससे क्या होता है? सबकी अपनी अपनी दुनिया है, सबकी अपनी अपनी आजादियां, सबकी अपनी अपनी जवाबदारियां, ठीक उसी तरह जैसे खुद उस बुजुर्ग औरत की अपनी दुनिया है, उसकी अपनी आजादी। सो साथ रहने का कहीं कोई खयाल नहीं। साथ रहना दिक्कत देता है। इससे जिंदगी में खलल पडता है। पर उम्र को क्या कीजिए। वह बढ़ती रहती है और एक समय के बाद जिस्म साथ नहीं देता। वह इतना कमजोर हो जाता है मानो बीमार हो। एक दो बार तो उस बुजुर्ग औरत की तबियत इस कदर खराब हुई कि वह अपने फ्लैट में अकेली ही पड़ी रही। उसमें उठ बैठने तक की ताकत न रही। उसने डॉक्टर को फोन पर ही बताया। डॉक्टर ने फोन पर ही उसे दवाएं बता दीं। उसने फोन से ही दवाएं मंगा लीं। देर रात उसकी तबियत इतनी खराब हो गई कि उसे ऐसा लगा मानो वह मर जाएगी। पर उसने किसी को फोन नहीं किया। बस पड़ी रही। थोड़ी थोड़ी देर बाद सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट का एक रिकॉर्डेड फोन उसके फोन पर सुनाई देता— आप ठीक तो हैं न— और वह हां या हूं में आवाज कर देती।

तन्हाई में सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट का फोन राहत देता है। सरकार ने इतनी सहूलियत दे रखी है कि किसी की मदद की जरूरत ही नहीं पड़ती। उसे पल भर को खयाल आया कि वह फोन पर कह दे कि वह मर गई। थोड़ी सी झुंझलाहट, थोड़ा सा रंज, थोड़ा दर्द और थोड़ी सी बेबात आ जमी यह तन्हाई जाने क्या था कि वह ऐसा कहना चाहती थी, पर जानती थी कि ऐसा कहना ठीक न होगा।

कभी कभी उसका दूसरे नंबर का बेटा और इकलौती बेटी उसे देखने आते हैं। कभी कभी क्या बल्कि उनके आने के दिन तय हैं। माह के दूसरे गुरुवार को बेटा आता है और तीसरे शनिवार को बेटी। पर वह अक्सर भूल जाती कि आज कौन सा दिन है। अगर याद रहता तो वह उनका इंतजार करती। अगर याद न रहता तो इंतजार न करती। एक बार तो यह भी हुआ कि वह अपनी बेटी को पहचान भी न पाई। बेटी यह सोचकर आई थी कि आज तो मां उसका इंतजार कर रही होगी। पर यह क्या, वह तो उसे पहचान ही नहीं रही थी। उसने उसे कुछ पुरानी तस्वीरें दिखाई जिसमें वह और वह समंदर के किनारे खड़े हैं, पर वे तब भी बेटी को पहचान न पाई। बेटी ने उनके बिस्तर के पास एक फोन लगवा दिया। फोन में एमरजेंसी बटन थे। लाल बटन दबाने से ऐंबुलेंस, पीला दबाने से फायर ब्रिगेड और हरा दबाने से सीधे सीधे बेटी को फोन। बेटी ने सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट को भी मां के हालात के बारे में बताया। उन्हीं की सलाह पर यह फोन उसने लगवाया था।

पर उस दिन। उस दिन वह फोन भी काम न आया। वे बुरी तरह से गश खा गई। तेज ठंड थी और उन्हें जोर का चक्कर आया था। जमीन पर पड़े पड़े उन्होंने फोन उठाया। उन्हें यह तो याद था कि यह फोन है, पर बाकी कुछ भी नहीं। उन्हें यह भी याद न रहा कि वे कहाँ हैं? कब से हैं? बस इतना ही खयाल आया कि यह फोन है। इसके बटन दबाओ तो दूसरी तरफ किसी और से बात होती है। उनके सिर से खून निकल रहा था। उन्हें लाल, पीला और हरा बटन समझ न आया। उन्होंने फोन के नंबरों वाले बटन दबाये। बेतरतीब। एक बार, दो बार, तीन बार...।

स्टीव का जब सैल फोन बजा तब वह एक कैफेटेरिया में बैठा था। रात के आठ बज रहे थे।

“हैलो...।”

“मेरा नाम क्रिस्टीना है। मैं बहुत बुजुर्ग हूँ। मैं गिर पड़ी हूँ।”

“ओह। क्या मैं आपकी मदद कर सकता हूँ।”

“मुझे यहाँ से निकाल लो। मेरे सिर से खून बह रहा है।”

“आप घबराये नहीं आप कहाँ पर हैं, यह बताएं।”

“मुझे याद नहीं मैं कहाँ पर हूँ।”

क्रिस्टीना की आवाज लड़खड़ा रही थी।

“मुझसे बात करते नहीं बन रहा। आप मेरी मदद करो।”

क्रिस्टीना जोर जोर से हांफ रही थी।

“अच्छा यह बताओ आपको आपके आसपास क्या दीख रहा है।”

“दीवार पर एक खिड़की है। आयताकार खिड़की। कांच वाली।”

“और कुछ...।”

क्रिस्टीना ने फिर कुछ नहीं कहा। बस फोन पर उसकी सांसों की आवाज सुनाई देती रही। स्टीव कुछ देर तक फोन पर हैलो हैलो बोलता रहा। पर जब सांसों की आवाज के अलावा

और कुछ भी सुनाई नहीं दिया तो वह थोड़ा बेचैन हो गया।

स्टीव बेरोजगार है। वह छब्बीस साल का है। उसने कुछ दिनों तक काम की तलाश की। रात दिन वह काम तलाशता रहा। पर इधर हफ्ते भर से वह काम तलाश कर थक गया है। अब वह फुर्सत में है। उसने काम तलाशने का काम मुलतवी कर दिया है।

कैफेटेरिया के कांच के पार एक स्ट्रीट है। दूधिया मरकरी की रोशनी में जगमगाती पथरों वाली स्ट्रीट। कांच के ठीक बाहर स्ट्रीट से सटा एक पाथ वे है। पाथ वे पर अभी अभी तीन बच्चे भागते हुए खिड़की के सामने से निकले थे। कांच के कारण उनकी आवाज सुनाई नहीं दी। स्टीव उसी तरफ देख रहा था। हल्की हल्की बर्फ गिर रही थी। लैंपपोस्ट के नीचे एक अश्वेत लड़का खड़ा था, लबादे से कपड़े पहने, कानों में वॉकमैन लगाये, कुछ सुनता और सुनने की धुन पर पैर हाथ हिलाता सा।

“मुझे एक कॉल करनी है।”

स्टीव ने कैफेटेरिया के काउंटर पर बैठे शख्स से कहा। काउंटर वाले शख्स ने स्टीव के हाथ में सैल फोन देखा। स्टीव ने देखा कि वह उसका सैल फोन देख रहा है। जब पास सैल फोन हो तो कोई क्यों काउंटर के लैंडलाइन से फोन करेगा भला। स्टीव उसे नहीं बताना चाहता था कि उसके सैल फोन पर एक बुजुर्ग औरत है। बल्कि यूं कहें कि उसके सैल फोन पर एक बुजुर्ग औरत की सांसें की आवाज सुनाई दे रही है। वह उसे नहीं काटना चाहता।

“मैं कॉल के पैसे दूंगा।”

स्टीव ने कहा। उसके पॉकेट में छह यूरो हैं। दो यूरो की उसने कॉफी पी है। कुछ पैसे वह कॉल पर खर्च कर सकता है।

“हैलो।”

“हैलो।”

“मेरा नाम स्टीव है मुझे आपकी मदद चाहिए।”

फोन के दूसरी तरफ शहर की फायर ब्रिगेड सर्विस का हैड था। काउंटर वाला शख्स अपने काम में मगन हो गया। किसी का फोन सुनना बेअदबी है। किसी को किसी का फोन न सुनना चाहिए। इस मुल्क में कोई किसी के काम में दखल नहीं देता। यहां तक कि किसी को देखना खासकर लगातार देखना भी गलत माना जाता है। नजरबाजी करना तो एकदम ही गलत है। लोगों को लगता है कि ऐसा करने से दूसरा आदमी डिस्टर्ब हो सकता है। अभी कल ही इस कैफेटेरिया से लगी स्ट्रीट से तीन औरतें गुजरी थीं। तीनों टॉपलैस थीं। किसी ने उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा।

“इस तरह तो किसी को दूढ़ पाना मुश्किल है।”

फायर ब्रिगेड स्टेशन का हैड फोन पर स्टीव से कह रहा था।

“हम उस बुजुर्ग औरत को बचा सकते हैं।”

“मैं तुम्हारे इरादों की तारीफ करता हूं। यह बड़े ही सवाब का काम है। पर यह आसान काम नहीं लग रहा।”

“उसने बताया था कि वह जिस कमरे में है, उसमें बड़ी आयताकार खिड़की है। कांच वाली।”

“हां पर इससे क्या होता है?”

“ऐसी खिड़कियां शहर के पुराने इलाके में हैं। वहां के घरों और फ्लैट्स में।”

“एकदम सही।”

“आपके पास कितनी फायर ब्रिगेड हैं।”

“कुल तेरह।”

“क्या आप सबको काम पर लगा सकते हैं।”

“हां। अभी सभी स्टेशन पर खड़ी हैं। बहुत दिनों से खाली खड़ी हैं। इस बहाने वे भी काम पर लग जाएंगी।”

“आप अगर उन सबको पुराने शहर रवाना कर दें। पुराने शहर के मुख्तलिफ इलाकों में और उनको बता दें कि वे सब अपना फायर अलार्म बजाते रहें।”

“उससे क्या होगा?”

“मेरे सैल फोन पर उस बुजुर्ग औरत का फोन होल्ड पर है। सैल फोन में इतना पैसा है कि अभी वह दो चार घंटे होल्ड पर रह सकता है।”

“उससे क्या होगा?”

“हो सकता है कि उन फायर अलार्म में से कोई अलार्म मेरे सैल फोन पर सुनाई दे जाए और उससे उस बुजुर्ग औरत के प्लैट का कुछ पता चले।”

“आइडिया अच्छा है। ऐसा ही करते हैं।”

स्टीव ने काउंटर वाला फोन रख दिया। फिर पल भर को अपने सैल फोन पर क्रिस्टीना की सांसों की आवाज सुनी। फिर दो बार हैलो हैलो किया। पर दूसरी तरफ से कोई जवाब न आया। कैफेटेरिया में दूसरी तरफ बैठे एक शख्स ने पल भर को उसे देखा। उसने उसे बैचैनी से सैल फोन पर हैलो हैलो कहते सुना था। अगर दूसरी तरफ से हैलो हैलो का जवाब न आए तो कौन भला इतनी दफा बार बार हैलो हैलो करता है। लोग एक दो दफा हैलो हैलो करते हैं और फिर फोन बंद कर बैठ जाते हैं। कितना अजीब शख्स है। उसने सोचा। फिर दूसरी तरफ देखने लगा। कितना अजीब कि थोड़ी थोड़ी देर में हैलो हैलो कहता है पर सैल फोन को नहीं काटता। सैल फोन पर लाल और हरा दोनों रंगों का सिग्नल चमक रहा है। याने फोन कटा नहीं है। फोन पर बात भी नहीं हो रही है और वह कटा भी नहीं है। बस स्टीव थोड़ी थोड़ी देर में उस पर हैलो हैलो कहता है। पता नहीं क्या है, पता नहीं क्यों?

स्टीव बैचैन हो चला था। वह कैफेटेरिया के बाहर जाना चाहता है पर लगता है जैसे अभी फायर ब्रिगेड के हेड का फोन आया और काउंटर पर रखा फोन घनघना उठेगा। उसने पल भर को बाहर देखा। लैपपोस्ट के नीचे खड़ा अश्वेत लड़का जा चुका था। उसके पीछे दीवार पर बना म्यूरल अब बिना किसी रोक के साफ साफ दीख रहा था। बस बर्फ थी जो आहिस्ते आहिस्ते गिर रही थी, म्यूरल को थोड़ा गैरवाजेह बनाती। म्यूरल में एक लड़की है जो दीवार पर रंग बिखेर रही है। लड़की की फ्राक अपनी पूरी गोलाई में खुली है। उसने ऊंची हील के बाद भी खुद को पैरों से उचका रखा है। रंग दूर तक बिखरा हुआ है, जैसे वाक्य में बकेट से फेंका जाता रंगीन पानी जो अपनी बुंदकियों, धार, रिसते रंग और छपाकों के साथ दीवार पर ही रुक गया हो। म्यूरल के ठीक सामने एक हाइड्रेंट है। लाल रंग के पाथ वे के एक किनारे पर। उस पर एक बिल्ली बैठी है अपने आगे के पैरों को अपनी जबान से चाटती। स्टीव को लगा अगर उसका सैल फोन एंज न होता तो वह कांच के बाहर देखता हुआ सिंपली रैड का एक पुराना गीत— इफ यू डोंट नो मी बाई नाउ यू विल नेवर नेवर नेवर नो मी— सुनता। तभी उसे खयाल आया कि उसके जैकेट में इयर फोन है। उसने इयर फोन का पिन मोबाइल में लगाया और एक स्पीकर को बाएं कान में लगा लिया। दाहिना कान उसने काउंटर के फोन की घनघनाहट सुनने के लिए खुला छोड़ दिया।

उसे क्रिस्टीना की सांसों की आवाज एकदम साफ सुनाई दे रही थी। उसने इसके पहले कभी सांसों की आवाजों को इतने गौर से नहीं सुना था। अगर जरूरत न हो तो लोग सुनते नहीं। सांसों की आवाज कोई ऐसी चीज नहीं जो सुनी जाए। अगर वक्त न होता तो शायद वह भी न सुन रहा होता। सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट को क्रिस्टीना का फोन नंबर देकर फारिग हो लेता। वह थोड़ा बेताब था। जब वह खाली होता है वह मुश्ताक हो जाता है। इतना बेताब कि सांसों की आवाज जैसी बेजान आवाज भी बड़ी जानदार लगती है। लगता है बस सुनते रहो। वह पहला है जो क्रिस्टीना की सांसों को इतने गौर से सुन रहा है। खुद क्रिस्टीना को ही न पता हो। न उसके आशिक को, न उसके बच्चों को ही इल्म हो कि वह किस तरह सांस लेती है। कि उसकी सांसों की आवाज कैसी है? यह एक बोर काम है बेशक, पर वह खुद को तसल्ली दे रहा है कि यह भी एक काम है।

बाहर गिरती बर्फ तेज हो गई है। हाइड्रेंट पर बैठी बिल्ली जा चुकी है।...और तभी, बस तभी उसे सैल फोन पर क्रिस्टीना की सांसों की आवाज के साथ साथ एक बिल्ली की आवाज सुनाई देती है जो धीरे धीरे बढ़ती जाती है। वह कभी हाइड्रेंट की वह खाली जगह देखता है जहां बिल्ली बैठी थी, फिर सैल फोन पर बिल्ली की आवाज सुनता है। उसके जेहन में विंडोसिल से सरककर खिड़की के भीतर बेआवाज कूदती बिल्ली का खयाल आता है और फिर सैल फोन के एकदम पास सुनाई देती उसकी म्याऊं म्याऊं सुनाई देती है। उसे लगता है कि क्रिस्टीना फर्श पर पड़ी है, उसके सिर से निकले खून का चकत्ता जमीन पर फैला है, आहिस्ते से मुंह खोल म्याऊं करती बिल्ली खून के चकत्ते को सूंघती है, उसकी छोटी लाल जबान धीरे से गढ़ा चुके खून को छूती है...। वह हड़बड़ाता इयर फोन को हटाता है। सैल फोन पर जोर जोर से कहता है— हैलो, हैलो क्रिस्टीना...हैलो...हैलो...क्या तुम मुझे सुन रही हो क्रिस्टीना...हैलो, हैलो...। बिल्ली की आवाज एकदम से बंद हो जाती है। जब जब वह हैलो कहता है उसकी आवाज क्रिस्टीना के कमरे में गूंजती है। क्रिस्टीना के फोन का स्पीकर आन है। वह थोड़ा जोर जोर से कहता है— चले जाओ...चले जाओ वहां से...ओ बिल्ली तू चली जा वहां से, जा दूर चली जा, भाग वहां से...भाग...भाग...। कैफेटेरिया में उसकी आवाज गूंजती है। सब लोग उसे अचरज से देखते हैं। काउंटर पर खड़ा शख्स उसे गुस्से से घूरता है।

वह अपना सैल फोन लेकर बाहर आ जाता है। बाहर रोड पर जमी बर्फ पर गाड़ी के टायरों के निशान हैं। सफेद बर्फ पर कैफेटेरिया के कांच पर लटकती रंगीन लाइटें चमक रही हैं। चारों ओर खामोशी है। आकाश चुपचाप बर्फबारी कर रहा है। पाथ वे और घरों की ढलुवा छतों पर बेआवाज बर्फ गिर रही है। पास ही बर्फ में समा चुकी एक कार खामोशी से खड़ी है। खामोशी को चीरती उसकी आवाज थोड़ा देर तक सुनाई देती है— हैलो...हैलो क्रिस्टीना, क्या तुम सुन रही हो...। सैल फोन में बिल्ली की आवाज दूर जाती है। फिर खत्म हो जाती है। बस सांसों की आवाज रह जाती है। वह बर्फ से ढंकी स्ट्रीट चेंबर पर बैठकर कान में इयर फोन लगाकर उस आवाज को सुनता मुस्कुराता है।

“मेरा कोई फोन था।”

लौटकर स्टीव ने काउंटर वाले शख्स से पूछा। काउंटर वाले शख्स ने थोड़ा हिकारत से उसे देखा। फिर उसने ‘न’ में अपनी गर्दन डुलाई। तभी उसे अपने सैल फोन पर सांसों की आवाज के साथ साथ फायर ब्रिगेड का फायर अलार्म सुनाई दिया। लगातार बढ़ता सा अलार्म। उसने काउंटर पर रखे फोन से एक फोन मिलाया। काउंटर वाले शख्स ने उसे इशारे से मना किया। उसने कहा वह पैसे देगा। काउंटर वाले शख्स ने इशारा किया याने अच्छा कर लो...।

“आप एक एक कर सभी फायर ब्रिगेड को अपना अलार्म बंद करने को कहो।”

“उससे क्या होगा।”

“जब मेरे सैल फोन पर सुनाई देने वाला फायर अलार्म बंद होगा मैं आपको बता दूंगा।”

“इस तरह पता चल जाएगा कि उस बुजुर्ग औरत का फ्लैट किस फायर ब्रिगेड के पास है।”

“एकदम। उस बुजुर्ग औरत का नाम क्रिस्टीना है।”

“ओह। शुक्रिया।”

“शुक्रिया किस बात का।”

“तुम कम से कम किसी की परवाह कर रहे हो। यही हमारा काम भी है। परवाह करना। हमारे पास कोई खास काम नहीं रहता। अक्सर खाली। आज यह सवाब का काम करना अच्छा लग रहा है।”

जब फोन पर फायर अलार्म बंद हुआ स्टीव ने फिर से काउंटर से फोन लगाया। काउंटर वाला शख्स चिढ़ चुका था। पर इस मुल्क में कोई किसी को लैंडलाइन का प्रयोग करने से मना नहीं कर सकता। यह बेअदबी है। पैसे देने की बात स्टीव कह ही चुका था। सो वह चुप रहा।

“कौन से नंबर की फायर ब्रिगेड।”

“तेरह।”

“बस उसका फ्लैट वहीं कहीं होगा आसपास।”

कैफेटेरिया में चार लड़कियां आई थीं। उन सबके बालों और कंधों पर बर्फ के कतरे पड़े हुए थे। उनमें से एक लड़की स्टीव को देखकर मुस्कुराई थी। वे चारों थोड़ा दूर एक टेबिल पर बैठ गई थीं। वह लड़की जो स्टीव को देखकर मुस्कुराई थी, अब भी बीच बीच में उसको देख लेती थी। स्टीव खुद में मगन था। लड़की को लगता न जाने सैल फोन पर क्या तो सुनता होगा यह लड़का। कोई जैज, कोई पॉप, कोई नेटिव...पता नहीं, कुछ तो सुनता है। कितना मगन है। पर स्टीव को खयाल भी नहीं आया कि कोई कुछ सोचता होगा कि वह क्या सुन रहा है। जब करने को कोई काम न हो, आप बेरोजगार हों, खाली खाली वक्त हो, तो इयरफोन पर किसी बुजुर्ग औरत की सांसों की आवाज सुनने का तो खयाल ही इतना बौद्धिम है, कि किसी को कभी इसका इल्म भी न हो। सो वह निश्चिंत था। दुनिया कुछ भी सोच सकती थी अपनी बला से।

इयरफोन पर क्रिस्टीना की सांसों की आवाज थोड़ा मद्धम हो गई थी। मानो किसी कंदरा से आ रही हो। ध्यान से सुनने पर उसकी सांसों के बीच का अंतराल बढ़ गया लगता था। सांसों की आवाज कमजोर हो गई थी। पल भर को लगता मानो क्रिस्टीना सो रही हो। पर दूसरे ही पल कोई डरावना सा खयाल स्टीव को आता। उसे फायर ब्रिगेड के हैड की बात याद आई— “तुम्हारे हौसले की मैं दाद देता हूँ। हम सब यहां जिंदगी बचाने के लिए ही तो हैं।” उसे लगा मानो कुछ छूटा जा रहा है। कुछ जो ठीक नहीं हो रहा। कुछ जो बेचैन करता है। कुछ जिसके खयाल से मन खौफजदा हो जाता है। वह कैफेटेरिया के बाहर आ जाता है। पाथ वे पर चलता चलता फोन पर फिर से जोर जोर से कहता है— हैलो, क्रिस्टीना हैलो...जागो, उठो...सुनो, सुनो... एक बार बात करो, बोलो, बोलो...तुम ठीक तो हो न...हैलो, हैलो...।

क्रिस्टीना के बंद कमरे में स्टीव की आवाज गूंजती है। आयताकार खिड़की का कांच कांपता है, जब जब वह कहता है— जागो, जागो...बोलो, बोलो...तो आयताकार खिड़की का कांच अपने फ्रेम में कांपता है। उसकी आवाज पर फोन का ब्लिंकर चमकता है— बात करो,

बात करो क्रिस्टीना...हैलो, हैलो...तुम सुन रही हो न...हरा ब्ലिंकर झिझकता सा चमकता है, बुझता है, चमकता है। अभी इसी कमरे तक तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का सायरन गूँजा था।

बाहर तेरह नंबर की फायर ब्रिगेड का ड्रायवर खड़ा है। चारों ओर ऊंची ऊंची इमारतें हैं। इमारतों में हजारों आयताकार खिड़कियां हैं। कांच वाली आयताकार खिड़कियां। आज फ्राइडे नाइट है। लोग अपने अपने घर छोड़कर जाने वाले हैं। शनिवार और इतवार की छुट्टियां मनाने। हर आयताकार खिड़की रोशनी से चमक रही है। वह फायर ब्रिगेड से उतरकर उन खिड़कियों को देख रहा है। इन्हीं हजारों में से किसी एक में क्रिस्टीना है। वह माइक उठाकर जोर जोर से एनाउंस करता है—

“कृपया अपने अपने घरों की लाइटें बंद कर दें। हम एक बुजुर्ग औरत की तलाश में हैं जिसका नाम क्रिस्टीना है।”

...जागो, जागो...बोलो, बोलो...स्टीव ने फिर से सैल फोन पर कहा। क्रिस्टीना के कमरे की निपट निर्जनता में उसकी बात गूँजी...जागो, जागो...

...उसका नाम क्रिस्टीना है। क्रिस्टीना। वह बुजुर्ग महिला है। तेरह नंबर वाली फायरब्रिगेड का ड्रायवर एनाउंस कर रहा था। गिरती बर्फ के बीच से उसकी आवाज गूँज रही थी। गर्म कमरों में बैठे लोगों तक उसकी आवाज पहुंच रही थी— उसका नाम क्रिस्टीना है...क्रिस्टीना...। ठंड से उसकी आवाज कांप रही थी। वह लगातार एनाउंस कर रहा था—

“कृपया लाइट बंद कर दें। इस तरह हम उसे ढूँढ पाएंगे। आप लाइट बंद कर देंगे तो हम उस खिड़की को देख पाएंगे जिसकी लाइट बंद नहीं हुई।”

चारों ओर से लोग उमड़े पड़ रहे थे। हर तरफ से लोग चले आ रहे थे। फ्राइडे नाइट थी। आगे वीकेंड था। पाथ वे पर, स्ट्रीट्स में, पब में, रेस्तरां में...हर जगह, लोग ही लोग। लोगों से टकराता चलता स्टीव लगातार बोल रहा था...हैलो क्रिस्टीना, हैलो...।

हजारों जगमगाती आयताकार खिड़कियों वाली बिल्डिंगों को देखता तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्रायवर बार बार चिल्ला रहा था— “कृपया अपने अपने घरों की लाइटें बंद कर दें।” सब लोगों को उसकी आवाज सुनाई दे रही थी। घर में कुछ लोगों ने आपस में एक दूसरे से पूछा था— क्या तुम किसी क्रिस्टीना को जानते हो? एक आदमी ने एक दूसरे फ्लैट के आदमी से फोन लगाकर पूछा था कि वह जो बुजुर्ग औरत रहती है उसके पड़ोस में कहीं उसका नाम तो क्रिस्टीना नहीं? दूसरी तरफ से जवाब आया था— नहीं। उसका नाम तो सुजान है। हर तरफ तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड के ड्रायवर का एनाउंसमेंट सुनाई दे रहा था— लाइटें बुझा दें, बुझा दें...।

भागती दौड़ती दुनिया बेखबर थी, अपनी धुन में जाने क्या क्या बड़बड़ाता स्टीव रास्ते गुजरता जा रहा था...सुनो, सुनो...बोलो, बोलो...क्रिस्टीना...

हजारों आयताकार खिड़कियों से आती रोशनियां बुझ रही थीं, एक के बाद एक, धीरे धीरे, क्या तुम जानते हो किसी क्रिस्टीना को?...न, नहीं, मैंने नहीं सुना, क्या कहा कोई बुजुर्ग औरत है, पता नहीं, इधर कहीं ही रहती है क्या, किस तरफ, मैंने कभी नहीं सुना, कैसी दीखती है वह, नहीं, नहीं तो, इधर पर, न, इधर तो कभी नहीं सुना...हजारों आयताकार खिड़कियों की रोशनी बुझ रही थी, एक के बाद एक, मैं किसी क्रिस्टीना को नहीं जानता ऐसा कहकर एक आदमी ने बुझाई थी लाइट, पता नहीं कौन है ऐसा कहकर दूसरे ने...एक चुपचाप गाना सुन रहा था, उसने पल भर को उसका नाम सुना था— क्रिस्टीना और आपने बेटे को लाइट बुझाने

को कहा था, एक ने बिना कुछ सुने ही बुझा दी थी लाइट, एक बालकनी से झांक रहा था तसल्ली से लाइट बुझाने के बाद, 'बुजुर्ग औरत हुंह' ऐसा कह कर एक लंपट लड़के ने बुझाई थी लाइट...लाइटें बुझ रही थीं, बिल्डिंग की दीवार पर से मिटती जा रही थीं आयताकार कांच की खिड़कियां। तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्राइवर को लग रहा था कि जिस आयताकार खिड़की की लाइट न बुझेगी वह क्रिस्टीना के फ्लैट की लाइट होगी। जरूर वही होगी।

आताकार खिड़कियों की लाइटें बुझ रही थीं लगातार, हुंह कौन है यह क्रिस्टीना...एक औरत ने झल्लाकर लाइट बंद करते हुए कहा था, उप्फ ये क्या मुसीबत। एक दूसरी ने अनमने ढंग से बंद की थी बत्ती, एक की बत्ती कुछ इस तरह बंद होती थी जिससे टी.वी. भी बंद होता था और उससे फुटबाल का मैच बाधित होता था, उसके फ्लैट की बत्ती देर से बंद हुई थी, ज्यादातर फ्लैटों की बत्तियां एक साथ बंद हुई थीं यह कहते हुए कि वे सब किसी क्रिस्टीना को नहीं जानते...

कैफेटेरिया में लोगों का सैलाब उमड़ आया था। एक गायिका गाना गा रही थी। कुछ लोग शराब पी रहे थे। बाहर आती जाती गाड़ियों के हार्न की आवाजें थीं। रात गहरा रही थी और शहर जाग रहा था। अंधेरा बढ़ रहा था और लाइटें जगमगा रही थीं एक के बाद एक। बर्फ गिर रही थी और शोर बढ़ रहा था।

आखिर में सिर्फ तीन आयताकार कांच की खिड़कियां बची थीं। सिर्फ तीन आयताकार खिड़कियों से रोशनी आ रही थी। बाकी सब बंद थीं। लोगों को पता था कि अगर बत्ती जलती रही तो अभी कोई फायर ब्रिगेड वाला आकर उनके फ्लैट की बैल बजा देगा। सबने बत्तियां बंद कर दी थीं। अब सिर्फ अंधेरे में डूबी इमारतें रह गई थीं। बर्फ फेंकते आसमान की ओर उठी भुतही अंधेरी विशाल इमारतें जिनमें से एक के बारहवें माले पर तो एक के सातवें माले पर और एक के ग्यारहवें माले पर आयताकार खिड़की चमक रही थी। अंधेरे में डूबी विशाल इमारतें किसी प्रेत की तरह दीख रही थी। उनके निचले हिस्से रोड की लाइटें पड़ने के कारण चमक रहे थे और धीरे धीरे ऊपर की ओर अंधेरा बढ़ता जाता था। ऊपर के सारे हिस्से अंधेरे में समाये हुए थे। गिरती बर्फ में उनका विशाल भुतैल आकार दैत्य की तरह उठा हुआ था आसमान से गिरती बर्फ के घनेपन में समाया हुआ। दो इमारतें तो ऐसी थीं कि वे नीचे से ऊपर तक पूरी तरह से अंधकार के समंदर में डूबी हुई थीं।

तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड के पास खड़ी ऐंबुलेंस की सायरन वाली लाइटें लुकझुक हो रही थीं। फायर ब्रिगेड के कुछ लोग उन तीन खिड़कियों वाले फ्लैटों के दरवाजे चैक कर रहे थे। दो के दरवाजे बाहर से बंद थे और एक अंदर से। जो अंदर से बंद था उसे खोलने में मशक्कत लगी।

थोड़ी देर बाद फायर ब्रिगेड के हैड का मैसेज आया स्टीव के सैल फोन पर। लगभग आधा घंटे बाद।

“हमने कर दिखाया।”

“वह कैसी है? उसकी सांस बहुत कमजोर हो गई थी।”

“अब ठीक है। उसे अस्पताल शिफ्ट कर दिया गया है।”

“आपने मुझे आधे घंटे बाद बताया कि वह ठीक है। आपको तुरंत बताना चाहिए था।”

“सॉरी स्टीव।”

फायर ब्रिगेड सर्विस के हैड ने स्टीव को मैसेज किया।

तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्राइवर लौटने से पहले उन इमारतों की ओर देखता

है। गिरती बर्फ के दरमियां जगमगाती हजारों आयताकार खिड़कियां। दूर एक खिड़की खुली है। एक बच्चा उसमें से झांक रहा है। वह उसे देखकर हाथ हिलाता है। इमारतों के बेसमेंट से गाड़ियां निकल रही हैं। लगातार एक के बाद एक। कुछ लोग पैदल जा रहे हैं, फुटपाथ पर। रात दिन में बदल रही है।

तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्रायवर पिछले बारह दिनों से खाली था। उसे शहर का डाउनटाउन इलाके का एक हिस्सा मिला हुआ है। वहां बहुत कम वारदात होती है। पिछले तीन सालों में वहां आग लगने का कोई भी वाकया नहीं हुआ। सिर्फ एक रैस्क्यू उन्होंने चलाया था, एक स्कूल में जिसकी छठी मंजिल पर एक शिक्षक ने खुद को कमरे में बंद कर लिया था और कमरे की खिड़की से लटक गया था।

उसने फायर ब्रिगेड को स्टार्ट किया। अबकी उसने उन इमारतों की ओर नहीं देखा। उसे पल भर को खून से सना क्रिस्टीना का चेहरा दीखा। धीरे धीरे फायर ब्रिगेड सरकने लगी। लबादा पहने एक बच्ची ने सरकती फायर ब्रिगेड को देखकर हाथ हिलाया, वह मुस्कुरा दिया। बच्चों की स्कूल की किताब में फायर ब्रिगेड की फोटो होती है इसलिए वे हाथ हिलाते हैं— उसके साथी ने उससे एक बार कहा था। चारों ओर रोशनी थी। इतनी रोशनी कि लगता था मानो बर्फ गिरनी बंद हो गई हो। वह गाड़ी चलाता लौट रहा था, बीच बीच में हॉर्न के बजने से उसे थोड़ा अच्छा सा लगता था।

स्टीव कैफेटेरिया से बाहर आ गया था। स्ट्रीट के किनारे किनारे पाथ वे पर वह सीटी बजाता टांगें नचाता चल रहा था। पाथ वे पर कोक की एक खाली केन पड़ी थी, उसने उसे पैरों से मारने के लिए अपनी दाहिनी टांग पीछे की, फिर पल भर को रुका और केन को उठाकर पास रखे डस्ट बिन में डाल दिया। डस्ट बिन खरगोश के आकार का था। खरगोश के आकार को देखकर उसने इस तरह हाथ हिलाया जैसे कोई किसी का अभिवादन करता है। पास से गुजरते एक आदमी ने उसे पल भर को देखा, शराब पिए है— यह खयाल उसके जेहन में आया। उसे नहीं पता था कि स्टीव की जेब में सिर्फ डेढ़ यूरो थे और रम का एक पैग तीन यूरो में आता है। उसे यह भी नहीं पता था कि स्टीव को पल भर के लिए शराब पीने की इच्छा हुई थी। पब के सामने खड़े खड़े उसने अपनी पॉकेट से पैसे निकालकर गिने थे। उसे काउंटर वाले शख्स पर गुस्सा आया जिसने उससे फोन करने के चार यूरो ले लिए थे। उसे पैसे देते वक्त उसे लगा था कि वह उसे बता दे कि वह एक मर रही बुजुर्ग औरत की मदद कर रहा था। पर ऐसा कहना उसे ठीक न लगा। अगर यह सुनकर भी वह मना कर देता तो उसे दुःख होता। अपने दुःख की खातिर उसने उसे यह बात न बताई।

उस लड़की ने जो कैफेटेरिया में उसे घूर रही थी उसी ने उससे कहा था कि वह अगर चाहे तो वे दोनों शराब पीने चल सकते हैं। स्टीव ने उससे कहा था कि वह एक जरूरी काम में लगा है। उसने कहा कि वह इंतजार कर सकती है। पर स्टीव का जरूरी काम लंबे समय तक चला। पूरे तीन घंटे। लड़की समझ न पाई कि ऐसा क्या जरूरी काम है। फोन पर हैलो हैलो करने का काम भी कोई काम होता है। थोड़ी देर बाद वह चली गई। कई दिनों बाद यह पहला वीकेंड है जो उसे बिना शराब के बिताना पड़ेगा। उसे टांगें नचाता जाता हुआ देखते पास से गुजरती एक कैब के ड्रायवर ने हाथ हिलाया। उसने भी हाथ हिलाया। कैब का ड्रायवर अपने रियर मिरर में उसे टांगें नचाते गुजरता हुआ देखता रहा।

सामने मुख्य चौराहा था। बर्फ में दफन। रोड के किनारे पेड़ों की एक कतार जिनकी टहनियों पर, पत्तों पर बर्फ पड़ी थी, बर्फ से ढंके उनकी शंक्वाकार चोटियां लाशों की तरह

आसमान की ओर उठी थीं, खामोश और मरी हुई। पेड़ों के नीचे नीचे गाड़ियों की लाइटों की चकाचौंध थी, जो अचानक बढ़ी थी और बढ़ती जा रही थी। सामने घंटाघर पर लटकी घड़ी में बारह बजकर पैंतालिस मिनट हुये थे। किसी को समय देखने के लिए उस घड़ी की दरकार नहीं है, लगता है मानो वह बरसों से रुकी हो, उसका चलना भी रुका हुआ जान पड़ता है। बर्फ की चादर मोटी होती जा रही है और साथ साथ गाड़ियों के हॉर्न की आवाज भी बढ़ती जा रही है। लगता है सुबह तक शहर बर्फ में दफन हो जाएगा, पर लोग आते रहेंगे, सैंकड़ों, हजारों, लाखों लोग जैसे अचानक अपनी कंदराओं से फूट पड़ती हैं दीमकें, चींटियों की कतार लगातार...बस वे शोर नहीं करतीं, ये सब बेतरह शोर करते हैं।

“हैलो मेरा नाम स्टीव है।”

उसने अस्पताल के बिस्तर पर पड़ी क्रिस्टीना को देखते हुए कहा। क्रिस्टीना ने कुछ नहीं कहा। वह चुप थी। डॉक्टर ने बताया कि क्रिस्टीना को अब कुछ याद नहीं। उसकी उम्र छियासी साल है, फिर सिर पर चोट। पता नहीं उसे कभी याद भी आए या नहीं कि उसके साथ क्या वाकया हुआ था?

स्टीव ने थोड़ा झिझकते हुए उसके पास फूलों का गुलदस्ता रख दिया। कारनेशन के फूलों का एक सस्ता सा गुलदस्ता वह खरीद लाया था।

क्रिस्टीना ने उसे पल भर को देखा और फिर दूसरी तरफ देखने लगी। स्टीव ने सोचा था कि वह उसे बताएगा कि उसको ढूंढने के लिए पूरे एक हजार तीन सौ छह घरों के लोगों ने अपने अपने घरों की लाइटें बुझा दी थीं। है न कितनी अद्भुत बात। एक के बाद एक वे बुझती रहीं। इस तरह हजारों की संख्या में वे बुझीं। उसने अच्छा किया जो उसने बताया कि वह जहां बंद है वहां एक आयताकार कांच वाली खिड़की है। सच कितना अच्छा दीखता होगा, इस तरह हजारों आयताकार खिड़कियों की रोशनियों का बुझते जाना, किसी छियासी साल के बुजुर्ग के लिए। वह सोचकर आया था, कि वह कहेगा कि उसने पूरे चार घंटों तक उसकी सांसों की आवाज सुनी थी। उसकी सांसों की आवाज सुनकर उसे सिंपली रैड का एक बहुत पुराना गीत याद आया था— इफ यू डोंट नो मी बाय नाओ— शायद क्रिस्टीना की सांसों की आवाज ऐसी है जिससे उस गीत की धुन की याद आती है।

तभी क्रिस्टीना की बेटी आ गई। स्टीव से मिलकर वह खुश हुई। क्रिस्टीना उसे भी पहचान न पाई।

“इनके घर में बिल्ली आती है। शायद किसी खिड़की से। वह कोई पालतू बिल्ली नहीं है। यह खतरनाक हो सकता है।”

“अरे मुझे नहीं पता। मुझे कभी नहीं दिखी।”

“पर वह है।”

“अच्छा। मैंने इनके फोन पर हरा बटन भी लगवाया था ताकि ये सीधे मुझे रिंग कर पाएं।”

क्रिस्टीना की बेटी को उसके बेटे ने कहा था कि वे फोन पर हरा बटन न लगावाएं। वही हरा बटन जिसके दबाते सीधे क्रिस्टीना का इमरजेंसी मैसेज उसे मिल जाता। मान लो क्रिस्टीना ने वह बटन दबाया और तुम वक्त पर उस तक न पहुंच पाईं तो— उसके बेटे ने शंका जाहिर की थी। उसने कहा था कि कम से कम सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट को तो वह बता ही देगी भले क्रिस्टीना तक न पहुंच पाये। उसका बेटा उसके इस तर्क पर चुप हो गया था।

“सरकार के सोशल वेलफेयर डिपार्टमेंट वाले कह रहे थे कि क्रिस्टीना का फोन व्यस्त था। उन्हें लगा वह कहीं बात कर रही है। सो उन्होंने मान लिया कि वह ठीक है।”

“ओह...।”

स्टीव ने नहीं कहा कि फोन के दूसरी तरफ वह था, इसलिए फोन एंगेज था।

“मैं काम में लगी रहती हूँ। मेरे पास एक पल भी खाली नहीं। इस वाक्ये की बात भी मुझे आज पता चली। पूरे दो दिन बाद। फायर ब्रिगेड वालों का मैसेज था। दो दिन पुराना मैसेज जो मैं आज देख पाई।”

“अरे। पर मैं व्यस्त नहीं रहता हूँ। मैं बेरोजगार हूँ।”

“ओह।”

“ऐसी कोई बात नहीं। यह होता रहता है। यह जिंदगी है।”

“हां यह तो है।”

“तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्रायवर कह रहा था कि उसके पास पिछले तीन सालों से कोई काम नहीं रहा। उसे क्रिस्टीना की मदद करने का यह काम करना अच्छा लगा।”

“बड़ा भला मानुस है। आज शाम जॉर्ज भी आ जाएगा।”

“जॉर्ज?”

“मेरा छोटा भाई है। बहुत दूर से आ रहा है। यू.एस. से। क्रिस्टीना को बहुत चाहता है।”

“ओह। फायर ब्रिगेड सर्विस का हैड कह रहा था कि उनके पास कोई काम नहीं रहता है। काम होकर भी वे बेरोजगार जैसे ही हैं। कि उनके पास बहुत सारा वक्त है।”

दोनों पल भर को चुप हो गए। क्रिस्टीना को उनकी बात का ओर छोर समझ न आ रहा था। उसने खामोशी में खलल डालते हुए कहा—

“अच्छा लगता है कि इस दुनिया में कुछ लोगों के पास वक्त है। कि वे खाली हैं। कि वे फुर्सत में हैं। वे इतने व्यस्त नहीं कि किसी की परवाह भी न पाल पाएं।”

दोनों ने क्रिस्टीना की तरफ देखा। स्टीव ने देखा क्रिस्टीना कि आंखों में आंसू थे। आंसुओं के साथ वह मुस्कुराने की कोशिश कर रही थी।

“मां ये स्टीव है और मैं तुम्हारी बेटी रेबेका।”

क्रिस्टीना की बेटी ने उसके पास आकर धीरे से कहा। क्रिस्टीना ने स्टीव को पल भर को देखा और नजरें फेर लीं। उसने अपनी बेटी को इस तरह देखा मानो किसी अजनबी को देख रही हो। रेबेका ने स्टीव की ओर देखकर धीरे से कहा— सॉरी। स्टीव ने कहा— कोई बात नहीं। रेबेका ने कहा— क्रिस्टीना डांसर थी। स्टीव ने कहा— अमेज़िंग। बैले करती थीं क्या? रेबेका ने कहा— नहीं, एक्जॉटिक करती थीं। स्टीव ने कहा— ओह। रेबेका ने कहा— ऐसी कोई बात नहीं। उसने खुद यह काम किया था। हमने बहुत कठिन दिन गुजारे। स्टीव ने कहा— समझ सकता हूँ। रेबेका ने कहा— क्रिस्टीना खूबसूरत थी। उसे डांस में ठीकठाक पैसे मिल जाते थे। स्टीव ने कहा— क्रिस्टीना आज भी खूबसूरत हैं। रेबेका ने कहा— हां, पर अब उसे कुछ याद नहीं रहता। स्टीव ने कुछ नहीं कहा। उसे लगा अगर क्रिस्टीना समझ पाती, उसकी याददाश्त आ जाती तो उसके पास कितना कुछ था उसे बताने को। पर उसे तो इस वाक्ये तक का इल्म नहीं।

स्टीव अस्पताल से लौट रहा था। उसके सैल फोन पर तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड के ड्रायवर का फोन आया। वह कह रहा था कि वे जब क्रिस्टीना के कमरे में घुस रहे थे तब उस

कमरे में उन्हें स्टीव की आवाज सुनाई दे रही थी। फोन से उठती उसकी आवाज— हैलो, हैलो क्रिस्टीना...बात करो, कुछ कहो...तुम सुन रही हो न...हैलो, हैलो...। उसने कहा कि वह चाहता तो स्टीव को बता सकता था कि उन्होंने क्रिस्टीना को ढूंढ लिया है और अब फोन पर यह सब कहने की कोई जरूरत नहीं। वह चाहता तो उस फोन को बंद भी कर सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया।

“तुम जो कह रहे थे कि आधा घंटे बाद बताया। कि तुम्हें क्रिस्टीना के मिल जाने की खबर तुरंत क्यों नहीं बताई। आधे घंटे बाद क्यों बताई। तुम उस बात का बुरा न मानो स्टीव। तुम मेरी बात को समझो।” उसने कहा।

क्या अंतर पड़ता है जो तुम्हारी आवाज अकेले कमरे में गूंजती थी स्टीव, हो सकता है क्रिस्टीना को ले जाने के बाद भी उस खाली कमरे में जहां उसका खून बिखरा था, जहां वह लाल, पीले और हरे बटन वाला फोन लावारिस पड़ा था, जहां कांच को थामे दीवार पर जमी थी आयताकार खिड़की, जहां फर्श पर थे क्रिस्टीना के गिरने और बेहोश होने के निशान, जहां ठंड में जम रहा था फर्श पर बिखरा उसका खून लाल से गहरा लाल और काला होता, जहां कोई बिल्ली थी अब भी दरवाजे के पीछे छिपी...वहां तब भी तुम्हारी आवाज गूंजी हो स्टीव— तेरह नंबर वाली फायर ब्रिगेड का ड्रायवर उससे कहना चाहता था।

नज़रें, द फु

वुन्र मि/;k;

अनुकृति उपाध्याय का परिचय जरा अपारंपरिक है। उन्होंने हिंदी साहित्य में एम.ए., पी-एच. डी. करने के बाद एम.बी.ए. किया और फिर विधि स्नातक भी हुई। देश विदेश के प्रतिष्ठित वित्त संस्थानों में नौकरी करती रही हैं। जल्द ही उनका हिंदी में कहानी संग्रह और अंग्रेजी में उपन्यास प्रकाशित होनेवाला है। उनकी रचनाएं अनुछुए यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण भी ध्यान आकृष्ट करती हैं।

“सारी, देयर्स नो पल्स। ये मर चुकी हैं।”

“जया? जया...” ‘ह्यूमन रिसोर्सेज’ में काम करने वाली लोमड़ीमुंही औरत चिहुंकी, “डैड..लेकिन...”

क्या बेवकूफी है! मुझमें आप सब लोगों से अधिक जीवन है अभी। और डॉक्टर, तुमने बीस पच्चीस साल पढ़ाई की है और मुर्दा और जिंदा में अंतर नहीं बता सकते? ‘ये मर गई हैं’ जैसा फिल्मी डायलॉग असल जिंदगी में कोई बोलता है? मैं हंस पड़ती हूं और अपने कमरे में घिरे हुए लोगों पर फिर से नजर दौड़ाती हूं। दरवाजे के पास सलेटी ‘यूनिफॉर्म’ में एक अधेड़ उम्र का आदमी में खड़ा है। मैं उसका नाम नहीं जानती। वह रोज दोपहर मेरे दफ्तर का कचरादान खाली करता है और हर शाम सफाई की मशीन लिए गलियारे में प्रतीक्षा करता है कि मैं जाऊं तो मेरा दफ्तर साफ करे। आज मैंने उसे पहली बार बिना ‘वैक्यूम क्लीनर’ की दुम सी लटकती नाली और जेबों में पंखों सी अटकी झाड़ुओं के बिना देखा है। उसके होठों के कोने नीचे को खिंचे हैं और वह अपनी आंखें तेजी से झपका रहा है। उसकी बगल में खड़े गार्ड को मैं नहीं पहचानती। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, दफ्तर की बहुमंजिली इमारत है, इसकी तैनाती शायद किसी और तल पर हो। वह अपनी एड़ियों पर जोर डाले कुछ पीछे को झुका,

अपनी छोटी सी, पेटि में कसी, तोंद को साधे मूर्ति सा खड़ा है। मेरी मेज के बाईं ओर खड़ी एच.आर. वाली दीना मछली की तरह अपना मुंह खोल, बंद कर रही है। हमारी कंपनी का मेडिकल ऑफिसर युवा डॉक्टर मेरी कुर्सी के पास खड़ा अपने हाथों पर से रबर के दस्ताने उतार रहा है। आज 'मेडिकल चेक अप' का दिन नहीं है, मैं समझ नहीं पा रही कि डॉक्टर मेरे दफ्तर में क्या कर रहा है। निस्संदेह इसमें दीना की कुछ कारस्तानी है। जबसे मैंने उसके सालाना 'परफार्मेंस रिव्यू' में खरा खरा लिख दिया है, वह मुझसे खार खाए है। हालांकि मैंने एक शब्द भी गलत नहीं लिखा।

पिछले साल दीना के अड़ियलपन की वजह से मुझे बहुत परेशानी हुई थी। मैं अपने विभाग के लिए एक 'असोशिएट' तलाश रही थी। संयोग से मुझे एक शत प्रतिशत सही उम्मीदवार मिल भी गया। वह एक बड़ी कंपनी में बिल्कुल वही काम कर रहा था जिसके लिए मेरे विभाग में जगह थी, सो मुझे कुछ ज्यादा सिखाने समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यानि सही मायनों में एक आलसी बॉस की प्रार्थनाओं का उत्तर था वह। यही नहीं किताबों और अच्छे सिनेमा का भी शौकीन था, आधे इंटरव्यू में विश्व साहित्य और आर्ट सिनेमा पर दिलचस्प चर्चा रही, वह हर टिप्पणी पर सही जगह और सही अनुपात में हंसा था। सोचिए ऐसा कितनी बार होता है कि कोई व्यक्ति 'बैलेंस शीट' भी समझ ले और जेम्स आइवरी भी? मैंने उसे ऑफर दे दिया था। वह भी उत्सुक था लेकिन उसकी तनखाह की मांग ऑफर से कुछ अधिक थी, बहुत ज्यादा नहीं, कुछ पचासेक हजार मगर दीना अड़ गई। हमारा ऑफर बाजार के अनुसार है, उम्मीदवार के अनुभव और योग्यता के अनुरूप है, वगैरह वगैरह, यदि ऑफर बढ़ा देंगे तो वेतन और भत्तों के आंतरिक ढांचे पर असर पड़ेगा, बाकि स्टाफ के प्रति न्याय नहीं होगा, कुछ और वगैरह वगैरह। मैं जानती थी कि वह सरासर बकवास कर रही थी। कंपनी अरबों खरबों का कारोबार करती है, शेयरों के दाम, 'स्टॉक एक्सचेंज' पर प्रतिष्ठा, दोनों बढ़ रहे हैं दिनोंदिन। मैं कंपनी में 'फाइनेन्शियल रिपोर्टिंग' की प्रमुख हूँ। 'डेप्रिसिएशन', 'प्रोविजन', 'फ्री रिजर्व्स' में कितनी संपदा छिपी है, यह मुझसे ज्यादा कौन जान सकता है? मुझे कुछ हजार की कंजूसी इसीलिए और भी ज्यादा खली थी। आखिर में अपने विभागाध्यक्ष और 'कॉम्पनसेशन कमिटी' से राशि बढ़ाने के लिए स्वीकृति लेनी पड़ी थी लेकिन तब तक देर हो गई थी और वह अविश्वसनीय रूप से सटीक उम्मीदवार प्रतीक्षा से थककर किसी और कंपनी का प्रस्ताव स्वीकार कर चुका था। और यह सब सिर्फ दीना के असहयोग की वजह से हुआ था।

खैर दीना के बारे में सोचकर समय बरबाद करने का मौका नहीं है ये। मुझे जरूरी काम है, आज तिमाही आंकड़ों की रिपोर्ट 'बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स' के पास पहुंचानी है, आय और व्यय, लाभ और हानि के महत्वपूर्ण 'नंबर्स'। और इस बार की रिपोर्ट विशेष है। मैं कंधे सीधे करती हूँ। विशेष है और कठिन भी। लेकिन कठिन कामों से बचत कहाँ? आप सब अगर मेरा दफ्तर खाली करें तो अनुग्रह होगा, मैं कहती हूँ और दीना को लक्ष्य कर जोड़ती हूँ, भले ही आपको हो या नहीं, मुझे बहुत काम है। मैं अपनी कुर्सी की ओर बढ़ती हूँ। मेरी कुर्सी विशिष्ट है, 'एरगोनोमिक' तो है ही, शरीर को ठीक बिंदुओं पर संबल देने वाली, साथ ही दफ्तर की अधिसंख्य कुर्सियों की तरह काले रंग की नहीं, मेरे पसंदीदा नीले रंग की। बाकी सभी 'हरमन मिलर' कुर्सियों से हजार दो हजार डॉलर महंगी है। अनंत ने स्वयं इस कुर्सी के लिए विशेष अनुमति दी थी, चीफ फाइनेंस ऑफिसर के तौर पर। एक रोज मैंने उन्हें मजाक में कहा था कि मुझे काला रंग नापसंद है, एलर्जी सी है! 'रेक्विजिशन फॉर्म' पर हस्ताक्षर के बाद उन्होंने लिखा था, काले रंग की 'मैश' से 'एलर्जी' के कारण नीले रंग की कुर्सी...याद करके अपनी

मुस्कान रोक नहीं पाती मैं। लेकिन ये लोग जाते क्यों नहीं? कृपया हटेंगे, मैं भवें कसकर डॉक्टर की ओर देखती हूँ जो मेरे कहने पर ध्यान दिए बिना अपने बैग से कागज निकाल रहा है। वाकई हद है। मैं अपनी कुर्सी खींचती हूँ, या यों कहूँ कि खींचने की कोशिश करती हूँ। बावजूद पांच जोड़ी घूमनेवाले लचीले पहियों के, कुर्सी जरा भी नहीं सरकती। शायद पहियों में कुछ अटक रहा हो। मैं फर्श पर दृष्टि डालती हूँ और मुझे अपने जीवन का सबसे बड़ा धक्का लगता है।

नहीं, जीवन का नहीं, मृत्यु का क्योंकि फर्श पर जो अड़चन है, वह मैं स्वयं हूँ, मेरी मृत देह है। मैं मर चुकी हूँ। बिना शक शुबहे की गुंजाइश के, एकदम निश्चित तौर पर। किसी ढेरों डिग्रियों वाले डॉक्टर के निदान या राय की कोई आवश्यकता नहीं यह बताने के लिए कि मैं मर चुकी हूँ, कोई भी एक नजर देखकर ही जान सकता है। मेरा शरीर फर्श पर बाईं करवट से पड़ा है, मेरी दाहिनी कनपटी के कुछ इंच ऊपर एक जख्म है। देखने में गहरा लगता है, खून रिसकर मेरे बालों में जम गया है। अब जबकि मैं मर चुकी हूँ, मुझे स्वीकारने में एतराज नहीं कि मैं अड़तालीस वर्षों की हूँ, लेकिन मेरे नर्म रेशमी झलक वाले बालों में कुछ ही चांदी के तार हैं। आज सुबह ही मैंने बाल धो डाले थे और ड्रायर से 'ब्लो ड्राय' किए थे, जमे खून का थक्का उनमें विद्रूप लग रहा है। चेहरे पर कोई निशान नहीं, भाव में भी कोई विक्षेप नहीं, वही चेहरा जो मैं रोज दर्पण में देखती हूँ, या अब तक देखती थी, अब तो वह सहसा मुझसे अलहदा हो गया है, या मैं उससे अलहदा हो गई हूँ। कितना विचित्र लग रहा है अपने को यों देखना—नाजुक हड्डियाँ और चेहरे के कटाव मेरी याददाश्त से ज्यादा तीखे हैं, आंखें और धनुष कमान से झुके होंठ वैसे ही हैं अलबत्ता जैसे मैंने हमेशा देखे हैं। माथे पर लगी खूनी मोहर के अतिरिक्त कहीं कोई अंतर नहीं। धरती पर पड़ा मेरा इकहरा शरीर सुव्यवस्थित है, साड़ी का पल्ला सीने पर से होता मेरे कंधे पर यथास्थान है, बस साड़ी पैरों पर से कुछ ऊंची हो गई है और टखने नजर आ रहे हैं। पैरों में पहने हल्के सुनहरी सैंडिल साड़ी की संकरी जरी किनारे से मेल खाते हैं, करीने से कटे घिसे नाखूनों पर हल्के रंग कि नेल पॉलिश है। मुझे अपने पैरों पर गुप्त रूप से हमेशा गर्व रहा है— लंबे, संकरे, मुलायम, एड़ियाँ चिकनी और गुलाबी, मरने के बाद भी। लेकिन मैं ये सब क्या छिछला सतही सोच रही हूँ? अब जबकि मेरे जीवन की सबसे बड़ी, और अंतिम, घटना घट चुकी है मेरे विचार साड़ी और पॉलिश पर अटके हैं? मुझे जीवन और मृत्यु के गूढ़ प्रश्न का उत्तर नहीं ढूँढ़ना चाहिए? मृत्यु के बाद भी बनी रहने वाली इस चेतना के विषय में नहीं सोचना चाहिए? यह इंद्रियहीन चेतना, जिसके चलते मैं सब देख सुन पा रही हूँ, लेकिन किसी प्रकार की स्थूल क्रिया करने में असमर्थ हूँ...अभी अभी मैंने झुककर साड़ी का सिरा खींच अपने पैरों को ढंकने का असफल प्रयत्न करके देखा है...ये अस्थि, मांस, मज्जा का त्वचा मढ़ा ढांचा अब मेरा नहीं है या मैं इसकी बंधक नहीं हूँ। मेरी मस्कारा रंजित बरौनियाँ बिल्कुल सूखी हैं। लगता है अपनी मौत पर मैंने एक भी आंसू नहीं गिराया। क्या हुआ? कैसे हुई मेरी मृत्यु? इस शरीर से अलग होने की कोई पीड़ा अनुभव हुई? कुछ याद नहीं, कुछ भी...

“आय...आय कांट बिलीव इट, विश्वास नहीं होता कि जया...आज सुबह ही मैंने ‘मीटिंग रिक्वेस्ट’ भेजी थी ‘इंटरनल कम्प्लेंट्स कमिटी’ के लिए...” मेरे दफ्तर में अड़े खड़े सभी धीरे धीरे सांस छोड़ते हैं। दीना को शायद कमिटी के कोरम की चिंता है, मैं अनिवार्य सदस्यों में से हूँ। या थी। अभी अभी वह स्थान खाली जो हो गया है। ये कमिटी वैसे खासा सिरदर्द है। मीटिंग हमेशा लंच के दौरान या शाम देर से रखी जाती है और ज्यादातर मामले टूटे प्रेम प्रसंग या ‘न्यूरेटिक’ लोगों की हवाई कल्पनाओं के होते हैं— फलां अपनी सीट से उठकर कॉफी लेने सिर्फ इसलिए जाता है कि मेरी बगल से गुजर सके, ढिमाका हर सुबह बस में मेरे ठीक पीछे

वाली सीट पर बैठकर जोर जोर सांस लेता है, जैसे लोगों को कॉफी पीना और सांस लेना छोड़ देना चाहिए! असली मामले तो कमिटी तक पहुंचते ही नहीं और कभी कभार आते भी हैं तो रफा दफा कर दिए जाते हैं। जैसे हमारे 'चीफ ऑपरेटिंग ऑफिसर' वाला मसला। वो लड़की नई थी, तीखी, होशियार। कमिटी के 'मेंबर्स' के सब प्रश्नों का धैर्य से जवाब देती रही। लेकिन अंत में गुस्से से फनफना उठी जब दीना ने कहा कि उसके आरोप कल्पना हैं। ऐसी भद्दी कल्पनाएं आप ही करती होंगी, मैं नहीं करती। उसके आंसू निकल पड़े थे और दीना का मुंह छोटा हो गया था। 'सी.ओ.ओ.' से उसके घनिष्ठ मेलमिलाप के बारे में बहुत कम ही लोग जानते हैं कंपनी में। मुझे अनंत ने बताया था। खैर उस मामले में नतीजा वही हुआ, कुछ साबित नहीं हो सका, लड़की इस्तीफा देकर चली गई और सी.ओ.ओ. महोदय मूछे चढ़ाए धूमते रहे। बड़ी ग्लानि हो रही है सहसा। मुझे कुछ कहना चाहिए था तब। मैं सी.ओ.ओ. के हथकंडे जानती थी लेकिन बस वक्त बचाने की चिंता थी तब, बहुत समय व्यर्थ हो रहा है इस बवाल में, बस यही लगा था। अब जब समय का अर्थ ही नहीं रहा है, तब लग रहा है कि उस समय कुछ कहा होता तो अब सब इतना निरर्थक नहीं लगता...मृत्यु के बाद अंतहीन समय है, यदि मोक्ष न हो तो, यह मेरी मां ने कहा था, या शायद नानी ने। पिछले दस सालों से, जबसे मेरी मां हूबहू अपनी मां जैसी दिखने लगी हैं, मैं अपनी मां और नानी की स्मृति में अंतर नहीं कर पाती हूं। अपनी मां को देखते हुए मैं सोचा करती थी कि क्या उनकी उम्र में मैं भी उन जैसी दिखूंगी। अब ये जिज्ञासा कभी शांत नहीं होगी लेकिन मोक्ष वाली जिज्ञासा शांत हो जानी चाहिए। कुछ समय में पता चले...मेरे शायद ज्यादा देर नहीं हुई है अभी। मोक्ष वगैरह में मेरी दिलचस्पी नहीं। किससे मुक्ति मिलेगी? इच्छाओं से? शरीर के नाश के बाद इच्छाओं से मुक्ति का अर्थ ही क्या? भोगने का माध्यम ही नहीं रहा तो लालसा खत्म होने में कहां की मुक्ति?

“ये 'मेडिको लीगल' केस है, आप पुलिस को इन्फॉर्म कीजिए पहले, पोस्टमार्टम करना होगा।” डॉक्टर कह रहा है, “मैं एंबुलेंस बुलवाता हूं।”

पोस्टमार्टम? किसलिए? मरने के बाद इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि मैंने सुबह नाश्ते में क्या खाया? पुलिस के बजाए मेरे परिवार को इत्तिला देनी चाहिए। अपनी मां की चिंता है मुझे। बच्चे कॉलज में हैं दोनों, यू.एस. में, अपने जीवन में व्यस्त, पति भी...ज्यादा सोग नहीं मनाएंगे मेरा। मगर मेरी मां...उन्हीं की वजह से मन मसोस रहा है। वे अकेली उस पुराने घर में, जहां कई सालों के गाढ़े जमे दुःख की बोसीदा गंध भरी है, मेरे मरने की खबर कैसे झेलेंगी? मुझे अपनी मृत्यु पर कोई खास एतराज नहीं, जीवन ठीकठाक था— जमा हुआ काम और घर, बच्चे जो बात कम बहस ज्यादा करने लगे थे, पति जो बाहर खुश और घर में अनमना रहता था, कुछ भी ऐसा नहीं कि सहना बरदाश्त के बाहर हो, लेकिन ऐसा भी नहीं कि छूटना ही बरदाश्त के बाहर हो...सिर्फ मेरी मां...ये कतई 'फेयर' नहीं कि जिसने मुझे जन्म देने का कष्ट उठाया, उन्हें मेरे मरने का दुःख भी झेलना पड़े। दो महीनों पहले गई थी मैं मिलने, बाल पहले से ज्यादा सफेद लगे थे लेकिन नजर वैसी ही पैनी— क्या बात? वजन क्यों कम हुआ है? ब्लाउज ढीला लग रहा है...इधर कम सुनने लगी हैं, बातचीत करना मुश्किल हो गया है। वैसे उनसे बातचीत करना हमेशा मुश्किल रहा है। हमारे विचार किसी बात पर नहीं मिलते, कपड़ों के रंगों से लेकर कढ़ी बनाने की सही विधि तक। अब उनसे कोई बहस नहीं करेगा, कोई बिन— मांगी राय नहीं देगा, कोई चुपके चुपके नौकरानी को पैसे नहीं भेजेगा कि काम छोड़कर भाग न जाए...

मेरे दफ्तर का द्वार फिर खुलता है। ऐसा लग रहा है दफ्तर नहीं, चौराहा है, हर कोई बिना दस्तक दिए भड़ से दरवाजा खोलकर चला आ रहा। मेरे साथ मेरे दफ्तर में प्रवेश की

औपचारिकता भी मर गई है। ओहो, सी.ओ.ओ. साहब तशरीफ लाए हैं! सातवें आसमान पर के 'मैनेजमेंट ऑफिस' से उतरकर यहां, प्रजा के बीच। उनके साथ कंपनी का सिव्योरिटी ऑफिसर भी है, उसे देखते ही क्लीनर और गॉर्ड चुपचाप खिसक जाते हैं। सी.ओ.ओ., उनका नाम देवी प्रसाद है, लेकिन इतनी बड़ी कंपनी के इतने बड़े अधिकारी के लिए वैसा पुराने किस्म का नाम ठीक नहीं जंचता, सो वो खुद को डी.पी. कहलवाते हैं। अधिकांशतः लोग उन्हें सर कहते हैं। एक आत्मतुष्टि भरा भाव उनके चेहरे पर सदा रहता है। मेरी डी. पी. से नहीं बनती। अनंत के कारण बहुत झेलना नहीं पड़ता उसको। इस बार पहली बार सीधी टक्कर होने वाली थी। बोर्ड के लिए 'फाएनानशियल्स' पर जो तिमाही रिपोर्ट बनाती हूं उसके लिए आंकड़े हर बार डी.पी. की टीम के लोग मंगा देते हैं। इस बार कुछ जल्दी थी सो डी.पी. के विभाग के बजाय सीधे फैंक्ट्रियों और 'डीलर्स' से 'मैन्यूफैक्चरिंग' और 'सेल्स' के आंकड़े मंगवाए। एकदम आश्चर्यजनक 'फिगर्स' आईं, पहले के आंकड़ों से बिल्कुल अलग। कुछ प्रोडक्ट्स जिनमें हर तिमाही खूब 'सेल्स' दिखती थी, उनमें न के बराबर बिकवाली! बाजार में 'फेल' लग रहे थे उन उत्पादों और पिछले आंकड़ों पर मुझे शक होने लगा। मैंने डी.पी. की अगुवाई में 'लांच' हुए सब 'प्रोडक्ट्स' की जानकारी मंगवाई लेकिन वो कम शातिर नहीं, शायद उसे भनक लग गई थी और तिमाही रिपोर्ट की 'डैडलाइन' तक पूरी जानकारी आई ही नहीं। खैर, जितनी जानकारी मिली थी, उसी के आधार पर रिपोर्ट बना रही थी। इस बार रिपोर्ट पर अकेले काम किया था, अपनी टीम के लोगों को 'इन्वोल्व' नहीं किया था। बेहद संवेदनशील मामला है, अगर मेरा शक ठीक सिद्ध हो तो। 'डैलिबरेट मिस स्टेटमेंट ऑफ फाइनेन्शियल्स'...दंडनीय अपराध। मैंने सिर्फ पूरी तौर से जांच की जाए, यही 'रेकमेंड' किया। अनंत को ठीक ही कभी भरोसा नहीं रहा डी.पी. पर। एक बार बहुत भर गए थे तो कहा था, "ए क्रूड पीस ऑफ शिट, बिल्कुल विश्वास योग्य नहीं।" अब जब मेरा कंप्यूटर खोल के देखा जाएगा तब मिलेगी रिपोर्ट।

"व्हाट हैपंड? कैसे हो गया ए अचानक?"

दीना भूल गई कि कमरे में और लोग हैं। "ओह...डी.पी. अच्छा हुआ तुम आ गए... डॉक्टर पुलिस बुलाने को कह रहे हैं..."

"पुलिस? क्यों?" डी.पी. ने अपनी बांह पर कांपता उसका हाथ झटक दिया और डॉक्टर की ओर मुखातिब हुआ।

"क्लीयरली ये नैचुरल डेथ का केस नहीं है।" डॉक्टर ने कंधे उचकाए, "मेडिकल रेकॉर्ड में कुछ नहीं, किसी तरह की बीमारी का लक्षण नहीं। उम्र भी ज्यादा नहीं और इनके सिर पर चोट है।" ठीक कह रहा है डॉक्टर। मैं तब से ऊलतूल सोच रही हूं। याद करने की कोशिश करनी चाहिए कि कैसे मरी। ये चोट कैसे लगी सिर में?

डी.पी. ने भौहें सिकोड़ीं, "ये चोट तो मेज या कुर्सी से भी लग सकती है।"

वाह, मुझे 'चौनेल' कर रहा है शायद! मुझे भी अभी अभी यही खयाल आया कि मेज के पंजे जैसे पाये या कुर्सी के पहिये से तो नहीं लगी चोट।

"मेरे मत में नहीं। चोट का 'एंगल' और 'ट्रामा' देखकर ऐसा नहीं लगता, कुर्सी वगैरह से लगी है। और वह देखिए।" डॉक्टर ने अंगुली से मेज के पाये की ओट में पड़ी एक वस्तु की ओर इशारा किया। कंपनी के साठ वर्ष पूरे होने के अवसर पर दिया गया स्मृतिचिह्न, एक सदाबहार पेड़ की 'आर्टिस्टिक' अनुकृति, लंबा, चिकना तना और डालियों का ठोस चंदोवा। ये 'मेमेंटो' छतनार वृक्ष के बजाए मुझे तो 'न्यूक्लियर' विस्फोट के बाद का कुकुरमुत्तेनुमा बादल दिखता था। "उस 'ऑब्जेक्ट' से ये घाव हो सकता है, उसका सिरा काफी भारी लगता है।

खुद तो अपने सर में नहीं मार सकती थीं इसे।”

“कौन कह सकता है क्या कर सकती थी...” दीना भुनभुनाई।

“ये हमारा ‘गोल्डन जुबली’ का मेमेंटो है, जया की मेज पर रखा रहता था। हो सकता है। जब जया गिरी हो तो झटके से लुढ़ककर उसके माथे पर गिर गया हो।”

मुझे कहना पड़ेगा कि डी.पी. की बात में वजन है। वाकई ये ‘मेमेंटो’ एक कोने पर रखा रहता था, ‘बेस’ कुछ ढीला हो गया था, सो डगमग डगमग हिलता भी था।

“लेकिन सवाल ये है कि गिरीं कैसे? कोई ‘मेडिकल रीजन’ नहीं लगता, मैंने इनके पिछले ‘मेडिकल चेकअप’ की रिपोर्ट देखी है। ये भी तो हो सकता है कि किसी ने ये ‘पीस’ उनके सर में दे मारा हो।” डॉक्टर का स्वर कुछ पैना है।

“यानि मर्डर? तुम कह रहे हो कि किसी ने जया का मर्डर कर दिया? इस बिल्डिंग में जहां अंदर घुसने के लिए ‘बायोमैट्रिक’ कार्ड चाहिए और जहां जगह जगह गार्ड्स हैं?”

“लुक मिस्टर प्रसाद मैं सिर्फ इतना कह रहा हूँ कि बिना पोस्टमार्टम के इनकी डैथ के रीजन्स के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसे में मैं डैथ सर्टिफिकेट नहीं दे सकता। समय बर्बाद करने के बजाए पुलिस स्टेशन फोन करना चाहिए।” युवा डॉक्टर का चेहरा लाल पड़ गया है।

“तुम कैसी बातें कर रहे हो डॉक्टर? जया को कौन मारना चाहेगा? नॉर्मल किस्म का जीवन। कोई ‘हाई प्रोफाइल’ नहीं थी। हमारी कंपनी में फाइनेंस की एक टीम ‘हैड’ करती थी, पति भी ‘मल्टीनेशनल’ में ‘मिडिल मैनेजमेंट’ में...यहीं नजदीक एक बिल्डिंग में उसका भी ऑफिस है, दो बच्चे। आई मीन नथिंग रिमार्केबल...”

बहुत अच्छा। यानि मैं हत्या लायक महत्वपूर्ण नहीं हूँ। ‘मिडिल मैनेजमेंट’ और ‘मिडिल क्लास’। मुझमें ऐसी कोई खासियत नहीं कि कोई मुझे मारना चाहे। लेकिन बात वस्तुतः ठीक है। मेरी न किसी से ऐसी दुश्मनी है, न ऐसा प्यार कि हत्या का प्रश्न उठे। आज सुबह कुछ खास बात हुई हो, ऐसा याद नहीं आता। रोज की तरह दफ्तर आई थी, कॉफी पीते हुए ईमेल देखी थीं, डी.पी. की रिपोर्ट का ड्राफ्ट दिखाने के तकाजे वाली ईमेल का टालू जवाब दिया था, और रिपोर्ट पर काम में जुट गई थी। उसके बाद क्या हुआ था यह बिल्कुल याद नहीं आता लेकिन सुबह से लेकर दोपहर तक मैं कौन सी जानलेवा दुश्मनी पैदा हो सकती है? क्या समय हुआ है? हमेशा की तरह घड़ी खोलकर मेज पर रख दी थी सुबह आते ही, यहां से दिख नहीं रही। मेज के पास जा कर देखनी पड़ेगी।

“शी वाज आल्वेज अनस्टेबल ऑन हर फीट। कितनी बार ऑफिस में गिरी है।” दीना कह रही है, “कुछ महीने पहले ऑफिस की सीढ़ियों से गिर गई थी और दो हफ्ते पहले मीटिंग के बाद बोर्ड रूम से निकलते समय।”

बिल्कुल लोमड़ी है ये। सीढ़ियां गीली थीं, हम दोनों ही फिसले थे। ‘हॉउस कीपिंग स्टाफ’ ने फर्श धोने का साबुन अधिक परिमाण में डाल दिया था। ऑफिस भर के लोग गिरे थे। और उस दिन मीटिंग के बाद किसी ने कुर्सी को जोर से धकेल दिया था, मेरे पांव से टकराई थी और मैं लड़खड़ा गई थी। दीना ऐसे कहानी गढ़ रही है जैसे मैं हमेशा गिरते पड़ते रहने वाली बेढंगी सी औरत हूँ। डी.पी. सहमति में गर्दन हिला रहा है।

“हां बिल्कुल। लंच रूम में भी गिरते गिरते बची थी अभी कल परसों।”

ये सरासर झूठ है। मैं एकजेक्यूटिव लंच रूम में जाती ही नहीं। लंच का ही समय होता है जब अनंत से कुछ देर बैठकर बात कर सकती हूँ अपने या उनके दफ्तर में, बाकी समय

मीटिंग और काम की भागदौड़ लगी रहती है।

“यू मस्ट थिंक केयरफुली...मर्डर वगैरह कहने से पहले। कंपनी की रेप्यूटेशन पर क्या असर पड़ेगा ऐसी बात का? तुम भी कंपनी की ‘रीटेनर’ पर हो, एक तरह से ‘स्टाफ’ ही हो, तुमको सोचना चाहिए। ‘बिजनेस पेपर्स’ में ‘हेडलाइन’ होगी ‘एक्जेक्यूटिव फाउंड मर्डर इन ऑफिस ऑफ बिलियन डॉलर कंपनी’। खलबली मच जाएगी...‘शेयर=प्राइज पर असर पड़ेगा।... कस्टमर्स, स्टाफ, सब पर असर होगा। सोचकर ही माथा चकराने लगता है।” डी.पी. को सबकी चिंता है लेकिन इस घटना से सबसे अधिक प्रभावित व्यक्ति, यानि मेरी, नहीं। अगर कहीं सचमुच ही मेरा मर्डर... ये ‘ऑफिस सिक्योर्ड’ है, सिर्फ स्टाफ और ‘ऑथराइज्ड’ लोग ही आ जा सकते हैं। पुलिस जांच से कितनी असुविधा होगी, जरा सोचो? सब पर शक किया जाएगा, पूछताछ, थाना कोर्ट। ‘प्रोडिक्टिविटी’ और ‘मोराल’ दोनों का कचरा हो जाएगा।”

“लेकिन ये जो मरी हैं, ये भी तो आपकी ‘कुलीग’ थीं, आप जानना नहीं चाहेंगे इन्हें क्या हुआ। अगर कुछ ‘फाउलप्ले’ हो तो?”

“जो रहा नहीं उसके परलोक के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, डॉक्टर, और जो हैं उनके इस लोक की चिंता करनी चाहिए। मरना तो खैर सबको है, बहाने हैं।”

वाह! बहुत दार्शनिकता की बातें कर रहा है डी.पी., जब खुद का पालतू कुत्ता मरा कई दिन ऑफिस नहीं आया। ‘पॉइजनिंग’ का शक था, सुना था अपनी बिल्डिंग में इनाम की घोषणा की थी जहर देने वाले की सूचना के लिए। लेकिन मेरी मौत बस बहाना है। बहुत खूब!

“फिर जया की ‘इंश्योरेंस’ खटाई में पड़ जाएगी अगर मर्डर वर्डर का शक भी उठा। ‘इंश्योरेंस कंपनीज’ यों ही मुश्किलें पैदा करती हैं। इसकी फैमिली को कुछ नहीं मिलेगा।”

“‘सब्टेंशियल’ पैसा है ‘इंश्योरेंस’ का।” दीना जोड़ती है, “कंपनी का लिया हुआ ‘कवर’ है। बहुत अच्छी पॉलिसी है।”

मेरे परिवार का बहुत खयाल है लेकिन अभी तक उन्हें बताने का सोचा भी? यहां बहस में जुटे हैं सब। मेरी बेचारी मां...उन्हें कौन बताएगा? कैसे?

“मेरी राय में तो जया के मर्डर की उतनी ही संभावना है जितनी बंबई में बर्फवारी की। तुम क्या निश्चित तौर पर और दावे से कह सकते हो कि ये ‘नैचुरल कॉजेज’ से नहीं मरी? सीजर या दिल का दौरा नहीं हो सकता? एकदम सौ प्रतिशत ‘सर्टेनिटी’ से कह सकते हो कि सामान्य मौत नहीं है?” डी.पी. वकील है। ‘सच ए बुली’। धौंस, धमकी और जिरह पेशा रह चुका है कंपनी ‘जॉइन’ करने से पहले। और पहले ही क्यों, अब भी। डॉक्टर इतने प्रश्नों की बौछार से घबराया नहीं है।

“मेडिकल सर्टेनिटी से ऐसा नहीं कह सकता इसीलिए पोस्टमार्टम की जरूरत है और उसके लिए पुलिस रिपोर्ट...”

“हम पुलिस कमिश्नर को अच्छी तरह जानते हैं। उसकी बीवी के ‘एन. जी. ओ.’ को कई सालों से ‘सपोर्ट’ कर रहे हैं, बहुत पैसा देते हैं हर साल।”

युवा डॉक्टर डी.पी. का मुंह देखता रह जाता है। इससे पहले कि वह कुछ कहे मेरे दफ्तर का दरवाजा फिर खुलता है। अनंत हैं। इतने लोगों को देख अप्रतिभ होते हैं, लेकिन तुरंत संभल भी जाते हैं।

“क्या बात है? यहां से गुजर रहा था, भीड़ सी देख कर...” अनंत प्रश्न से डी.पी. की ओर देखते हैं।

“एक बुरी खबर है। देयर्स बिन ए ट्रेजेडी।”

“ट्रैजेडी? व्हाट ट्रैजेडी?” अनंत के चेहरे पर प्रश्न गहरा हो गया है, “क्या हुआ? जया कहां है?” उनके स्वर में अपना नाम सुनकर मरने के बाद भी उफान उठता है मुझमें। मैं उन्हें छूना चाहती हूं, बांहों में लेकर उनकी विशिष्ट गंध सूंघना चाहती हूं। लेकिन वह सब, जो वाकई मेरा कभी नहीं था, अब मैंने खो दिया है। हमेशा के लिए। डी.पी. कुछ कहे इससे पहले वे आगे बढ़ आए हैं। ओह गॉड...उनका चेहरा पीला पड़ गया है, मेज का सिरा पकड़ कर खुद को साधने की कोशिश कर रहे हैं। “ये...ये...कैसे...? हाउ? क्या हुआ यहां?” उनका कंठ भर्रा गया है।

डी.पी. अनंत की ओर नहीं देखता, उन्हें स्वस्थ होने का मौका देता है। अनंत का और उसका ऑफिस अगल बगल है। मैनेजमेंट फ्लोर पर। मुझे अनंत के कमरे में आते जाते देखा है। वह जानता है मैं अनंत को ‘डायरेक्टली रिपोर्ट’ नहीं करती। शायद और भी कुछ जानता हो...

“वी डोंट नो। मुझे जया से बोर्ड मीटिंग के बारे में जरूरी बात करनी थी। जब ‘इंटरनल फोन’ और ‘मोबाइल’ दोनों पर जवाब नहीं आया तो मैंने गार्ड को भेजा। दीना भी इसी फ्लोर पर थी, गार्ड के साथ आई और...”

तो इस अनजान गार्ड और इस लोमड़ीमुंही ने मुझे सबसे पहले देखा, इनकी अनपहचानी करुणाहीन आंखें मेरी मृत देह पर सबसे पहले पड़ीं...अनंत कोशिशकर संयत होते हैं। गहरी, दबी सांसों से उनकी छाती हिल रही है। मैं उनके निकट खड़ी हूं लेकिन वे सांसें मुझे छू नहीं रहीं...

“पार्था।” वे डॉक्टर की ओर देखते हैं। डॉक्टर की कंपनी में नियुक्ति उनके संदर्भ से हुई है, वह उनके कॉलेज के मित्र का बेटा है, “पार्था, कैन एनीथिंग बी डन...? व्हाट हैप्पंड...?”

“अनफॉरच्यूनेटली ये कुछ घंटों पहले...शीज बिन डैड फॉर ए फ्यू आवर्स”, डॉक्टर की आंखें अनंत पर टिकी हैं, “ये ‘नैचुरल डैथ’ नहीं लगती है, अंकल।”

“डॉक्टर का कहना है कि किसी ने जया का मर्डर कर दिया है।” डी.पी. सपाट स्वर में कहता है। उसकी आंखें भी अनंत पर टिकी हैं।

“मर्डर...?” अनंत का स्वर प्रतिध्वनि सा है, “मर्डर...”

“ऐसा इनका कहना है। मैं पिछले पैंतालीस मिनट से ऊंचनीच समझा रहा हूं। मर्डर की बात एकदम एब्सर्ड है। व्यर्थ पुलिस वाले आकर निजी जीवनो की खोद खाद करेंगे। मैं जानता हूं, वकालत के दौरान बहुत देखा है। फोन, ईमेल सबकी जांच। मान लो तुमने कभी ‘ऑफिस आवर्स’ के बाहर फोन या मैसेज किया हो जया को तो फिर बेकार पूछताछ, सरदर्द।” अनंत का मुंह जर्द हो गया है। “तुम्हें मैं उदहारण के तौर पर ले रहा हूं, ऑफ कोर्स भले ही जया तुमको ‘रिपोर्ट’ न करती हो, वह तुम्हारे विभाग में काम करती थी, बातचीत वगैरह लाजिमी है लेकिन पुलिस वाले बस कुत्तों की तरह पीछे पड़ जाते हैं।”

मैंने अनंत को इस कदर हिला कभी नहीं देखा है। मैं उन्हें आश्वस्त करना चाहती हूं, कहना चाहती हूं कि मैं उनके मैसेज या ईमेल ‘सेव’ नहीं करती थी, पढ़ते ही मिटा देती थी कि बार बार पढ़ने का लालच न हो जाए...आधी रात भेजे प्यार में डूबे संदेश— मुझे छुओ, जया मैं मर रहा हूं...मैं तुममें समाना चाहता हूं...मैं उन्हें कहना चाहती हूं कि ऐसा कुछ नहीं है कि उन पर आंच आए।

“मैं डॉक्टर को कह रहा हूं हो सकता है जया की तबियत खराब हो, चकराकर गिर गई हो, चोट तो एकदम मामूली लगती है।” डी.पी. कहे जा रहा है, “लेकिन ये ‘कंसीडर’ करने

को तैयार नहीं...”

“डी.पी. ठीक कह रहा है, पार्था। ये दफ्तर है, इतने लोगों की भीड़भाड़ में मर्डर...?” उनका स्वर मद्धम है, वे अपना गला साफ करते हैं, “पिछले हफ्ते से जया की तबीयत ठीक नहीं थी। चक्कर, कमजोरी वगैरह का जिक्र कर रही थी...” मैं अनंत की ओर आश्चर्य से देखती हूँ। वे जानते हैं पिछले हफ्ते मामूली सा ‘वाइरल’ था। ठीक भी हो गया था। इस हफ्ते मैं ‘मैराथन’ की ‘ट्रेनिंग’ फिर से शुरू करने का सोच रही थी।

“मैं पुलिस या ‘डिटेक्टिव’ नहीं हूँ।” डॉक्टर का मुँह तल्ल हो गया है, “एज ए डॉक्टर सिर्फ ये कह सकता हूँ कि कुछ ठीक नहीं लग रहा है। आप खुद देखिए, अंकल...”

अनंत ने मेरे मृत शरीर पर से दृष्टि हटा ली है, उनकी आंखें ठीक मुझ पर पड़ रही हैं, मुझे होकर गुजर रही हैं, “हमें इस परिस्थिति का प्रैक्टिकल सोल्यूशन सोचना है, माने जो घट गया सो घट गया, अब आगे का रास्ता देखना है। पार्था, तुम्हें ध्यान से सोचना चाहिए, जया का निजी जीवन उसके जाने के बाद उधेड़ना और बाकियों का भी...तुम्हें सोचना चाहिए...”

डी.पी. दीना की ओर देख रहा है, एक गूढ़ दृष्टि जो दीना की आंखों में खुल गई है। वह धीरे से कहती है, “इस ‘एज’ में ‘मीनोपॉज’ के कारण तरह तरह की ‘हेल्थ प्रोब्लम्स’ हो जाती हैं। मुझे लगता है जया को उसी कारण...” इसे जरूर पता होगा, मुझे से कुछ साल बड़ी जो है उम्र में ये लोमड़ी।

मैं एक ओर हट जाती हूँ। मैं मृत्यु से उकता गई हूँ। ‘बोर्ड ऑफ डैथ’। कोई बड़ी बात नहीं मरना। ‘शेयर प्राइज’, असुविधाएं, भय ये सब मृत्यु से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं और जिंदा लोगों का उनके बारे में सोचना ठीक है। लेकिन डॉक्टर अड़ा हुआ है, “मैं ‘डैथ सर्ट’ नहीं ‘इश्यू’ कर सकता। ‘इट्स अगेंस्ट माय कांशस’।”

“हमने तुम्हें अपने ‘कांशस’ के खिलाफ कुछ भी करने के लिए नहीं कहा है, डॉक्टर। अगर ऐसा करना होता तो हम तुम्हें याद दिला देते कि तुम्हारी प्रैक्टिस मोटे ‘रिटेनर’ पर कंपनी के लिए काम करती है। लेकिन हमारा ऐसा कोई इरादा नहीं, कोई गलत नीयत नहीं। अगर जरा भी शक होता, किसी भी तरह का तो अभी तक बात कहीं की कहीं पहुंच गई होती।” डी.पी. का स्वर धमकी और पुचकार में ठीक आधा आधा बंटता है, “मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या ये संभव नहीं कि ये चोट जो तुम्हें परेशान कर रही है, मरने के बाद लगी हो?” वह फिर अपनी काल्पनिक कचहरी में पहुंच गया है।

“बहुत मुश्किल है...”

“मुश्किल या आसान नहीं पूछ रहा हूँ, हां या ना पूछ रहा हूँ।”

डॉक्टर का चेहरा तन गया है। साफ है कि उसका कोर्ट में वकीलों से साबिका नहीं पड़ा है, जिरह के पैतरे से वह डरता नहीं, “मिस्टर प्रसाद, मेडिकल साइंस में हां ना मैं जवाब फिल्मों में होते हैं। मेरा ‘प्रोफेशनल व्यू’ है कि...”

“पार्था, जल्दबाजी मत करो। गंभीर मामला है। एक बार अपने डैडी से बात करो, उनसे सलाह लो।”

मैं सोचती थी कि जब मरुंगी मुझे इस बात का गर्व होगा की रीतियों और रूढ़ियों से परे, मैंने खुद को एक मौका दिया, अनंत के निकट होकर अपने को नए सिरे से जानने का मौका। इस समय मुझे कोई गर्व महसूस नहीं हो रहा। मेरा दिल, जो धड़कना बंद कर चुका है, टिस रहा है।

“डैडी क्या कहेंगे? वो इस केस पर नहीं हैं।”

“वो सीनियर हैं और उनकी प्रैक्टिस का कंपनी के साथ कांट्रैक्ट है। उनकी सलाह के बिना तुमको राय नहीं देनी चाहिए।” अनंत का स्वर कड़ा है, “डी.पी. — जया के ‘हस्बैंड’ को बुलाना चाहिए। उसकी राय जरूरी है, ‘इंश्योरेंस’ वगैरह पर ‘इफेक्ट’ पड़ा तो उसका नुकसान है।” अनंत मेरे पति से एक बार मिले थे, ऑफिस पार्टी में सरसरी तौर पर। फिर कभी मत मिलाना मुझे उससे, मेरी बरदाश्त के बाहर होगा, भिंचे गले से उन्होंने मुझे उसी शाम कहा था...

“मिस्टर जयदेव? हाउ आर यू?...असल में कुछ बात है...जी, गंभीर ही है। आप जरा आ पाएंगे यहां हमारे ऑफिस? जया की तबीयत कुछ ठीक नहीं...नहीं, हॉस्पिटल नहीं, यहीं ऑफिस में हैं...। आप आ जाएं, फोन पर बात मुश्किल है। गाड़ी भेजूं आपके लिए?...ठीक है। आपको नीचे सिक्स्योरिटी ऑफिसर मिल जाएगा। सी यू।”

अनंत भी फोन पर बात कर रहे हैं, “चौधरी? अनंत हियर। यहां कंपनी में एक दुर्घटना हो गई...मेरी कुलीग...पार्था इस ए बिट कन्फ्यूस्ड। समझ नहीं पा रहा है...हां, बच्चा है...तुम बात करो...नीडलैस ट्रबल...या...थैंक्स।”

‘नीडलैस ट्रबल’। अनचाही परेशानी। मृत्यु जीवन के लिए ‘नीडलैस ट्रबल’ है। मैं खिड़की के पास खड़ी हूं। खिड़की का परदा हमेशा खींचे रखती हूं। दरअसल खिड़की ऑफिस की बिल्डिंग के सामने की ओर है। सिगरेट पीने वालों का अड्डा है नीचे। सब के सब समय असमय जुटे रहते हैं। बिल्डिंग से निकल दौड़े आते हैं, सिगरेट के डिब्बे अभद्र जल्दबाजी से जेबों से निकालते, हवा को पीठ दे माचिस जला सुलगाते और लगभग अश्लील राहत के साथ लंबा कश ले धुंआ छोड़ते हैं...‘वैनेशियन ब्लाइंड’ की दरारों से बिल्डिंग के पोर्टिकों में रुकती जय की गाड़ी दिखाई देती है। हमारे ऑफिस पांच मिनट की दूरी पर हैं लेकिन हम अलग अलग आते हैं। जय की गाड़ी ड्राइवर चलाता है, मैं खुद ड्राइव करती हूं। कोई पूछे या आश्चर्य जताए, तो कह देती हूं— हमारा सुबह का ‘रिदम’ अलग अलग है...मुझे ड्राइव करने का शौक नहीं है लेकिन सुबह सुबह, अर्थव्यवस्था या ‘स्टॉक मार्केट’ पर ‘पॉडकास्ट’ सुनने का शौक उससे भी कम है।

जय गाड़ी से उतर पड़ा है। उसके और मेरे नाम में सिर्फ एक मात्रा का अंतर है। शादी के समय अच्छा शगुन माना गया था इसे। हमेशा एक रहेंगे, नाम तक एक से हैं। सिक्स्योरिटी ऑफिसर ‘पोर्टिको’ में मौजूद है। आगे बढ़कर फौजी गर्मी से जय से हाथ मिलाता है। मेजर था फौज में। रिटायरमेंट लेकर कंपनी का एस. ओ. है वर्षों से। मानसून की सालाना बाढ़ से लेकर बिजली का ‘ग्रिड डाउन’ होने तक सब स्थितियों में उसका ही आसरा है। गजब की सूझबूझ है उसकी, अजीबोगरीब सब मामले सुलझाने में माहिर। अभी कुछ दिन पहले रिसेप्शन पर मजमा सा लगा था, मैं भी रुककर देखने लगी। एक तीस बत्तीस साल का आदमी गुस्से में कांप रहा था, मुंह से फेन उड़ता धमकियां दे रहा था। एस. ओ. कहीं से लंबे डग भरता आया। मिनटों में माहौल बदल गया। आदमी धमकाने के बजाए सिसक रहा था और एस.ओ. उसकी पीठ सहला रहा था। फिर वह उस आदमी को लिफ्ट तक छोड़ आया। मुझे कहा— अपनी पत्नी को ढूंढता आया था, कंपनी में काम करती है, घर छोड़ आई है। मैंने समझा दिया कि कोई भी सिचुएशन इतनी बुरी नहीं कि एक गिलास ठंडी लस्सी और छः किलोमीटर दौड़ लगाने से न सुलझे। मैं चमकृत हुई थी। एस.ओ. जय के साथ दफ्तर में दाखिल हो रहा है, उसकी चिंतित आंखें जय पर लगी हैं। शायद ऊपर आते समय लस्सी और दौड़ वाली सलाह भी दे चुका हो जय को।

“मिस्टर देव...” डी.पी. जय से हाथ मिलाता है। हाथ मिलाते हुए जय की निगाह मेरी मेज पर लगी तस्वीरों पर है— मेरे पिता, बच्चे, बिल्डिंग की बिल्लियां। वह पहली बार मेरे दफ्तर आया है, “मिस्टर देव, आएम् वेरी सॉरी...”

“शी इज डैड?” जय का स्वर जरा भी नहीं कांपता, बल्कि कमरे की शांति में कड़ा प्रतीत होता है, फोन कॉल से लगा था मुझे...” जय मेरी मृत देह की ओर बढ़ता है।

“प्लीज डू नॉट टच” डॉक्टर कहता है, “आप ‘बॉडी’ को छू नहीं सकते।”

पीछे खड़ा एस. ओ. एक कुर्सी खींच देता है, धीरे से कहता है, “आप बैठना चाहेंगे?” जय जस का तस खड़ा है। डॉक्टर की चिंता व्यर्थ थी, वह मुझे छूने की कोशिश नहीं करता। गहरी खामोशी में उसके सांस लेने का स्वर सुनती हूँ।

“मैं...” जय कुछ और गहरी सांस लेता है, “शायद बैठना ठीक है।” वह कुर्सी पर एकदम सीधा बैठ जाता है, पीठ कुर्सी की पुश्त से बिना टिकाए। उसके फ्रेंच कफ में चांदी के कफलिंक चमक रहे हैं। आकर्षक आकृति है उनकी, ‘एटरनिटी नॉट’। अनंत की गांठ।

“आप ठीक हैं? पानी मंगवाऊं?”

“आय एम ओ.के.। मुझे बताइये ये कैसे हुआ।” डॉक्टर अपना मुंह खोलता है। लेकिन डी.पी. उससे कहीं फुर्तीला है, वर्षों से दूसरों को बोलने का मौका न देने का अभ्यास है उसे, “हमें ये इसी हालत में मिलीं, मिस्टर देव। ये हमारे कंपनी डॉक्टर हैं, इनका कहना है कि सिर पर इस छोटी सी चोट की वजह से पोस्टमार्टम होना चाहिए।” जय डॉक्टर की ओर देख रहा है। “आय थिंक...” डॉक्टर कहना शुरू करता है लेकिन डी.पी. की बात पूरी नहीं हुई है, “कोई निर्णय लेने से पहले हम आपसे मशविरा करना चाहते थे, इस निर्णय का असर इनके ‘लाइफ इंश्योरेंस कवर’ पर पड़ेगा।”

“इंश्योरेंस?”

“बचे कार्यकाल की ‘अरनिंग्स’ का तीन गुना ‘कवर’ है, साठ साल ‘रिटायरमेंट’ के हिसाब से बारह तेरह सालों की तनखाह वगैरह... ‘श्री टाइम्स’...”

जय चुप रहता है। उसकी आंखें मेरे पैरों पर टिकी हैं। रात दर रात उसके बगल में सोती मैं ऐसी ही दिखती हूंगी। यदि उसने कभी जागकर देखा हो...

“बड़ी रकम है। ‘आय नो’, आप इस सब के बारे में नहीं सोच रहे, ‘इमोशनल’ समय है आपके लिए लेकिन आपको बताना जरूरी है, मैं जानता हूँ कि जया दोनों बच्चों के यू.एस. के खर्च की फिक्र करती थी।”

और तुम जवाब देते थे कि बच्चों को यू.एस. भेजें ही क्यों अगर खर्च उठाने में परेशानी हो। लेकिन डी.पी. के दोगलेपन पर मुझे आश्चर्य नहीं, इतने वर्ष उसके साथ काम किया है। जय डी.पी. को गौर से देखता है। उसकी आंखें हमेशा की तरह भावहीन हैं। “इंश्योरेंस से पोस्टमार्टम का क्या संबंध?”

“शायद कुछ भी नहीं।” डॉक्टर जल्दी से कहता है, “लेकिन ये जानना जरूरी है कि इनकी मौत कैसे हुई...”

डी.पी. फिर उसकी बात काट देता है, “हम सबका विचार है कि, पोस्टमार्टम वगैरह से बेकार का ‘सेंसेशिलिज्म’ होगा, इस समय जब आप बच्चों और परिवार के साथ होना चाहेंगे तब मीडिया वाले घर पर घेरा डाल दें, उल्टी सीधी बातें छापें दिखाएं... गिद्धों के से झुंड हैं ये, ‘पर्सनल’ बातों का संबंधों का कोई लिहाज नहीं तरह तरह की खबरें उछालते हैं और शक खड़े करते हैं। ‘इंश्योरेंस कंपनियां’ भी ऐसी चीजों की ताक में रहती हैं कि पॉलिसी ‘पे’ न करनी पड़े। जया ऑफिस में कई बार चकराकर गिरी हैं, किसी तरह की कोई शिकायत हो उसे...”

“शिकायत?” जय का स्वर कुछ नीचा है, “इस पूरे समय में उसने कभी शिकायत नहीं की, ये ‘ट्रेट’ हमेशा से रहा उसका।”

“मेरा मतलब कोई ‘हेल्थ इश्यू’...?”

“पिछले हफ्ते तबियत ठीक नहीं थी। और लो बी.पी. तो रहता ही था।”

मेरा लो बी. पी. मेरी ढाल थी। व्यर्थ की पार्टियों, मेलमिलाप, देर रात गए होटलों वगैरह में समय बिताना, इस सब में मेरी दिलचस्पी नहीं थी। उसके बजाए बिस्तर में लेटकर शाम भर किताब पढ़ना कहीं सुखकर था। जब पार्टी का निमंत्रण आता या बाहर जाने की बात होती, मेरा बी. पी. गिर जाता तुरंत!

“‘रीसेंट’ था ये लो बी. पी.? कंपनी के मेडिकल चेकअप रेकार्ड्स में कोई मैशन नहीं है।”

“नया नहीं, बहुत सालों से है। ‘ऑफ एंड ऑन’। बेहद ‘वीकनेस’ हो जाती थी।”

“डॉक्टर को दिखाया था?”

“दिखाया ही होगा।”

“आप नहीं जानते?”

जय, एक क्षण डॉक्टर को घूरता है, “नहीं, मैं नहीं जानता। वी वर टू इंडिपेंडेंट पर्सन्स, जया एंड आए।”

“पुराना ‘कार्डियक इश्यू’...” डी.पी. लगभग मुस्कुरा उठता है, “उसी के कारण गिरी होंगी।”

“हो सकता है लेकिन ‘डाउट क्लीयर’ करने के लिए, ‘पोस्टमार्टम’...।”

“आपकी ‘मेडिकल क्यूरियोसिटी’ के लिए मैं अपनी ‘वाइफ’ का ‘पोस्टमार्टम’ नहीं करवाऊंगा।” जय तेजी से कहता है, आंखें उसकी ठंडी रहती हैं लेकिन। “आए डोंट वांट टू एंड एनी हॉरर।”

डॉक्टर की दोनों भवों के बीच में सीधी रेखा खिंच जाती है। वह अब उतना युवा नहीं दिखता। “वॉट इफ इट इज ए हॉरर? कोई ‘ओबवियस’ बीमारी नहीं, ‘टैंपोरल बोन’ में चोट, शायद ‘इंद्राक्रोनियल ट्रामा’ भी।” वह एक क्षण झिझकता है, “इस पर पुलिस रिपोर्ट होनी चाहिए, ‘एक्सीडेंट’ या ‘मर्डर’ दोनों ‘पॉसिबिलिटीज’ हैं।”

“मर्डर?” जय की आंखें सिकुड़ गई हैं, “रिडिक्यूलस। किस तरह की बेहूदी बात है ये?” वह मेरी लाश पर एक दृष्टि डालता है, “कोई सर पैर नहीं इसका, मैं बिना कारण बात बढ़ाना नहीं चाहता, ये मुश्किल और ऊपर से पुलिस, कोर्ट का चक्कर।”

अनंत के फोन की घंटी बजती है, “पार्था, तुम्हारे डैडी। बहुत देर से तुम्हें फोन कर रहे हैं।”

“शिट। ‘सॉरी डैड...फोन साइलेंट था...’ डॉक्टर एक कोने में हो जाता है।

जय अनंत को पहली बार लक्ष्य करता है, “बहुत अफसोस है...” अनंत कहते हैं, “जया और मैं लंबे समय से ‘कलीग्म’ हैं...”

मैं अपनी मेज के पीछे खड़ी होती हूँ, दोनों को एक साथ देखने का यह पहला मौका है। शायद आखिरी भी। ‘मीटिंग ऑवर माए डैड बॉडी’। मेरे जीवित शरीर से जिनका घनिष्ठ परिचय था, मेरी मुर्दा देह के पास खड़े हैं। पहले कभी नोटिस नहीं किया कि दोनों में कितनी समानता है— मंझोली कदकाठी, चौड़े माथे से पीछे को जाते घने बाल और आयासहीन सतर मुद्रा। शादी के शुरुआती दिनों में मुझे जय के सधे कंधे और पीठ और ढीले, लंबे कदमों वाली चाल बहुत आकर्षक लगते थे। कई बार मैं जानकर कुछ कदम पीछे रह जाती थी कि उन्हें चलता देख सकूँ। बहुत साल पहले की बात है ये, जब हम साथ चलते थे...

“मैंने चौधरी से बात की है, किसी तरह की फिक्र मत कीजिए। कोई ऐसी बात नहीं होगी जिससे ये सदमा बढ़े...”

जय उन पर सरसरी नजर डालता है, “आपके ‘काऊ बॉय’ डॉक्टर पर मेरा कोई भरोसा नहीं।”

“डॉ. चौधरी, पार्था के पिता बहुत सुलझे हुए हैं, सीनियर हैं।” जवाब अनंत देते हैं, “मुझे विश्वास है कि पूरी बात समझेंगे।”

डॉक्टर की बात समाप्त हो गई है। वह आगे आता है। उसकी आंखें झुकी हैं। क्षण भर अनिश्चय में खड़े रहने के बाद वह कंधे झटकता है, “मैंने डैड से ‘कंसल्ट’ किया है...” सबकी आंखें उस पर गड़ी हैं। मेरी ओर उसकी पीठ है, धनुष की तरह झुकी हुई, ‘प्रायर हिस्ट्री’ और उम्र को देखकर... ‘नैचुरल कॉजेज’ हो सकते हैं... ‘पैरी मीनोपॉज’ में ‘कार्डियक रिस्क’ बढ़ जाता है...”

“बिल्कुल, बिल्कुल, यही बात है।” डी.पी. कहता है, “कुछ चीजें अनुभव से आती हैं। चलो अब सब खानापूर्ति कर के सर्टिफिकेट वगैरह बनाओ।” वह जय की ओर देखता है, “गर्मी का वक्त है, मिस्टर देव और दो बज चुके हैं। सूरज रहते क्रियाकर्म होना चाहिए। मैं सब इंतजाम करवाता हूँ। आपको कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ेगी।” शाम से पहले? जय इतनी जल्दबाजी नहीं करेंगे। मम्मी तो शायद रात तक पहुंच पाएं और बच्चों को एक दिन लगेगा आने में। “दीना, तुम ‘ग्रेच्युटी’, ‘एरियर्स’ और ‘इंश्योरेंस’ के ‘पे आउट्स’ शुरू करवाओ ‘डैथ सर्टिफिकेट’ बनते ही।”

“शाम से पहले कोई आ नहीं पाएगा...परिवार का कोई यहां नहीं है...” जय के स्वर में अनिश्चय है।

“देखिए मिस्टर देव ये काम जितनी जल्दी हों, अच्छा है। जाने वाले के लिए भी और रहने वालों के लिए भी। लोगों को पचास तरह की बातें करते देर नहीं लगती। रहा परिवार, हम जया का परिवार हैं। दीना, ‘मैनेजमेंट फ्लोर’ पर एक ‘प्राइवेट ऑफिस’ खोल दो मिस्टर देव के लिए। आप इत्मीनान से घर वालों को इन्फॉर्म कीजिए। आए विल टेक केयर ऑफ द रेस्ट।”

मेरा दफ्तर खाली हो गया है। जय, दीना, अनंत चले गए हैं। डॉक्टर एक ओर रखी छोटी ‘विजिटर्स टेबल’ पर बैठकर लिख रहा है। डी.पी. मेरी मेज की ओर आता है, फोन उठाकर नंबर दबाता है। उसके चेहरे पर थकान है। “गरुड़? डी.पी. ‘हियर’। जया का अचानक देहांत हो गया है।...हां दुखद है। अपनी टीम से किसी को भेजो एक मोबाइल ‘सैनिटाइज’ करना है। ‘आल इन्फोर्मेशन नीड्स टू बी रिमूव्ड’ ‘कॉन्टेक्ट्स’ के अलावा...हां कंपनी का मोबाइल है, ‘पर्सनल यूज’ के लिए नहीं था।” कंपनी का फोन लेकिन सब निजी काम में लेते हैं। तस्वीरें हैं और विडियो मेरे फोन पर, बच्चों के, यादों के। खैर मेरी स्मृतियां हैं, मेरे साथ नष्ट हो रही हैं। “और जया का कंप्यूटर लॉक है, उसे ‘रिमोट अनलॉक’ करवाओ तुरंत।...हां, उसके कॉन्टेक्ट्स चाहिए, ‘फ़्यूनरल’ का सब इंतजाम हमें करना है। उसका पति ‘शैटर्ड’ है एकदम।” मेरे कंप्यूटर की ‘स्क्रीन’ रोशन हो गई है। “हां अनलॉक हो गया। थैंक्स।” डी.पी. ने फोन रख दिया है। मेज पर झुककर ‘माउस’ का बटन दबा रहा है। बोर्ड के लिए बनाई आंकड़ों के हेर फेर वाली रिपोर्ट स्क्रीन पर खुल जाती है और डी.पी. के चेहरे पर पसीना झलकने लगता है। अचानक एक फिल्म की रील सी चलने लगती है तेजी से...मुझे सब याद आ जाता है...

डी.पी. बिना दस्तक दिए दफ्तर में घुस आया है। “ड्राफ्ट में क्या देर है, जया?”

“कुछ काम बाकी हैं, ‘डीलर्स’ से कुछ ‘फिगर्स’ मंगाई है, अभी तक आई नहीं है...”
“उनकी कोई जरूरत नहीं, नई नई चीजें शुरू मत करो।”
“नया नहीं, ‘इंडिपेंडेंट टेस्टिंग’ है, ‘सेल्स फिगर्स’ भी निष्पक्ष स्रोतों से आने चाहिए।”
“अपना काम बढ़ा रही हो तुम, और मेरा भी। ‘ड्राफ्ट’ भेजो मुझे पहले।” डी.पी. ‘गोल्डन जुबली’ वाले स्मृतिचिह्न को हाथों में घुमा रहा है।
“ड्राफ्ट वगैरह के लिए समय नहीं है। मैंने अभी तक अनंत को भी नहीं दिखाई है रिपोर्ट। सीधे बोर्ड को ही भेजूंगी ‘फाइनल वर्जन’।”
“अच्छा। ये ‘पेंटिंग’ वही है जो तुमने बनाई थी गोवा वाली ‘ऑफ साइट’ में?” डी.पी. मेरी कुर्सी के पीछे वाली दीवार पर लगे ‘वाटरकलर’ की ओर बढ़ता है। मैं अपनी कुर्सी से उठ खड़ी होती हूँ। मेरी स्क्रीन पर रिपोर्ट खुली हुई है। जल्दी से झुककर ‘माउस क्लिक’ करती हूँ ‘स्क्रीन लॉक’ करने के लिए। फिर सब कुछ एक लाल फेनिल विस्फोट में बिला जाता है...

fnYyh] vks fnYyh

Ñ".k dckj

fnYyh का क्या होगा? दिल्ली छोड़ने के साल भर बाद यह प्रश्न मुझे अक्सर सताता है।

जगहों के साथ जुमले जुड़ जाते हैं। दिल्ली के लिए यह जुमला अभी तक इस्तेमाल होता है— ‘दिल्ली है दिलवालों की’। शायद इसीलिए दिल्ली वालों को यह सवाल नहीं सताता कि दिल्ली का क्या होगा।

दिल्ली वाले हैं कौन? कल तक मैं भी दिल्ली वाला था। सैंतालिस साल पहले मैं दिल्ली आया था। फूलचंद्र से पूछूं तो वह कहेगा— “हां, तुम सैंतालिस साल पहले दिल्ली गए थे।” ‘आए’ और ‘गए’ का फर्क दिल्ली में रहने वाले लाखों लोगों और उनके बचपन के दोस्तों के बीच होगा जो जहां के थे, वहीं रहते रहे आज भी वहीं रहते हैं। इतना मुझे याद है कि मैं कई अन्य का और खुद अपना दिल तोड़कर दिल्ली गया था। घर आना जाना लगातार होता रहता था। जाने पर लोग पूछते थे—

“कब आए?”

फिर अगला सवाल होता था—

“दिल्ली में दिल लग गया?”

इस प्रश्न का कोई सच्चा जवाब मेरे पास नहीं होता था; शायद दिल की कोई अवधारणा मेरे जेहन में नहीं बनी थी। उसके लगने या न लगने के बीच कोई बड़ी दूरी न थी। छुट्टियां आती जाती रहती थीं। घर जाने वाली ट्रेन दिल को बहलाए रखती थी। दिवाली पर दिल्ली रहना दशकों बाद ही संभव हुआ जब घर पर कोई न बचा।

‘शिक्षा क्या है?’ लोगों को उम्मीद रहती है कि मैं इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दूंगा। यदि मैं कहूं कि शिक्षा मानव संसाधन निर्यात का साधन है तो सुनने वाले कुछ उदास हो जाते

हैं! उदासी और निराशा में फर्क होता है। दिल्ली जाते वक्त यह ख्याल निराश नहीं करता कि वह निर्यात हो रहा है। उसमें भी उत्साह होता है कि वह नई जिंदगी बनाएगा। जहां से कोई निर्यात होता है, वहां भी लोग यह खुशी जाहिर करते हैं कि हमारा कोई दिल्ली में रहता है। दिल्ली में उसकी उपस्थिति से भरोसा रहता है कि वक्त जरूरत पर काम आएगा।

रघुवीर सहाय का निबंध संग्रह 'दिल्ली मेरा परदेस' सत्तर के दशक में आया तो उसके शीर्षक ने मुझे बड़ा सुकून दिया। लगा, दिल्ली से यही मेरा रिश्ता है। ये छोटे छोटे निबंध उन्होंने 'सुंदरलाल' के नाम से 'धर्मयुग' में लिखे थे। उनमें वर्णित सितंबर की सुबह, नवंबर का चांद, फरवरी में स्त्रियां और जून की हवा मुझे अभी तक याद हैं। फरवरी की रात में सड़क पर चलना एक कविता में सजीव दर्ज है। नब्बे का दशक शुरू ही हुआ था कि रघुवीर सहाय नहीं रहे। दशक आगे बढ़ा तो मुझे लगा कि चीजों के बहुत ज्यादा बदल जाने से मिलने वाली यातना से वे बच गए। जिस दिल्ली का वर्णन उन्होंने गद्य और कविता में किया था, वह सिमटने लगी थी। सिमटाव इतना तेज था कि उसे पकड़ने के लिए शब्द ढूंढना या गढ़ना असंभवप्राय होने लगा था।

अंततः 2009 में लगा कि दिल्ली टूट जाएगी। वह दिल्ली जिससे मैं परिचित होने का दावा कर सकता था, राष्ट्रमंडल खेलों की तैयारी में चरमराने लगी। उसका चरमराना चारों तरफ सुनाई और दिखाई देता था। किसी महानगर की चरमराहट सुनने का अभ्यास सभ्यताओं को होगा, मनुष्य के संक्षिप्त जीवनकाल में नहीं हो सकता। चार्ल्स डिकेंस ने उन्नीसवीं सदी के लंदन का सड़ना और टी.एस. इलियट ने बीसवीं सदी की शुरुआत के लंदन का डगमगाना दर्ज किया है, पर चरमराना इनसे कुछ अलग चीज है। हिरोशिमा अणुबम की ज्वाला में और लाहौर विभाजन की लपट में चीखें होंगे, उनकी चीख वहां शाम के अंधेरे में आज भी सुनी जा सकती है। मगर चीख और चरमराहट की आवाजों में जबरदस्त फर्क होता है। चरमराने वाले शहर में लोग खांसते हैं, सीना या माथा पकड़कर इधर उधर बैठ जाते हैं, रिक्शेवाले थूक थूककर हांफने लगते हैं, बच्चे गंदे के पीछे भागना छोड़ देते हैं।

दिल्ली में हर महीना बदलकर एक जैसा हो गया है। हवा कभी गंदी होती है, कभी ज्यादा गंदी कभी बहुत ज्यादा गंदी। दिल्ली छोड़ने के तीन साल पहले एक दिन मैं एक पेड़ से टकरा गया था। उस घटना का चिह्न पासपोर्ट में दर्ज करने लायक तो नहीं बना, मगर कई माह रहा। सुबह थी। जनवरी के उत्तरार्ध में कोहरा आम बात है और जिंदगी का सबसे बड़ा हिस्सा दिल्ली में बिताने से मैं कोहरे में चलना जानता हूँ। पेड़ भी मेरा पुराना परिचित था। उसके पास से गुजरते हुए मैं अक्सर उसकी जिजीविषा को सराहता था। उसे कई बार निर्ममता से तराशा जा चुका था; इन यादों के चिह्न उसके विकृत मोटे तने पर जगह जगह मौजूद थे। उन दिनों डाक्टरों ने चेतावनी जारी की थी कि सुबह की हवा में टहलना खतरनाक हो सकता है। शाम की हवा में घूमने जाना पहले ही खतरनाक घोषित हो चुका था। फिर भी मैं घर से निकल पड़ा था और कोहरे में यह सोचकर आगे बढ़ रहा था कि ज्यादा दूर नहीं जाऊंगा।

उस सड़क से गुजरने वाले अनेक लोग जानते थे कि मुझे कम दिखता है। खोमचा लगाने वाले जानते थे कि मुझे इतना कम नहीं दिखता कि मैं अकेले सड़क पार न कर सकूँ। सुबह थी, अभी सड़क जिंदा नहीं हुई थी। मैं एकदम अकेला था। कोहरा सफेद नहीं, पीला सा था, पीलिया के मरीज की आंखों जैसा नहीं, खाल जैसा बुझा और मरियल। हवा में आक्सीजन बहुत कम रही होगी। दिमाग ऐसी बीमार हवा में एकाग्र नहीं हो पाता यह मैं अपनी कक्षाओं में महसूस कर चुका था। मैं समझ गया था कि मेरे विद्यार्थी न ठीक से सो पाते हैं न पूरी सांस लेते हैं। उनकी स्थायी थकान सभ्यता या शिक्षा का संकट नहीं, हवा का संकट दिखाती है, इस खोज का सत्य

मैं किसी को नहीं समझा सका था, मगर अच्छी तरह जानता था। मैंने विश्वविद्यालय से मांग की थी कि हर कक्षा में वायुशोधक मशीन लगाई जाए, पर विश्वविद्यालय स्मार्ट बोर्ड लगाना चाहता था। पेड़ की तरफ बढ़ते हुए मैं सचेत था कि शायद मैं पूरे होश में नहीं हूँ। कोहरे में दिशाभ्रम हो जाना आम बात है। विश्वविद्यालय के परिसर का हर कोना मैंने अपने पैरों से कई कई बार नापा था, अतः दिशाभ्रम की संभावना भी मेरे मन में जाग्रत अवस्था में थी।

अपने परिचित वृक्ष की ठोस, बूढ़ी लकड़ी से टकराकर मैं गिरने को हुआ, पर गिरा नहीं। एक क्षण की मूर्च्छा पर्याप्त सिद्ध हुई। माथे पर बना घाव इतना ताजा था कि छूने पर महसूस नहीं हुआ। मन हुआ कि आगे बढ़ूँ, इसलिए चुपचाप खड़े पेड़ को घूरकर चार छः कदम और लिए। तब मुझे लगा कि वापस घर चले जाना बेहतर रहेगा। एक लड़ाई है जिसमें हार जाना अपमान नहीं है, सदबुद्धि है, यह भाव लिए मैं लौट पड़ा।

घर दिल्ली में हर किसी का कवच बन चुका था। घर से निकलना युद्धभूमि में जाने जैसा होता था और यह कोई नई बात नहीं थी। पानी की बोटल, छोटा तौलिया, एक अतिरिक्त रूमाल, सड़क पर लंबा जामा लगा हो तो कुछ खाने के लिए और बहुत लंबे जाम का लाभ उठाने के लिए कोई पत्रिका और नोटबुक झोले में रखने की आदत मैंने काफी समय पहले डाल ली थी। धीरे धीरे सड़क पर बीतने वाला समय बढ़ता गया। फिर मैं कुछ संगीत भी झोले में रखने लगा। घर और बाहर की दूरी घट गई। झोला उनका मध्यस्थ बन गया। मगर वह सुबह की सैर में साथ नहीं रहता था। सैर का मार्ग इतना ज्यादा जाना पहचाना था कि उस पर जाने आने के लिए जीवनरक्षक सामग्री की जरूरत महसूस नहीं हुई थी। पेड़ से टकराकर लौटते समय लगा कि यह राह भी युद्धभूमि में शामिल हो गई। मेरा माथा जिस पेड़ से टकराया था, उस पर दोबारा नजर गई तो पाया कि वह स्वयं कोहरे से लड़ रहा है और थक गया है।

यह कोहरा नहीं था, धुआं था जिस पर काल्वीनो ने 'स्मॉग' शीर्षक लंबी कहानी लिखी थी। वह 1950 में छपी थी। इटली के शहरों में तब हवा के प्रदूषण का मुख्य स्रोत कोयले की धूल थी जो बिजली बनाने के तापगृहों की चिमनियों से चौबीसों घंटे बादल की तरह धुएँ के काले काले गुच्छों में भूरी निकलती रहती थी। 'स्मॉग' कथानक एक युवा पत्रकार के अनुभवों, विचारों और संवादों के माध्यम से खुलता है। कपड़े, चादर, मेज, हवा में सूरज की किरण हर चीज कोयले की बारीक धूल की सवारी का काम करती है। पत्रकार की दोस्त उससे मिलने आती है। उसकी देह भी कोयले की धूल की परत से ढंक जाती है। कहानी के सबसे मजेदार संवाद पत्रिका के संपादकीय को अंतिम रूप देने की उस बहस में बनते हैं जो इस युवा पत्रकार और उसे नौकरी देने वाले एक परमाणु संयंत्र के मालिक के बीच चलती है। मालिक चाहता है कि अणु बिजली को कोयले के प्रदूषण से मुक्ति दिलाने वाली क्रांतिकारी चीज की तरह पेश किया जाये। इस तरह पेश किए जाने में अणुविद्युत के खतरों को छिपाने की जरूरत कितनी प्रकट हो, यह निर्णय शब्द चयन, वाक्य विन्यास और विराम चिह्नों के प्रयोग की बारीकियों से स्थापित होता है। पूरी कथा पर छाए हुए वायु प्रदूषण से पाठक का दम घुटता है, फिर भी वह इस बहस पर हंसता है।

इस कहानी को पहली बार मैंने बाइस वर्ष पूर्व उज्जैन की साफ सुथरी हवा में पढ़ा था। तब तक मैं काल्वीनो से अपरिचित था। तेजी ग्रोवर ने उज्जैन में मुझे काल्वीनो का वह संग्रह दिया था जिसमें 'स्मॉग' कहानी शामिल थी। अणु विद्युत कितनी 'शुद्ध' है, उसके खतरे ताप बिजली बनाने में निकलने वाली कोयले की धूल से बेहतर हैं या नहीं यह बहस भारत में चल पड़ी थी। दिल्ली में रिंग रोड पर स्थित इंद्रप्रस्थ बिजलीघर की ऊंची चिमनियां रात दिन कोयले

की धूल से सना धुआं उगलती थीं। उन्हें देखकर यह आशंका मन में आई थी कि जे.पी. नाइक—शिक्षा की नीति और तमाम राष्ट्रीय संस्थाओं के वैचारिक वास्तुकार—को गले और भोजन नली का कैंसर कोयले के धुएँ में सांस लेने से हुआ होगा। इंद्रप्रस्थ संयंत्र के पड़ोस में स्थित इमारतों में नाइक साहब ने कई वर्ष बिताये थे। दिल्ली की हवा में कोयले की धूल पूरे शहर में फैली थी। कमीज के कालर पर चार छः घंटे बाद एक काली लकीर बन जाती थी। सुबह उठकर मुंह धोते समय बलगम में काले धब्बे साफ दिखते थे।

इंद्रप्रस्थ बिजलीघर की चिमनियों के लिए एक मंहगी छलनी आयात करने का प्रसंग राष्ट्रमंडल खेलों की तैयारी के तहत गरमाया। ये खेल 2010 में कराये जाने थे। सुरेश कालमाड़ी के नेतृत्व में पूरे शहर का कायापलट हो रहा था। मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने खेलों के आयोजन को दिल्ली और देश के आत्मसम्मान का विषय बना दिया था। तैयारी में दुविधा और विडंबनाओं की भरमार थी। एक तरफ विदेशी खिलाड़ियों को अंतर्राष्ट्रीय मानकों पर खरी हवा में सांस दिलाना जरूरी था, दूसरी तरफ नये फ्लाय ओवर, स्टेडियम और होटलों का निर्माण व सड़कों को चौड़ा करना जरूरी था। इन कठिन फैसलों से उपजता और लगातार बढ़ता शांतिपूर्ण कोहराम पूरे शहर में दो ढाई बरस छाया रहा।

इस कोहराम का एक हिस्सा दिल्ली विश्वविद्यालय के परिसर में उठा, वरना मैं तमाम विवरणों से अपरिचित रह जाता। विश्वविद्यालय के बीच से गुजरने वाले छात्रा मार्ग को चौड़ा किया जाना था। मैं इसी मार्ग पर रहता था, अतः खेलों की तैयारी को दिन ब दिन देख सकता था। इस मार्ग पर स्थित दो कालेजों के मैदान विदेशी खिलाड़ियों के अभ्यास के लिए चुने गए थे। छात्रा मार्ग से सटा खूबसूरत बाटेनिकल गार्डन खेलों की चपेट में इस कारण आया क्योंकि बगीचे के परती तरफ विश्वविद्यालय का स्टेडियम था। इस मैदान को आस्ट्रेलियन रग्बी नामक खेल के लिए जरूरी एक विशेष आकार और फर्श वाले स्टेडियम का रूप दिया जाना था। रग्बी की प्रतियोगिता कहीं और होनी थी, यहां तो सिर्फ दो दिन उसका रिहर्सल कराया जाना था।

अपनी मूल हालत में विश्वविद्यालय का स्टेडियम मेरी स्मृति में एक गांव बन गया है। उसकी भदेस घास कहीं घनी थी, कहीं विरल और सीढ़ियां मजबूत किंतु कई जगह खुरदरी हो चली थीं। चारों तरफ एक पट्टी थी जिस पर दौड़ने का अभ्यास करने वाले लड़के लड़कियां और मेरे जैसे अर्धेड शिक्षक सैर करते दिख जाते थे। मैदान के एक हिस्से में बच्चों की क्रिकेट जारी रहती। मेरी मां हाथ का पंखा लिए सीढ़ियों पर बैठी रहती।

जब इस स्टेडियम को तोड़ा गया तो उसे चारों तरफ ऊंची चादरों से घेर लिया गया था। अंदर क्या चल रहा है सिर्फ ठेकेदार और मजदूर जान सकते थे। स्टेडियम से लगी जमीन के विशाल हिस्से पर पुराने सैकड़ों पेड़ लगे थे। उन्हें काटकर एक पार्किंग लॉट और इंडोर स्टेडियम बनाया जाना था। पूरी दिल्ली में वृक्ष कटे, इस छोटे से वाक्य की मीमांसा के लिए मेरे मानस पटल पर कुछ पेड़ों की अंतिम लीला का दृश्य मौजूद है। कई पेड़ बिजली की आरी से काट डाले गए। जो वृक्ष बहुत सयाने और मजबूत थे, उनके लिए शायद काटने की जगह उखाड़कर अन्यत्र लगाने की इजाजत दी गई थी। ऐसा पहले कभी सुना नहीं जाता था कि कोई पुराना पेड़ उखाड़कर दोबारा लगाया जा सकता है। कहा गया कि नई टैक्नालाजी आई है। शंकर हाल के बगल में कुछ वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय के पचहत्तरवें जन्मदिवस पर प्लैटिनम जुबली पार्क बनाया गया था। उसके साथ चलने पर सात सीढ़ियां मिलती थीं जिनके ऊपर नीम का एक सुंदर, स्वस्थ पेड़ था। उखाड़ने से पहले नई टैक्नालाजी के निर्देशानुसार पेड़ का निचला तना चूने जैसे किसी सफेद द्रव से पोते जाने की व्यवस्था थी। तने के चारों तरफ की जमीन खोदकर बूढ़ी जड़ें उघाड़ी

गई। उन्हें भी सफेद रंग से पोत दिया गया। कुछ दिन हवा खिलाकर एक दोपहर ठेकेदार का विशाल ट्रक नीम को ले गया। इसी तरह बाटेनिकल गार्डन के किनारे लगे हुए कई पुराने पेड़ किसी अनजान सुदूर स्थान पर नई जिंदगी जीने के लिए चले गए। पता लगा, इस वृक्ष विस्थापन तकनीक में सफलता मात्र दस प्रतिशत पेड़ों को मिलती है। ठेका हर विस्थापन के लिए दस हजार रुपये का मालूम हुआ। विस्थान में विफलता पर मरे हुए पेड़ की लकड़ी से प्राप्त कीमत अलग रही होगी।

विश्वविद्यालय से विस्थापित किए गए कितने पेड़ जीवित बचे और वे कहां खड़े हैं, यह जानकारी पाने की कोशिश मैंने कई बार की, पर कोई बता न सका। परिसर में पर्यावरण के नुकसान पर चिंता और विरोध जताने के लिए मिरांडा हाऊस की लड़कियों ने एक ज्ञापन तैयार किया। वार्षिकोत्सव में जब शीला दीक्षित पधारिं तो उन्हें यह ज्ञापन सौंपा गया। कहते हैं, उन्होंने कागज को एक तरफ सरका दिया और एक शब्द नहीं कहा। राष्ट्रमंडल खेलों की आलोचना करना व्यर्थ था, कुछ कुछ आपराधिक भी। विदेशी खिलाड़ियों के स्वास्थ्य की खातिर वाहनों की आवाजाही कई सड़कों पर रोक दी गई। ताप बिजली संयंत्रों के धुएं को नियंत्रित कर दिया गया। निर्माणाधीन इमारतें चटाई से घेर दी गईं और निर्माण बंद कर दिया गया ताकि धूल न उड़े। विश्वविद्यालय के नये स्टेडियम में आस्ट्रेलियन रग्बी दो दिन खेले गईं। यह खेल भारत में नहीं खेला जाता, अतएव स्टेडियम उन दो दिनों की याद में कुछ वर्ष खुशी से अपनी वीरानगी सहता रहा। एक दिन तूफान आया और उसकी महंगी छत उड़ाकर ले गया। अब इतना पैसा नहीं है कि वैसी छत दोबारा बनाई जा सके। वह पूरा इलाका अब ताले में रहता है।

राष्ट्रमंडल खेलों के लिए पूरी दिल्ली में कितने पेड़ कटे, यह अनुमान लगाना कठिन और व्यर्थ है। असली संख्या शायद सरकार के पास भी नहीं होगी। मगर अब यानी खेलों के आठ वर्ष बाद दिल्ली में सोलह हजार वृक्ष कटने जा रहे हैं, यह ताजा सूचना सरकारी निर्णय के आधार पर दो माह पहले अखबारों में छपी। इस बार पेड़ों की कटाई का कारण पुराने घर तोड़कर नये बनाने की योजना है। सरोजिनी नगर और नौरोजी नगर में सरकार के निचले और मध्यम स्तर के कर्मचारियों के लिए तीन मंजिल वाले घर नेहरू युग में बने थे। अब इन्हें तोड़कर बहुमंजिला फ्लैट बनाये जाएंगे जैसे किदवई नगर में हाल में बनाये गए थे। एक विश्व व्यापार केंद्र और कई हजार कारों की पार्किंग के लिए अंडरग्राउंड बहुमंजिला पार्किंग लाट भी बनाया जाना है। इन परियोजनाओं के तहत सोलह हजार वृक्षों की कटाई की जानी है। तीन हजार पेड़ काटे जाने के बाद पर्यावरणवादियों ने राष्ट्रीय ग्रीन प्राधिकरण में अर्जी लगाई और शेष पेड़ों की कटाई पर फिलहाल रोक लगवा ली।

बहस कई बार चलकर बंद हो गई थी; फिर चल पड़ी है। विषय को प्रशासनिक परीक्षाओं की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाए तो इस तरह बनेगा— ‘विकास की अनिवार्यता और पर्यावरण के संरक्षण की आवश्यकता के बीच सामंजस्य कैसे बिठाया जाये?’ यह एक चुस्त और पैना सवाल है। नेता और अधिकारी यदि इस प्रश्न का उत्तर पूछने दिल्ली के देवता के पास जा सकते तो वह चीखकर कहता— “दफा हो जाओ... कोई सामंजस्य नहीं हो सकता।” देवता के पास तीस पैंतीस साल पहले कोई उपाय रहा होगा, अब वह संभावना बीत गई। यदि लोग फिर भी सामंजस्य की गुंजायश तलाश रहे हैं तो इसलिए कि वे असहाय हैं। कोई बीमारी जब इलाज की सीमा लांघ चुकती है तो उसके साथ समझौता करना एक मजबूरी बन जाती है। दुःख हो या क्रोध, उसे पीना पड़ता है। दिल्ली के पेड़ और यमुना नदी ने इतने जुल्म सह लिए हैं कि अब ब्यौरे बेमानी हो चुके हैं। पर पेड़ और नदी से क्या फर्क पड़ता है, क्या यह कोई समझता है?

यमुना के कछार को कष्ट देने वाला एक आयोजन आध्यात्मिक गुरु रविशंकर कर चुके हैं। नदी का दर्द समझने वाला एक आदमी अभी हाल तक दिल्ली में रहता था। वह मेरा दोस्त था यह सोचकर आज भी मुझे हल्की सी खुशी मिलती है। मैं जानता हूँ कि अगर वह होता तो समूची दिल्ली न सही, कुछेक पेड़ों को बचाने की कोशिश करता। मगर वह अब जिंदा नहीं है, भले कई लोग उससे मिली प्रेरणा के जिंदा होने की बात कहते रहते हैं। कहीं न कहीं यह बात मुझ पर भी लागू होती है। इस निबंध को लिखने की इच्छा और कोशिश में भी उसकी प्रेरणा का तत्व है। इस आदमी का नाम अनुपम मिश्र था। उसकी आदतों और लेखनी से लगता था कि प्रकृति ने अपने कई रहस्य अनुपम को अलग से बुलाकर बता दिए हैं। अनुपम ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा पानी की खातिर बिताया, पर पेड़ भी उसकी दैनिक फिक्र के दायरे में थे। एक बार अनुपम मुझसे मिलने आए और घर पर कोई नहीं था। वे दरवाजे पर एक पन्नी छोड़ गए जिसमें सुबबूत का पौधा थोड़ी सी मिट्टी में रोपा था। पहले वह गमले में रहा, फिर मेरे साथ विश्वविद्यालय के छात्रा मार्ग वाले घर आ गया। धीरे धीरे उसने अपना विस्तार शुरू किया और जहां देखो वहां उसके नाती पोते नजर आने लगे।

दिल्ली छोड़ने के कुछ ही समय पहले मुझे अनुपम की अंत्येष्टि में जाना पड़ा। निगम बोध घाट पर उस दिन काफी भीड़ थी। अनुपम का दाह संस्कार कहां हो रहा है, यह पता लगाना आसान नहीं था। संस्कार बिजली से होना था। कमरा काफी बड़ा था पर चारों तरफ से बंद था। प्रकाश नहीं के बराबर था, इसलिए पुराने परिचितों को पहचानने में भी समय लग रहा था। समूचे निगम बोध घाट में ऐसा माहौल था कि हरेक अंतिम संस्कार एक लंबी प्रतीक्षा सूची के दबाव में संपन्न हो। चारों तरफ धुआं और लोगों का अनवरत आना जाना देखकर मन में ढील और खिन्नता पर काबू करना मुश्किल हो रहा था। कैंसर से अनुपम की मृत्यु का शोक भी इस बात की खिन्नता को समेट नहीं पा रहा था कि बड़ी बड़ी नदियों जैसे लगातार बहने वाले इस दोस्त की विदाई एक अंधेरे बंद कमरे में हो रही है। अनुपम से मेरा नाता दो धागों से बना था, एक धागा भाषा और गद्य का, दूसरा छोटे शहर के रहस्य का। हम दोनों इस सपने को पाले पाले महानगर में रहे कि हमारे छोटे नगर उसी तरह आबाद हैं जिस तरह हम उन्हें छोड़कर आए थे। अपने नगर के संपर्क में रहना एक धर्मनिरपेक्ष पुण्य था। अनुपम की दूसरी किताब 'आज भी खरे हैं तालाब' का एक बड़ा हिस्सा विंध्य पर है। पठार के विस्तार के बीच जलाशय अनुपम के गद्य में जिंदा हो उठते हैं। घर वाले शहर से तब फूलचंद्र ही फोन करता है। दो दिन पहले उसने बताया कि इस वर्ष भी शहर में बारिश नहीं हुई और सावन के महीने में भी तालाब की तली नहीं ढंकी है। मन होता है अनुपम से कहूं तुम सूखी नदियों को बहाने में माहिर थे, हमारे तालाब को बहाल करो। मुझे पता है उसका जवाब क्या होगा। मैंने बी.ए. तक भूगोल पढ़ा, पर अनुपम के लेखन से ही जान पाया कि पानी और पेड़ में क्या रिश्ता है। आज यमुना में बाढ़ आई हुई है पर अनुपम की तरह कोई समझाने वाला नहीं है कि दिल्ली अपनी नदी को संभालने में क्यों असमर्थ है। अनुपम मिश्र सरीखा तरल, प्रांजल गद्य अभी बीस साल और लिखा जाये तो लोग समझ सकेंगे कि पर्यावरण संरक्षण जैसा जुमला विकास की लीला का ही अंग है, अवरोध नहीं।

दिल्ली में हवा का युद्ध इस समय सुनीता नारायण के नेतृत्व में चल रहा है। उनकी पुस्तक 'हितों का टकराव' इस वर्ष के प्रारंभ में प्रकाशित हुई थी। उसे पढ़कर समझ में आता है कि हवा की लड़ाई कितनी संगीन अवस्था में पहुंच चुकी है और अब विकास और हवा के बीच सामंजस्य क्यों असंभव है। कुछ वर्ष पहले सुनीता नारायण को पीछे से एक कार ने घातक

टक्कर मारी थी, पर वे बच गईं और दिल्ली के आपातकाल के निदान के उपाय ढूंढने में लगी हैं। उनकी संस्था 'सेंटर फार साइंस एंड एनवाइरमेंट' की स्थापना अनिल अग्रवाल ने की थी। अनिल जिस कैसर से मरे, उसके लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से बजाज स्कूटर की निर्माता कंपनी के मालिक को दोषी ठहराया था। उनकी बनाई हुई संस्था दिल्ली के वायु प्रदूषण से कई मोर्चों पर लड़ रही है और थकी नहीं है। सुनीता नारायण की पुस्तक पढ़ने से थकने और लड़ते रहने की पर्यायवाचिता का भेद स्पष्ट हो जाता है। सैनिक की तरह लड़ने का अर्थ है थकान के बावजूद लड़ते जाना। गीता में 'विगतज्वर' विशेषण का प्रयोग हुआ है। संभवतः उसका आशय चिंता छोड़कर लड़ना है। थकान महसूस करना भी चिंता के जन्म का संकेत है। थकान से मन में प्रश्न उठता है कि आराम कहां मिलेगा, घर बहुत दूर है। एक बार मैंने मेघा पाटकर से पूछा था कि वे थकती क्यों नहीं हैं? पत्र में उन्होंने लिखा था कि 'लड़ते लड़ते अपनी ही छाया में गिर जाना' थककर बैठ जाने से बेहतर है। बैठ जाने से उनका आशय जरूर आंदोलन का रास्ता छोड़ देने से रहा होगा।

जिस चीज को पर्यावरण के संरक्षण के लिए संघर्ष कहा जाने लगा है वह जैसे जैसे विशेष व्यक्ति होने का सूचक बनती जाती है, वैसे वैसे एक परित्यक्त कल्पना बनती जाती है। सामान्य नागरिक होने का अर्थ है जीवन के घिरते हुए क्षितिजों में गाने सुनकर गुजारा कर लेना, बार बार बीमार पड़ने पर भी यह विश्वास मन में रखना कि समस्या सार्वजनिक है, फिर भी साध्य है। दिल्ली की हवा जिन कारणों से जहरीली या प्रदूषित हुई है, उनका व्यवस्थित अध्ययन हो चुका है। वे हैं वाहनों का धुआं, भवन ध्वंस या निर्माण की धूल, कूड़े की आग, छोटे बड़े उद्योग, उत्सव के पटाखे, ताप विद्युत संयंत्र और अरावली की खुदाई। इसे सूचीबद्ध किए जाने पर सातों कारण यकायक सभ्य और साध्य दिखने लगते हैं, किसी कार्यालय की वातानुकूलित हवा में चर्चा और उचित कार्रवाई के नन्हें बिंदु बन जाते हैं। टीवी पर बहस इन्हीं बिंदुओं को चेहरों और आवाजों में बदल देती है। समय पूरा हो जाने पर कर्मठ एंकर सारे बिंदुओं को बुहारकर इलैक्ट्रॉनिक ढोल की रंगीन धुन में समेट देती है और अगली बहस के लिए दर्शकों को आमंत्रित करके चाय पीने चली जाती है। यदि कोई बात याद रह जाती है तो कार्यक्रम में भाग लेने वाले डाक्टर की चेतावनी कि जो बच्चे दिल्ली की हवा में सांस ले रहे हैं, वे युवा होने पर फेफड़ों की तकलीफ और उससे संबंधित अन्य गंभीर बीमारियों के शिकार होंगे। इनमें दिल और दिमाग की बीमारियां शामिल हैं।

स्कूलों के लिए अक्सर चेतावनी जारी होती रहती है कि आज प्रदूषण का सूचकांक फलों संख्या को पार कर गया है, इसलिए बच्चों को खेलने के लिए बाहर न भेजें। एक नामी स्कूल की प्राचार्या मुझसे कई बार पूछ चुकी हैं कि ऐसे दिन आधी छुट्टी में बच्चों का क्या करें। शिक्षा का विशेषज्ञ कहलाये जाने के कारण मैं सुझाता हूं कि कक्षा या किसी बड़े कमरे में ही खेलने दें। कई बार यह सुझाव भी मैं दे चुका हूं कि हर कक्षा में एक या दो एयर 'प्योरीफायर' रख दिए जाएं। दिल्ली में अपने अंतिम तीन वर्षों में मुझे भी इस मशीन से प्यार हो गया था। दिवाली के बाद उस वर्ष बगीचे में घूमते हुए भी लोगों को दम घुटने का अनुभव हुआ था। वैसे तो दिवाली तीस साल पहले भी सांस लेना दूभर बना देती थी, पर तब के पटाखों और इधर के पटाखों में बड़ा फर्क है। अस्सी के दशक का अवसान पटाखों की दुनिया में नई भौतिक और नैतिक चुनौतियां देकर हुआ। तब तक ज्यादातर पटाखे देशज थे और उनके प्रयोग का विरोध मुख्यतः इस आधार पर होता था कि उन्हें बनाने के जोखिम भरे काम में बालश्रम लगता है। स्मित कोठारी ने शिवकाशी में बाल मजदूरी का अध्ययन करके वहां के बच्चों की परिस्थिति का

विवरण पहली बार देश के सामने रखा था। उस जागरूकता का विस्तार शनैः शनैः स्कूलों तक पहुंचा और दिल्ली के अनेक संभ्रांत स्कूलों ने अपने बच्चों को बिना पटाखों की दिवाली मनाने के लिए राजी कर लिया। एक दो बार ऐसा लगा कि दीपावली कुछ शांत और उजली हो रही है, घर के भीतर धुआं कुछ पतला हो गया है। नब्बे का दशक आगे बढ़ा; उदारवादी अर्थव्यवस्था पसरी और चीन में बने हुए ताकतवर पटाखों का वर्चस्व भारतीय पटाखों को खदेड़ने में कामयाब हो गया। नई सदी में चीनी पटाखे दिवाली के आसमान में दहकने गूंजने लगे। शादियों में भी यही पटाखे बजने लगे। क्रिकेट में भारत की जीत होने पर वही चीनी पटाखे फूटने लगे। उल्लास की अभिव्यक्ति के लिए शब्द क्षमता घट रही थी और उसका स्थान पटाखे ले रहे थे। जब भी कोई दिवाली के संदर्भ में पटाखों पर चिंता जताता, उसकी नीयत और राष्ट्रधर्म चेतना पर सवाल खड़े कर दिए जाते। छठ मनाने के लिए यमुना का तट भोर से घंटों पहले चीनी पटाखों से गुंजारमान होने लगा। धाराप्रवाह विस्फोटों से निकले असंख्य अनाम विषकण दिल्लीवासियों की आंखों और नासिकाओं में सुगम प्रवेश पाते थे। यह विष उस कोयले की धूल से भिन्न था जिसका वर्णन काल्वीनो ने 'स्मॉग' कहानी में किया है। दिल्ली के आकाश में कायले की वह मासूम धूल भी रहती थी क्योंकि इंद्रप्रस्थ ताप बिजलीघर जैसे अन्य संयंत्र वृहत्तर राजधानी क्षेत्र में स्थापित हो चुके थे। इनकी चिमनियों से निकलने वाला पारंपरिक काला धुआं चीनी पटाखों की धूल को अपने आगोश में दिन रात लिए रहता।

पता नहीं कैसे यह वृत्तांत भूतकाल की क्रियाओं के सूचक इस्तेमाल करने लगा जबकि मैं अपने पाठक को वर्तमान के करीब लाना चाहता था। इस वर्तमान में लाखों वाहनों के पेट्रोल और डीजल का धुआं शहर के कोने कोने की हवा में घुसता है। हवा में जगह नहीं पर हर वाहन अब नये ताकतवर इंजन से लैस है जो कम ईंधन खाकर ज्यादा तेज चलता है और समृद्धि की ओर लपकते हर वर्ग की आकांक्षाओं को आगे बढ़ते रहने के लिए धकियाता है। कई बीमारियां परिचित हैं, कई संकर रूप धारण कर चुकी हैं, कई एकदम नई हैं और विश्व स्वास्थ्य संगठन से अपना पहचानपत्र बनवा रही है, और कई ऐसी भी हैं जिनका सीधा संबंध फेफड़ों से नहीं है, अतः उनका उल्लेख करके वायु प्रदूषण को बदनाम नहीं किया जा सकता। एक दिन मेरी किसी से यह बहस हुई कि जहरीली हवा से गुर्दों का कोई रिश्ता है या नहीं। गूगल पर 'एयर पाल्यूशन एंड किडनी' टाइप किया तो तीन चार लेख सामने आए। एक को पढ़ा तो पाया, किसी चीनी प्रोफेसर का है। उसका शोध कहता है कि हवा में मौजूद कुछ जहरीले रासायनिक कण फेफड़ों को कई वर्ष कमजोर बनाकर खून में प्रवेश पाने लगते हैं। उन्हें पेशाब के जरिये निकालते निकालते गुर्दे थक जाते हैं और अंततः बीमार पड़ने लगते हैं। जिससे बहस हो रही थी, वह बोला कि इंटरनेट पर उपलब्ध मेडिकल ज्ञान सदा प्रामाणिक नहीं होता। वैसे भी मैं शरीर और चिकित्सा का विशेषज्ञ नहीं हूँ। मेरे लिए यही श्रेयस्कर था कि अपना एयर प्योरिफायर चलाकर पढ़ूँ लिखूँ और चटाई बिछाकर योग करूँ। मैं इस मशीन को सुबह चार बजे उठकर चालू कर देता था ताकि छः सात बजे तक उसका असर महसूस होने लगे। असर के अंदाजे के लिए मशीन में तीन रंगों का प्रकाश था। लाल रंग की नन्हीं सी बत्ती बताती थी कि हवा बहुत ज्यादा गंदी है। बैंगनी रंग गंदगी के सामान्य या औसत स्तर का प्रतीक था। नीला रंग साफ हवा दर्शाता था। इस मशीन के साथ मैं तीन साल जिया। इन तीन वर्षों में सिर्फ एक बार नीली बत्ती थोड़े समय के लिए उभरी, फिर कुछ देर बाद बैंगनी रंग में तब्दील हो गई। मशीन के भीतर लगा फिल्टर हर सप्ताह धोना जरूरी था। हर बार वह काला मिलता और उसकी कालिख में चिकनाई मिली रहती। धोने के लिए उसे घिसना पड़ता। शायद वही हाल फेफड़ों और गुर्दों का होता होगा,

यह सोचकर मैं राजधानी की नागरिकता के विवश लोक में लौट आता और उन स्मृतियों में स्वयं को डुबा लेता जो दिल्ली में मेरे शुरुआती वर्षों की धरोहर थी।

तब जीवन की शर्तें इतनी कठिन नहीं थीं, ऐसा कहते हुए मुझे एहसास है कि युवावस्था में कष्ट झेलने की क्षमता अच्छीखासी होती है। उस शुद्ध वायु युग में भी मैंने लंबी खांसी का प्रकोप इतना झेला था कि एक बार अध्यापन छोड़ देने की ठान ली थी। त्रिकालदर्शी लोग कहते हैं कि सांस के रोग कब नहीं थे। सही कहते हैं, पर छुटपन में दमा हजारों की तादाद में स्कूल के संसार में नहीं था। डाक्टर और पर्यावरण के वैज्ञानिक अब बगैर किसी दुविधा के कह रहे हैं कि प्राइमरी स्कूल के बच्चों में दमा और सांस की अन्य बीमारियों के अलावा हमें उनके मानसिक व शारीरिक विकास पर आक्सीजन की कमी के प्रभाव की चिंता करनी चाहिए। हवा में प्रदूषण का एक पहलू आक्सीजन की कमी है, यह मात्र बच्चों के विकास का मसला नहीं है, हर वयस्क की दैनिक क्षमता का भी है। आक्सीजन के अभाव में कोई व्यक्ति अपना काम ठीक से नहीं कर सकता। इस बात की अर्थपरिधि में मेहनत मजदूरी करने वाले ही नहीं शिक्षक, लेखक, वकील, अफसर और नेता भी शामिल हैं। सबको आक्सीजन चाहिए, सिर्फ जीते रहने या स्वस्थ बने रहने के लिए नहीं, सोचने और फैसले लेने के लिए भी। इंडिया गेट के गिर्द लगभग पांच किलोमीटर के अर्धव्यास का वृत्त बनाएं तो उसके भीतर भारत के सबसे शक्तिशाली लोगों के घर आ जाएंगे जिन पर बड़े बड़े निर्णय लेने की वैधानिक जिम्मेदारी है। अपने आफिस और घर में एयर प्योरिफायर लगाकर वे विषैली धूल से बच सकते हैं, आक्सीजन की कमी का खामियाजा फिर भी भुगतेंगे। इस खामियाजे का असर शेष जनता को भी भुगतना होगा। आक्सीजन की कमी दिमाग को थका देती है। थके मानस से लिए गए निर्णय सार्वजनिक जीवन की समस्याओं को उलझाते जाएंगे। यह एक पार बौद्धिक स्थिति है। इसके आकलन में बुद्धि पर पड़ रहे स्थायी दबाव का आकलन शामिल है।

ऐसा पार बौद्धिक ख्याल मेरी व्यक्तिगत स्मृतियों का सुख भी छीन लेता है। सत्तर का दशक शुरू हो रहा था। दिल्ली आना ज्ञानरंजन की 'बहिर्गमन' कहानी का एक और संस्करण था। छोटे कस्बों, गांवों और प्रांतीय विश्वविद्यालयों से दिल्ली आ पहुंचना मेरे जैसे हजारों युवक युवतियों की नियति थी। 'उपजहि अनत अनत छवि लहही', तुलसी के इस कथन को हमारी उपलब्धियां चरितार्थ करती थीं। हम जहां उपजे थे, वहां हमें रखने के लिए गोदाम नहीं थे। सुंदर नदियों के कछारों और मजे से पसरे पठारों से बीनकर शिक्षा हमें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से निरंतर निर्यात कर रही थी। हम विकास के नमूने नहीं, प्रमाण थे। जिन जगहों को छोड़कर हम दिल्ली आते थे, वहां भी लोग हम पर गर्व होने की बात कहते हैं। हम आधुनिक साहित्य की सबसे बड़ी विषयवस्तु थे, कथानक, प्रतीक और अर्थालंकार थे। 'आषाढ़ का एक दिन' हमारी विडंबना को व्यक्त करने के लिए लिखा गया था। 'सारा आकाश' हमें उत्साहित रखने और 'राग दरबारी' हमें कुरेदने के इरादे से प्रकाश में आया था।

इतिहास की मुख्यधारा होने के नाते हम जानते थे कि विकास का स्वप्न निरापद नहीं होता। उसकी कीमत मनुष्य और समाज के अलाता प्रकृति को भी देनी पड़ती है। यह कीमत किस मुद्रा में चुकानी पड़ेगी, सिर्फ इसे लेकर कुछ भ्रम थे। बी.ए. की भूगोल की पुस्तक में लिखा था कि पेट्रोलियम और कोयले के भंडार सीमित हैं, अतः दुनिया को ऊर्जा का संकट झेलना पड़ेगा। मगर जल विद्युत एक असीम ऊर्जा स्रोत की तरह प्रस्तुत की गई थी। बी.ए. करने के तीस साल बाद जब मैं सरदार सरोवर का निर्माणाधीन बांध देखने गया, तब जाकर ठीक से समझ में आया कि जल विद्युत की कीमत कितनी होती है और कौन चुकाता है। तब तक

रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं से मिट्टी और पानी में जहर फैलने की चर्चा जोर पकड़ चुकी थी और हरितक्रांति के नफे नुकसान पर वंदना शिवा का ईमानदार संदेह यत्किंचित फैलने लगा था। वायु प्रदूषण अभी तक दिवाली को उजला बनाने के प्रसंग में ही सार्वजनिक बना था। उसे महानगर के जीवन की अनिवार्यता की तरह देखने का रिवाज था। उसका जिक्र अकसर ध्वनि प्रदूषण के समान होता था।

जब चीजें साफ होती हैं, काफी देर हो चुकती है। दिल्ली ने मेरे जैसे आगंतुकों को बहुत कुछ दिया, पर हम उसकी आसन्न विभीषिका को नहीं समझ सके। ऐसा क्या इस कारण हुआ कि हम दिल्लीवाले नहीं बन सके? कई दिल्लीवाले मेरे परिचित हैं। वे मुझसे कहीं ज्यादा चिंतित हैं फिर भी बेबस हैं। वे बस एक ही बात कहते हैं कि— 'दिल्ली अब किसी की अपनी नहीं रही, इसीलिए चरमरा रही है।' वह एक ऐसा शहर था जिसे ध्यान से रखे जाने की जरूरत थी। शहर चीज ही ऐसी है, देखते ही देखते गुम हो जाता है। शहर याद दिलाते हैं कि उन्हें संभालने के लिए भावनाएं काफी नहीं होतीं। सिर्फ वफादारी से काम नहीं चलता। ऐसी जगहें भी होनी चाहिए जहां शहर अपना जायजा ले सकें। दिल्ली में ऐसी जगहें थीं और आज भी बची हैं पर वे भी समाज की तरह बंट गई हैं और ऐसा यकीन दिला पाने में असमर्थ हो गई हैं कि मुश्किलें कितनी ही बढ़ जाएं, विचार जारी रहेगा।

पर विचार जारी है और इतना जारी है कि विषयों की विविधता बनी रहती है। कुछ वर्ष पहले जब दिल्ली विश्वविद्यालय को बाकायदे दबाव के असल झटके दे देकर तोड़ा जा रहा था, संगोष्ठी में विचार के लिए शीर्षक रखा गया— 'उच्च शिक्षा में सुधार'। हवाई जहाज में आग लग गई है, वह गिरने को है और कप्तान से चर्चा के लिए विषय है भारत में हवाई यात्रा की गुणवत्ता का विकास। इस वर्ष 25 जून को कई बड़ी बहसों का विषय था, आपातकाल और भारतीय लोकतंत्र। सोलह हजार पेड़ काटे जाने का फैसला उसी समय सार्वजनिक हुआ था पर बहस के लिए आमंत्रित वक्ता 44 वर्ष पुराने आपातकाल पर लगे रहे। उस दिन भी वायु में प्रदूषण का सूचकांक गंभीर स्तर के पार था, पर विचार का विषय बनने की पात्रता इस कारण खो बैठा था कि उस पर अभी कुछ सप्ताह पूर्व विचार हो चुका था। विचार के मंच का इस्तेमाल किसी एक विषय पर बार बार सोचने के लिए नहीं हो सकता। कोई मंचाधीश ऐसा करता है तो आशंका फैल जाती है कि उसका कोई स्वार्थ है। साफ हवा में सांस लेने की इच्छा सामूहिक भले हो, किसी सामूहिक आशा और मुहिम का आधार नहीं बनाई जा सकती। किसी ने यदि ऐसा करने की कोशिश की तो शंका फैलनी शुरू कर देगी कि वह विकास विरोधी है। पर्यावरण की किसी भी समस्या को ज्यादा तूल देने वाले अंततः इसी शंका के शिकार हो जाते हैं। आधुनिक और प्रासंगिक बने रहने के लिए जरूरी है कि पानी, वायु, मिट्टी जैसे विषयों पर कुछ कुछ बोलते रहा जाए, पर दबाव बनाने से परहेज किया जाए। यही अच्छे नागरिक का गुण है।

एक और गुण नागरिकता का आभूषण है, पर उसका सटीक नामकरण कुछ चुनौती भरा काम है। मैंने इस गुण के प्रत्यक्ष दर्शन शताब्दी एक्सप्रेस में यात्रा के दौरान हर बार किए हैं और हर बार मेरे मुंह से 'वाह' और 'आह' एक साथ निकली है। शताब्दी एक्सप्रेस जब अपने गंतव्य के करीब पहुंच जाती है तो यह उद्घोषणा होती है— 'मिनरल वाटर की बोतल कृपया अपने साथ ले जाएं अथवा इसे नष्ट कर दें ताकि इसका दुरुपयोग न हो सके।' उद्घोषणा के कुछ क्षण बाद पूरे डिब्बे में प्लास्टिक के चटकने की आवाज एक लहर की तरह फैलकर शांत हो जाती है। मिनरल वाटर की बोतल यात्रा की शुरुआत के समय दी गई थी; अब वह यात्रियों के हाथों कुचली मरोड़ी जा चुकी है, इसलिए कोई बेईमान उसका दुरुपयोग नहीं कर सकता, अर्थात् उसे

सादे पानी से भरकर दोबारा नहीं बेच सकता। थोड़ी देर में जब गाड़ी यार्ड में पहुंचेगी, उसे साफ करने वाले आएंगे। वे सारी नष्ट कर दी गई बोटलें बोरों में भरकर ले जाएंगे। समूची राजधानी में कूड़े को ठिकाने लगाने के स्थलों में से एक मेरा परिचित है। वह उत्तरी दिल्ली में स्थित समयपुर बादली नाम का गांव है इस गांव के पड़ोस में कूड़े का पहाड़ है जिसका जिक्र उच्चतम न्यायालय की बहसों में हो चुका है। सरकारी पक्ष सदैव कहता है कि कूड़े में आग लगाना पूरी तरह प्रतिबंधित है, पर आग अपने आप लग जाती है। इसलिए समयपुर बादली का पहाड़ दिन रात सुलगता रहता है।

दूर से देखने पर लगता है कि भारत में भी जापान जैसा फूजी पर्वत है जो लगातार भाप उगलता रहता है। टोकियों से चलने वाली ट्रेन के यात्री इस पहाड़ की फोटो खींचने के आदी हैं। समयपुर बादली का पहाड़ भी चित्राकांक्षी है, पर उसके पड़ोस की गरीबी बता देती है कि यह फूजी नहीं है, न बन सकता है। यहां राजधानी का कचरा इकट्ठा होता है। कचरे को जमीन में दबाने की वैज्ञानिक तकनीक अमेरिका से आई होगी जहां लोहे और प्लास्टिक से लेकर अणुबिजली संयंत्रों का कूड़ा 'लैंड फिल साइट्स' में दफन कर दिया जाता है। ऐसी जगहें दिल्ली में भी निर्धारित की गई थीं, पर वे पूरी तरह भर गई हैं, इसलिए कूड़ा अब जमीन की सतह पर पहाड़ों की शक्त ले रहा है। इन पहाड़ों में गरीब बच्चे ऐसी चीजें ढूंढते रहते हैं जो बेचने लायक हों। प्लास्टिक का कचरा आर्थिक विकास दर के साथ साथ बढ़ता गया है। हर चीज एक एक बार इस्तेमाल के बाद फेंक दिए जाने के लिए बनाई जा रही है। कुछ समय पहले तक मोहल्लों से निकला कूड़ा सड़क के किनारे या कूड़ाघर के आसपास पड़ा रहता था। स्वच्छता पर जोर देने की नीति के प्रभाव से वह अब नियमित रूप से उठाया जा रहा है। समयपुर बादली जैसे पहाड़ों पर पहुंचकर वह धुआं बनता है और शहर की सड़कों पर पड़ा पड़ा सड़ने की जगह हवा में फैलता रहता है। इस धुएं में प्लास्टिक के प्रज्वलन से निकलने वाले विषैले रसायन होते हैं जो वाहनों के धुएं और अबाध बनती टूटती बनती इमारतों के सीमेंट की धूल से मिलकर अपने जहर को गहन बनाते रहते हैं।

ओ दिल्ली, तुम्हारी घुटन और पीड़ा इतिहास में हर बार नई तरह से इकट्ठा होकर जुटी और फटी है। जिसे उजड़ना कहते हैं, वह भी हर बार अलग तरह से होता है। उजड़ने के बाद दोबारा रचा जाना इतिहास के क्रम का हिस्सा बताया गया है। एक जीवन उसे जानने या देखने के लिए नाकाफी है। 'तीसरी कसम' में शैलेंद्र का गीत है— 'दुनिया बनाने वाले, काहे को दुनिया बनाई?' आगे चलकर यह पंक्ति आती है— 'सपने जगा के तूने, काहे को दे दी जुदाई।' दिल्ली पिछली बार 1857 के गदर में उजड़ी थी। उसकी तत्कालीन वेदना के कई वर्णन मौजूद हैं। अंग्रेजों ने दिल्ली नये सिरे से बसाई और यह बसाहट नई दिल्ली कहलाई। पुरानी और नई दिल्ली ने मिलकर विभाजन की पीड़ा पी डाली और आजादी का स्वप्न देखा। उसी में विकास की लीला शामिल थी। बढ़ते धुआं के बीच दिल्ली इस लीला को देखे जा रही है, देखे जा रही है। जिस दिन बच्चे खेलते खेलते गिरने लगेंगे, दिल्ली की चीख सुनाई देगी। तब तक बच्चे मंच पर हरी टहनियां हिला हिलाकर गाते रहेंगे— 'नंगी धरती कहे पुकार, वृक्ष लगाकर करो सिंगार।' पर्दा गिर रहा है, हारमोनियम धुन पकड़े हुए है, मुख्य अतिथि ताली बजा रहा है।

vukfedk dh dfork, a

L=kh | ɕks/kuh % mUkj dFkk % 'kūZk[kk

सोचो तो कैसे
 घिसटती गई होगी दूर तलक
 क्षत विक्षत हिरण देह शूर्पणखा की
 नाक कान विरत!
 कहते हैं, होनी अनहोनी की,
 हर घट अघट की
 एक सूक्ष्म छाया सी
 हो जाती है दर्ज सदा के लिए
 आकाश की आंखों में!
 ठीक से देखो जरा
 सर उठाकर
 भीत और स्फीत
 आंखें वे स्वप्नदग्ध
 छलछलाती कंपकपाती सी!
 हर घाव से, देखो,
 भभककर सहमती,

सहमकर भभकती,
धार धार,
जार जार बहती है
टहक लालिमा राग की।
और अंत में केवल एक बूंद बचती है,
जीवन के तृष्णातड़ित
ओठ पर
थकमकाई हुई।

सोलह बरस की ही थी वो तो,
हमारे समय में अगर होती,
दसवीं की बोर्ड परीक्षा देती!
संथाली बच्ची का भोला आकर्षण
शहरी दिक्कू के लिए
इसमें बड़ी बात क्या थी!
मोह तो बहल जाता है इस उमर में
फूल से, कहानी से, तितली से!

शूर्पणखा,
तुमसे कहूं तो क्या!
तुम तो बच्ची ही थी
मेरी बच्ची की उमर की!
दुनिया, बेटी देखो,
अब तक नहीं बदली!
अब भी विकट ही है
हर यात्रा कामना की!
नन्हा सा डैना उठा,
एक नन्हा रोआं कांपा
कि छूटने लगते हैं तीर
चारों दिशाओं से,
हुंकार उठते हैं तूणीरधारी
भोग में पगे हों
कि योग में पगे।
हां लेकिन,
एक बात ही कहनी है तुमसे!
पुरुष से निबटने में पुरुष नहीं बनते!
हर चोट अपने प्रत्युत्तर में

चोटों की चतुरंगिणी सेना साजे तो
थम पाएंगे क्या कभी भी
कुटिल युद्ध के सिलसिले?

vejQy

‘भिक्षा दे दे, माई’ ।
बहुत कनफटे जोगी देखे हैं बचपन में
सारंगी पर गाते गाथा
पिंगला रानी और भर्तृहरि की!
घेरकर उन्हें रोने लगती थीं औरतें मुहल्ले की,
खासकर वहां जहां राजा
अपनी ही रानी को
कहते थे ‘माई’!
एक दिन डरते हुए मैंने नानी से पूछा
“एक अमरफल पर इतना बवाल?
क्या कोई अपने सखा को
अपने हिस्से का कुछ अच्छा सा दे भी नहीं सकता?”
नानी ने घबराकर
मेरे मुंह में अपना आंचल ही ठूस दिया—
“बहुत बोलती है यह लड़की!
तुझे पद्मिनी नायिका बनना है कि रणचंडी?”
शाम तलक आंगन में क्लास लगी मेरी
स्त्री सुबोधिनी शृंखला वाली!
मैंने कहा— “मुझको कोई नहीं होना!
मैं कोई नहीं ही भली!
मगर कहे देती हूं, नानी,
अगर मुझे अमरफल मिला
तो मैं उसे
तुम्हारे इसी हंसिए से
आठ फांक काटूंगी,
बांटूंगी एक एक फांक
जहां जहां दिल चाहे!
क्या करूंगी मैं अकेली अमर होकर?
मुझको कौआना नहीं है
बेकार ही साथियों से बिछड़कर!
और सुनो, ऐ नन्ना

एक फांक तुमको भी दूंगी
 अपने अमरफल से
 कि वो भी दिन देखने को
 तुम जिंदा रहो
 जबकि रानी पिंगलाएं ही जोग धार लेंगी,
 चल देंगी छोड़ छाड़कर
 ऐसे घनचक्र राजाओं को
 जो जरा सी बात पर
 हो जाते हों
 जामे के बाहर!’’
 इस बात पर मेरी नानी
 अपने सुबुक मुंह में पान डाल मुसकायीं,
 संग संग उनके फिर मुसका दीं
 सब औरतें ऐसे राजाओं की
 जो जरा सी बात पर हत्थे से उखड़कर
 हो जाते थे जामे के बाहर!
 आज सोचती हूँ—
 क्या होता है यह अमरफल
 जो कि किसी कर्मफल की तरह
 न ही बांटा जा सकता है, न ही काटा!
 शायद यह जीवन के मर्म की समझ है
 जो कि किसी के समझाए गले नहीं उतरती!
 जीवन के निविड़तम क्षणों में कुतरता है आदमी इसे
 तो ही गले से उतरती है
 रसधार छोड़ती हुई, सींचती हुई रस से पोर पोर!
 होते हैं केवल एहसास अमर,
 बाकी सब जाता है छूट!
 इसी अमरफल के रसधार से सिंचकर
 हंस अकेला जाई!
 भिक्षा दे दे, माई!
 बहुत कनफटे जोगी देखे हैं बचपन में
 सारंगी पर गाते गाथा अमरफल की!

। ढकु

‘प्राण परै उरझै मुरझै निस बासर मैंन कहा तन आवत
 मोहिनी सूरत को दरसाय सुजान कहो इत क्यों नहिं आवत’।

कैसे चली आती तुम तक सुजान, प्रिय घनानंद?
 बरसाती नद सा उमगता हुआ
 जैसे कि प्रेम चला आता है जीवन में
 बंधे हुए पांवों में आती नहीं ताकत
 जंजीरें तोड़ दौड़ आने की!
 आते आते आता है जांगर,
 आते आते आती है हिम्मत
 तूफान की बांह थाम नाच जाने की!
 उद्दाम माधवी लता
 करती है उल्टी हवाओं में छूमछनन
 पंखुड़ी बिखेरती हुई जैसे पथ में,
 मैं नाच सकती थी
 गत तोड़े टुकड़े परन
 राह में तुम्हारी बिछाती पलक पांवड़े
 लेकिन ठगी सी खड़ी रह गई मैं तो
 और राह ही मुड़ गई।
 नाच ही गया जैसे,
 और फेरकर मुंह खड़ा हो गया
 'सूधो सनेह को मारग' वो अपना
 जो गौओं सा मुंह उठाए
 दौड़ा चला आता था तुम से मुझ तक, मुझसे तुम तक।
 गोधूलि की अकबक में
 अब तक थकमक सी खड़ी हूं
 जहां की तहां जैसे
 प्रौढ़ा कुट्टिनी दूतिकाएं
 मारे गए योद्धाओं की
 किन्हीं पद्मिनी नायिकाओं की चौखट पर!
 आलाप भरते हुए वैसे तो
 सचमुच बिसर जाती है दुनियादारी
 पर उस दिन तो तुमने हद कर दी!
 मेरी तरफ मुड़ गए और
 राजा को पीठ ही दिखा दी!
 देशनिकाले का फरमान सुनकर
 कैसे प्रशस्तमन भरोसे से बोले
 कि आओ, साथ चलो!
 एकदम से पास आकर खड़े हो गए...!
 प्रलयलीन पृथ्वी हुई मेरे मन की...

कैसे अब तुमको समझाऊं मैं
मार डालता तुमको राजा
मैं उठकर साथ चली आती जो ।

तुलसी की रतना पर भी आती है तोहमत!
कहते हैं, उसने भी राह नहीं रोकी,
पर रोक पाया है कौन भला राह किसी की?
जहां भी पहुंचना है जिसको, वो पहुंचता है वहीं!
एक कंदील सी कहीं टांग जाता है
बीच राह उठकर बहाना कोई!
मैं भी बहाना हुई
तुम तक तुम्हीं से जो राह गई,
मैं उस पर कंदील टांग गई!

फिर जैसे युग बीते,
सारे सिंगार हुए बासी!
टूटे जो घुंघरू, सितारे हुए!
टूट गए सब रिश्ते नाते,
लेकिन घनघोर घटाटोपों के बीच कहीं
आस अभी तक दमकती है
कि मिलना होगा दुबारा
अचानक कभी!
चांद और सूरज की जगमणियां हों गवाह!
‘सिमतमणि अल्ला, नबीचमणि मुहम्मद, तुरंगमणि बुराक,
गजमणि एरावत...चत्रा दिस मासूम परनमणि अली बीच
सीतल भलो मिहिस्त एतीमाम...सुजान अस्तुति कीन!’”

?kukum

‘अति सूधो सनेह को मारग है,
यहां नेकु सयानप बांक नहीं’
सूधो सनेह के मारग पर ही
तुम चले थे, महाकवि,
फिर भी यह बंकिमता!
कहीं न कहीं तो पगडंडी सा
यह बांकपन आ ही जुड़ता है
प्रेम के सरल मार्ग से ।

दुनिया के दरबार से
 यों ही निकाल दिए जाते हैं प्रेमी
 और टिककर बैठ जाते हैं मदमस्त
 अपने वजूद की नदी के किनारे।
 हंसते हुए खुद पर
 ऐसी ही बांकी चुटकियां लिया करते हैं
 तब वे
 अपने लला से—
 'तुम कौन धों पाटी पढ़े हो, लला,
 मन लेहुं पे देहुं छांका नहीं!'
 कौन नहीं जानता
 प्रेम गणित की कक्षा में
 हरदम पीछे बैठा,
 खिड़की से देखता हुआ मेघदूत
 या हिरामन सुआ,
 तभी न्याय की देवी ने इसको तराजू नहीं दी,
 पर दधीचि ने दे दीं अपनी आंखें
 सब हड्डियां दान देने के बाद जो बचीं
 टिमटिमाती खोह में!
 जिंदगी के श्लेष में अर्थ
 लिपटा ही रहता है दोहरा
 जैसे कि छांका आंकाता यह छांका
 'बटखरा' भी समझा जा सकता है।
 इसी तरह 'मन' बटखरे वाला
 आराम से समझा जा सकता है
 मन वो बहने और बहता चला जाने वाला
 सूधो से मारग से
 भंवरीली बांकिमता तक बहता
 और अंत में होता
 दोनों के पार
 'आनंदघन' की तरह
 बरसता उसी भाव से
 पीठ फेर बैठी सुजानों पर,
 दुनिया के जाने अनजानों पर!

ppko

‘अपनी चपलतम मुद्राओं में भी नर्तक
सम तो नहीं भूलता,
पहिया नहीं भूलता अपना धूरा,
तू काहे भूल गई, अनामिका?’
‘तू कौन है, याद रख’
शास्त्रों ने कहा!
तू तू मैं मैं करती दुनिया ने
उंगली उठाई
‘आखिर तू है कौन
किस खेत की मूली?’
मैं तो घबरा ही गई,
घबराकर सोचा—
इस विषम जीवन में
मेरा सम कौन भला?
नाम तक की कोई चौहद्दी
तो मुझको मिली नहीं
यों ही पुकारा किए लोग ‘अनामिका!’
एक अकेला शब्द ‘अनामिका’
आगे नाथ, न पीछे पगहा।
पापा ने तो नाम रखते हुए
की होगी यह कल्पना
कि नाम रूप के झमेले
बांधें नहीं मुझको
और मैं अगाध ही रहूं,
आद्या जैसी
घूमूं फिरूं जग में
बनकर जगतघातु जगत्साता।
चाहती हूं कि
साकार करूं
बेचारे पापा की कल्पना और
भूल जाऊं घेरेबाँदियां, लेकिन हर पग पर हैं बाड़े!
अचकचा जाती हूं
जब पानी पूछते हुए
लोग पूछ देते हैं आज तलक
‘आपलोग होते हैं कौन!’

रह जाती हूं मौन
अपनी जड़ें टटोलती!
पर मजे की बात यह है कि
एक खुफिया कार्रवाई
एकदम से शुरू हो जाती है तबसे ही
मेरे उद्गम स्रोतों की
और ताड़ से गिरकर
सीधा खजूर पर अटकती हूं
जब मेरी जाति के लोग
झाड़ देते हैं सब रहस्यवाद मेरा
और मिलाकर हाथ कहते हैं ऐन चुनाव की घड़ी,
'हम एक ही तो हैं, मैडम,
एक कुल गोत्र है हमारा!
अब की चुनाव में खड़ा हूं
आपके भरोसे!'
'मत याद रख, भूल जा'
गाता है जोगी
सारंगी पर गाता!
मुस्काके बढ जाती हूं आगे!

कनह उकुक; .क धरु रहु दफरुक, अ

/कुक

सलाई के दो खोखों
के बीच धागा
हम सुनते हैं फुसफुसाहटें कान में

मैं इस वक्त स्मार्ट फोन को
याद नहीं करना चाहता
इस पृथ्वी और आकाश के बीच
तुम
ऐसे ही बांध दो
अनेक धागे
जिनसे मैं सुन सकूं
तेरे होने की आवाज
चाहे तुम कहीं भी हो
तेरी सरसराहटें सुन सकूं
और पदचाप
तुम अगर बहुत व्यस्त हो

और बात न कर सको
तो
उन धागों से होकर
मुझ तक आ जाएं
तेरी हल्की फुसफुसाहटें
तुम अगर काम में लगी हो
तो
कुछ नहीं तो
बर्तन की खनक ही आ जाए
पछुआ हवा
तेरे कपड़ों से टकराकर
पैदा कर दे कोई आवाज
और वो मुझ तक पहुंच जाए

शब्द आ जाएं, निःशब्द आ जाएं
मौन आ जाए
और आ जाए तेरे सोचने की आवाज

तुम बोल पाओ या न बोल पाओ

बस ठीक से पकड़े रहना
धागे का दूसरा छोर

>B

मुझे याद है
जब मैं हाईस्कूल में पढ़ता था
तो झूठ इतना शक्तिवान नहीं था
धीरे धीरे झूठ की शक्ति
बढ़ने लगी है
झूठ पहले पैदल चलता था
अब रथ पर चलता है
पहले मोटर साइकिल मांगता था उधार
अब अकेले ऑडि पर चलता है
पहले पैसे पैसे के लिए रहता था मुहताज
अब वह दुनिया के कुछ अमीरों में शामिल है
पहले छल करता था

नायक बनने के लिए
 अब सीधे सीधे अधिनायक का
 आकार लेना चाहता है
 वह पहले बोरे पर बैठता था
 अब सिंहासन पर बैठता है
 अब झूठ अकेले नहीं
 करोड़ों लोगों को साथ ले
 भांजता है तलवार
 अब तो वह काया बदल लेता है
 बदल लेता है आत्मा, त्वचा,
 रक्त मज्जा बदल लेता है
 वह बदल लेता है रूप
 और मेरी मानो राम शरण
 वह हर जीव में अत्यंत सूक्ष्मता से
 वास करने लगता है
 कोने अंतरे और कास्मोपालिटन में
 हर जगह निवास करने लगा है
 मां कहती थी
 दइब झूठ के खिलाफ खड़ा होता है
 और सच के पक्ष में होता है संगठित
 पर सड़क के किनारे
 पीपल वृक्ष के नीचे बने
 हे गरीबों के देव!
 फिर क्यों
 दुनिया में झूठ की शक्ति
 इस गति से बढ़ती जा रही है।

tkvks

तुम्हें जहां भी जाना हो जाओ
 चौदह भुवन या सातों खंड में
 रहोगे तो मेरी पुतलियों में ही
 जहां भी उठेंगे तेरे पांव
 सड़क पर या पार्क की नर्म घास पर
 पड़ेंगे तो मेरी पुतलियों में ही
 तुम तोड़ोगे कहीं भी अगर
 बुरस के फूल

वो तो गिरेंगे मेरी पुतलियों में ही
तुम अगर निहारोगे गुलमोहर के फूल
तो वे उगेंगे मेरी ही पुतलियों में
कोई भी हवा
मदरांचल से चलती हो
या पर्वत कैलाश से
अगर वो छूकर गुजरेगी तेरी लट
तो वे लटें
उड़ेंगी तो मेरी पुतलियों में ही
अगर तुम जाओगे कोई भी द्वीप
वो तुम्हें सौंपेगा मेरी ही पुतलियों को ही
तुम जहां भी जाना
देखना उस पेड़ की ओर जिसकी डाली बड़ी हो
उसी डाली पर होगा सूखे नर्म घासों का बना
एक घोंसला

उसी घोंसले में
मिल जाऊंगा
मैं
हर जगह

uhy'sk j?kpa'kh dh dfork, a

90 के दशक में हिंदी कविता ने एक नया रूप ग्रहण किया था, उस दौर की बहुत खास कवि हैं नीलेश रघुवंशी। 'घर निकासी', 'पानी का स्वाद' और 'खिड़की खुलने के बाद' कविता संग्रहों के अतिरिक्त नीलेश के हिस्से में 'एक कस्बे के नोट्स' जैसा महत्वपूर्ण उपन्यास और अनेक पुरस्कार भी हैं।

vk/kh txg

जब भी पेड़ को देखती हूँ
आधा देखती हूँ
आधा तुम्हें देखने के लिए छोड़ती हूँ।

हर जगह को
आधा खाली रखती हूँ
सिरहाने को भी
आधा छोड़ती हूँ तुम्हारे लिए।

कभी भी
नदी को पूरा पार नहीं कर पाती
आधा पार

जो छोड़ती हूं तुम्हारे लिए।

कमल के पत्ते पर पानी कांपता है
चांद कांपता है जैसे राहु के डर से
वसंत के डर से कांपता है जैसे पतझर
मैं कांपती हूं आधेपन से
आधे चांद से जल से भरे आधे लोटे से
कांपती हूं तुम्हारे आधे प्यार से।

bl ykdrak ea

मैं जीना चाहती हूं
लेकिन
वैसे नहीं जैसे तुम चाहते हो

मैं पेड़ को पेड़ कहना चाहती हूं
उसके हरेपन और नए पत्तों में
खिल जाना चाहती हूं
तुम उसके इतिहास में जाकर कहते हो
ये हमारे मूल का नहीं
तुम पेड़ की मूल प्रजाति में विश्वास करते हो
मुझे पेड़ के संग हरियाने से रोकते हो।

जिस दिन गिलहरी ने
अपना घोंसला बनाया पेड़ में
उस दिन से मेरा मन पेड़ के भीतर रहने लगा
गिलहरी कहीं भी किसी भी जगह गांव देस परदेस में
बना सकती है किसी भी पेड़ पर अपना घर
एक गिलहरी दूसरी गिलहरी से
कभी नहीं पूछती तुम्हारा पूरा नाम क्या है?

मैं नदी सा बहता जीवन जीना चाहती हूं
तुम हो कि नदी को घाट से पाट देना चाहते हो
वाल्मिकि घाट पर खड़े हो झांकती हूं नदी में
तुमने नदी को नदी से पाट दिया।

किसी एक को राष्ट्रीय बग्गी में सुशोभित करते हो

लेकिन

हम सतरंगी सपनों के संग घोड़ी पर भी नहीं बैठ सकते
तुमने हमसे हमारे द्वीप छीने
सारा नमक ले लिया और सबसे ज्यादा
खारेपन की उम्मीद हमीं से करते हो।

देश का संविधान कहता है
हमें वोट देने का अधिकार है
तुम कहोगे लोकतंत्र में ऐसा ही होता है
मैं कहती हूँ
जब नदी को नदी, पेड़ को पेड़ और
अंधेरे को अंधेरा नहीं कह सकते तो
इस लोकतंत्र में
किससे कहूँ अपने मन की बात।

Mfy; k

जीजी को करैया जीजाजी तब छोड़कर चले गए
जब असल जीवन शुरू हुआ था
स्वाद आया था कि नमक छूट गया
नदी बगल से बहती है
लेकिन प्यास से कंठ सूखता ही नहीं
सीधी राह में तनिक भी तिरछापन नहीं।

भरी आवाज में बोली जीजी—
“हमरी डलिया बनवा लो बिन्ना
अब नहीं निभ रही हमसे।”

ससुराल में जीजी की पहली होली पर
बहुत बड़ी और रस से भरी डलिया गई थी
जिसमें मैदे की बड़ी बड़ी पूड़ियां, गूजा पपड़िया
चटपटे नमक से भरे सेव, नुक्ती, बरफी और गुलाब जामुन थे
मां और बुआ ने
गीत गाते डलिया को रंगबिरंगी साड़ी से सजाया था
कुछ इस तरह कि डलिया को ढकते हुए
कपड़े पर कोई सिलवट न आए
कोई ताड़ नहीं सकता था कि उसके भीतर क्या है

लेकिन उसकी महक को बुआ और मां छिपा न पाई।

ससुराल में डलिया के पहुंचते ही
महक जीजी के गले से लग गई
बंद डलिया की एक एक चीज को ताड़ गई जीजी
वो उस गीत को गुनगुनाने लगी
जिसे
मां और बुआ ने डलिया को बनाते और बांधते गाया था।

रस से भरे गुलाब जामुन खाते हुए
जीजाजी जीजी को रस से भरी आंखों से निहारते थे
डलिया के पास से गुजरते जीजी को ठूसा मारते थे
मां बुआ की रस से भरी रंगबिरंगी डलिया ने
जीवन में रंगों की बारिश कर दी थी।

वो रंगबिरंगी डलिया
जिसकी महक से जीजी लहकती थी
अब दुख से कराहती है।

सुख में भेजी डलिया
दुख में याद आती है।

HK& k ekjxk

वो एक नाव
जिसे मछुआरे छोड़ गए किनारे
जो कहीं न जाने के कारण मेरी तरह उदास है
उस नाव पर कुछ देर बैठ जाना है
हम डूब क्षेत्र के निवासी हैं
उथलापन हमारे स्वभाव में नहीं।

निकल पड़ती है साइकिल लेकर
नाव पर सवार होकर
डूब क्षेत्र के उस पार जाना है
भैया के आने से पहले घर लौट आना है।

लहराता दुपट्टा चैन के गले लग गया

साइकिल पर लहराती लड़की रो रही है
रोते रोते साइकिल की चैन में फंसे
दुपट्टे को देख हिचकियां भर रही है।

हिचकियों में किसकी याद भरी है?

बमुश्किल दुपट्टा चैन से निकला
लेकिन वो किसी काम का नहीं बचा
तार तार हो गया दुपट्टा
दुपट्टे को देख लड़की की रुलाई बुरी तरह फूट पड़ी।
– “भैया मारेगा। भैया मारेगा, भौत मारेगा भैया?”
– “क्या करता है तुम्हारा भैया? कितना बड़ा है?”
– “पढ़ता है भैया बारहवीं क्लास में
यहीं खेल अकादेमी में काम करता है।”
वो सिसकियां भरते, रोते हुए पैदल साइकिल लेकर चली गई।

किसने सोचा था
छोटी छोटी इच्छाएं
जान पर खेलकर पूरी करनी होंगी।
कौन जानता था
रास्ता पार करने के लिए
हर बार कच्चे में उतरना होगा।

डूब क्षेत्र में बस जाना है
डूब जाना है और पानी के उतर जाने पर
पानी पर खड़े हो जाना है
सबको पानी पानी कर देना है।

fiVw

कालू का बेटा है पिट्टू
कालू घर पर रहता है
पिट्टू खेत पर।

बहुत कम ऐसा होता है कि
कालू और पिट्टू एक साथ एक जगह रहते हों।

पिट्टू भूरा है और नन्हा
उसका लड़कपन सबका मन मोहता है।

एक दिन पिट्टू
चिड़ियों की चहचहाहट पर थिरक रहा था
मौसम सुहाना था, ठंडी ताजा हवा
रात के सारे कलुष धो रही थी।
पिट्टू कुछ ज्यादा ही रम गया
खेत से सड़क तक लोटने लहकने लगा
कि सड़क के उस पार के कुत्तों का हुजूम
पिट्टू पर टूट पड़ा।
हाथ में लाठी लिए ललकारते दौड़ते हुए
जब तक दादा खेत से सड़क पर आए
तब तक पिट्टू लहलुहान हो गया
उस पार के कुत्ते भौंकते हुए दूर तक चले गए
इस पार का पिट्टू दबा सहमा आंखों में आंसू भरे
दादा की गोद में हिचकियां लेते दुबक गया।

अब पिट्टू
टुकुर टुकुर ताकता सिहर जाता है जरा सी आवाज पर
चिड़ियों के चहकने से पहले ही
जमीन पर मुंह गड़ाकर जैसे कान बंद कर लेता है
लाख बुलाने पुचकारने पर भी नहीं आता
दादा हर दिन उस पार के कुत्तों को खदेड़ते हैं
पिट्टू को दूध बिस्किट देते हैं
लेकिन उसके भीतर बैठे डर को खदेड़ नहीं पाते।

फिर एक दिन
जमीन पर ईंट गारा और लोहा लक्कड़ आ गया
अब यहां घर बनेगा
घर के भीतर खिड़की होगी
जो बाहर की ओर खुलेगी
घर में बाहर होगा, बाहर में घर होगा
कर्ज होगा साथ में सूद होगा
जमीन अपना हिस्सा वसूलेगी
बहुत बड़ा आसमान होगा
कि पतंग उड़ाने दादा के नाती पोते आ गए

चिल्लर पार्टी को देख पिट्टू हुमकने लगा
फिर खेत के उस पार खड़े
जबरे कुत्ते को देख सहमकर दुबक गया।

दादा की सयानी बेटी ने पिट्टू को गोद में ले लिया
पुचकारते हुए बोली—
“का हो गओ पिट्टू, जाने तोए मारो, खूबई मारो।”
पिट्टू को सहलाते और जबरे को देख दांत मिसमसाते बोली—
“कोई बात नहीं, डर मत, रोए मत
रोवे से कछु नहीं होए, तेरे भी दिन आएंगे
जब जो बूढ़ो हो जाएगो और तू बड़ो
तब तू भी सूत देइए जाए।”
चिल्लर पार्टी ताली पीट पीटकर हंसने लगी
जबरे कुत्ते ने सुन ली जैसे ये बात
सिर झुकाए पलटकर चल दिया चुपचाप
पिट्टू दादा की बेटी के हाथों में लहराने लगा।

पिट्टू का मन बहल गया
डर निकलकर बह गया
मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो
प्राणी भी तो एक सामाजिक मनुष्य है।

I a; feJ dh pkj dfork, a

संजय मिश्र पढ़ते ज्यादा हैं, लिखते कम। जो लिखा भी, उसको लेकर संकोची। उनका कविता संग्रह 'उम्मीद की तरह एक विचार' प्रकाशित और चर्चित। गजलों की भी एक पुस्तक 'रोशनी के सुराग तक'। तद्भव में पहले पहले ये चार कविताएं।

जा %cgja

हरा रंग
पूरी तरह हरा नहीं था,
नारंगी भी
कई रंगों से मिला जुला था
नीला,
कभी आसमान और
कभी समुंद्र था,
लाल के तो
हजारों शेड थे,
काला रंग,
अंधेरे का,
वह भी कहां विशुद्ध था,
वहां भी,

किसी न किसी तरह से
 निकल ही आती थीं
 सुनहरी किरणें
 अनाम, अनजाने रंगों की,
 ग्रे शेड भी था
 यह सब,
 घनघोर अंधेरे
 काले रंग के
 कालेपन से
 लगातार लड़ रहे थे,
 बचा था सिर्फ
 एक रंग,
 जो बचा सकता था
 सारे ब्रह्मांड को,
 सिर्फ
 सफेद रंग
 जो दरअसल कोई रंग नहीं था
 बस था तो
 सारे रंगों की अनुपस्थिति।
 या सारे रंगों का तालमेल।

tgkavkdj ysjgh gSpVdhyh nfu; k

दस या बारह साल का
 एक बच्चा
 जाग जाता है
 सुबह सुबह,
 ताजा खिले फूलों में,
 गिलहरियों में
 घर के पिछवाड़े बंधी गाय,
 और गली में लोटते कुत्तों में

देखता है,
 सुबह की अंगड़ाई लेते हुए, आशा से विश्वास से
 दो रोटी और गुड़ का नाश्ता
 प्लेट में लिए
 दौड़ता है,

पड़ोस की दादी के पास
जो जर्जर हो चुकी है,
उनसे बांटने के लिए

एक रोटी भूख लेकर,
निकलता है स्कूल को,
मुन्नी, मीना और आयशा को
जिम्मेदार अभिभावक, भाई और दोस्त की तरह
उनके स्कूल में छोड़ता हुआ

आज भी
कोई न कोई
कहीं न कहीं
दुखहरन मास्टर
घर से लाए भूजी, भुट्टा या चने के भरोसे,
गढ़ ही डालते हैं,
कुछ ढांचे,
जहां मिलावट नहीं मिलती

इस धरती पर,
जहां
ज्यादातर तहखानों में
चलती है
धन, सत्ता या अहम की
दुरभिसंधियां,
चमकीले आवरण धरे,
वहीं कहीं
किसी सुदूर कोने में,
कोई अपने चेहरे पर
एक सूरज लिए सच का
मुकाबला करता रहता है
हर अंधकार से,
हार जाना
निश्चित होते हुए भी,

भयानक घुटन में भी
कहीं न कहीं से

आती रहती है हवा,
कोई न कोई जुगनू
कोई लालटेन
कोई सिगरेट लाइटर
या चमकती आंखें ही सही
लाती ही रहेंगी
रोशनी का सुराग

सारे षड्यंत्र,
अस्त्र शस्त्र
प्रलोभन,
पुचकार,
प्रहार
कहीं न कहीं
हार मानते ही हैं

देख सको तो देखो
जरूर जाकर
जहां शक्ति ले रही है
हर रोज,
साहित्य से,
बौद्धिक बकबक से
और संसद से भी
बाहर,
एक चटकीली
और प्यारी
नई दुनिया ।

ubz I f"V dh ryk'k

मुझे ढूंढनी थी
कोई नई सृष्टि
सबसे पहले,
मैंने बनाया एक आदमी/औरत का पुतला,
भरा एक पंप से
आक्सीजन,
लगाया मांस का प्लास्टर,

इंजेक्शन लगा दिया रक्त का,
 अंदर के तंतु भी जोड़ता रहा
 रातों को जागकर,
 अपनी आंखों का ही चश्मा
 और लेंस
 लगाए उसकी आंखों पर
 सालों से रखी संभालकर
 अपनी बातें
 रिकार्ड की हुईं
 डालीं उसके गले में,
 जोड़तोड़ कर खड़ा कर ही दिया
 उसे,
 सिले मैंने उसके कपड़े
 नए से नए फैशन के,
 खरीदे भी कपड़े
 नए से नए
 मंहगे से मंहगे
 ब्रांड के
 हरे रंग के,
 नीले रंग के,
 पीले रंग के,
 लाल रंग के,
 चार खानों के,
 फूल पत्ती के
 वगैरह वगैरह
 चुस्त दुरुस्त
 पूरी उम्र निकल गईं
 इस कवायद में,
 मगर,
 एक भी कपड़ा
 ऐसा न था,
 जो पूरी दुनिया में
 किसी और को फिट हो जाए
 या कोई कपड़ा
 जो इस आदमी के भी
 हमेशा नाप का
 बना रहे।

l; kj es/kk/kk/kMh

तुमने सुनी मेरी बात?

हां,

तुमने समझ ली मेरी बात?

हां, हां बिल्कुल

तुमने मानी मेरी बात?

एकदम, एकदम

मगर मैंने अभी तक

कुछ कहा ही नहीं

मैं बस बोलने को हूँ।

वफुक'क feJ dh ikp dfork, a

I edkyhurk

कितनी सारी कविताएं हैं आंखों के सामने
मैं एक भी लिख नहीं पा रहा हूं
मुझे प्रकाश चाहिए
अंधेरे में नहीं लिख सकता मैं

अंधेरा— बहुत मूर्त औ' घना
सारे शब्दों को व्यर्थ करता हुआ
मुक्तिबोध और सिनेमाघरों का नहीं
मेरे तलघर का अंधेरा

यह गतिरोध मेरे प्रतिरोध पर हावी है
मेरी इच्छाएं मेरी राजनीतिक चेतना पर
मेरी मुक्ति मेरी पक्षधरता पर
मेरी भूलें मेरे वर्ग पर

असमर्थ और वेध्य हूं मैं

और
चुप
भी!

0; k[; krhr

एक कस्बाई गर्म दुपहर में
ठेले पर फालसे बेचती आवाज के शोर में
वह धीमे धीमे बसता एक घर है
किसी लोकगायक की तरह व्यर्थ
किसी किसान के संताप की तरह अप्रासंगिक

वह चाहती है कि यहां उन मजदूरों का जिक्र भी आए जो बहुत दूर तक साथ रहे
फिर आगे निकल गए अपनी साइकिलों पर अपनी संगिनी को आगे बिठाए हुए

निर्णायक के चेहरे की हंसी से घायल
वह किसी आंदोलन की दिशाहीनता सी है—
बहुत देर से लगी हुई भूख में आखिरी खुली दूकान में रखे समोसों की तरह
वह कतार में कम होते चले जाने का इंतजार है

वह चाहती है कि यहां भविष्य का जिक्र रहने दिया जाए

D; k D; k ugha gɪk egʂk ds thou ea

प्यार से प्रारंभ कर
उत्तेजना पर शेष किया महेश ने

संसारप्रसिद्ध उद्धरणों को दुहराता हुआ वह
गुजरता रहा संकट के आतंक से

जिन किताबों ने बनाया उसे
वह छूता रहा उन्हें अंधेरे में

एक ही रूप में सब पहर खोया हुआ
जैसे संगमरमर हो स्याही से धोया हुआ
वह रात गए लौटता रहा
साइकिल पर दिन भर रिपोर्टिंग करने के बाद

तेजी से बदल रही थीं खबरें
लेकिन उसकी दिलचस्पी
खबर बनाने में नहीं
घर बनाने में रही आई

I Ppk dk; bkrk

उसकी जिंदगी का ज्यादातर हिस्सा
सदा से एक भेड़ होने की सदिच्छा से संचालित रहा है
इस प्रकार का संचालन ज्यादातर कार्यकर्ताओं को
अंततः एक ऐसे व्यक्ति में बदल डालता है
जो जुलूस में चलते हुए जुलूस के उद्देश्य के विषय में नहीं
इस पर सोचा करता है कि पता नहीं अभी और कितना चलना है

संभवतः वह एक सच्चा कार्यकर्ता नहीं है
एक सच्चा कार्यकर्ता जानता है कि उसका काम क्या है और क्या नहीं

I edkyhurk nks

समय कविता विरोधी नहीं है
वह बस कविता को एक प्रस्ताव की तरह स्थगित रखना चाहता है
स्वप्न और परिवर्तन की सम्मिलित शैली में
वह क्षण आए जब घृणा वश में हो
और भय भी
और समय कविता के आगे नतमस्तक हो
और कविता समय को स्वीकार करे
क्योंकि एकतरफा स्वीकार से कुछ नहीं होता
इसलिए ही समकालीनता इस तथ्य पर आधारित है
कि एक समय के बाद अगर समय कविता को न छोड़े
तब कविता उसे छोड़ देती है।

feffkyšk dækj jk; dh dfork, a

मिथिलेश कुमार राय, जन्म : 24 अक्टूबर, 1982, गांव लालपुर, जिला सुपौल, बिहार।
मिथिलेश मूलतः कवि हैं, यदाकदा कहानियां भी लिखते हैं। कहानी 'स्वरटोन' पर 'द इंडियन
पोस्ट ग्रेजुएट' नाम से फीचर फिल्म का निर्माण। कविताओं का पहला संग्रह 'आदमी बनने के
क्रम में' शीघ्र प्रकाश्य। तद्भव में पहली बार प्रकाशित।

vkum | kxj

हम कभी चमकते चेहरे के बारे में नहीं सोचते
बैठते हैं तो ऊपर की ओर निहारते हैं
और बारिश के बारे में सोचने लग जाते हैं

सूरज की तपिश से हमें दादा परदादा के लगाए वृक्षों की याद आ जाती है
तब हम उनकी बातें नहीं करते
जो सिर्फ बातें करते हैं
हम अपने नाखूनों से मिट्टी को खुरचकर देखते हैं
और गीलेपन के बारे में सोचने लग जाते हैं

घनघोर बारिश की रातों में हमें नींद नहीं आती
हम पौ फटने की बाट जोहते हैं

और धान के विरवे के हरेपन को सोचकर मुस्कराते रहते हैं

पसीने से हमेशा ही हम पानी की बूंदों को याद करते हैं
और इसका स्वाद भी कितना खारा होता है
जीभ से बूंदें जब भी टकराती हैं
आंखों के आगे नमक का ढेला चमकने लगता है
और नमक का दृश्य जब भी कौंधता है
वह हमेशा रोटी के टुकड़े के साथ ही आता है

तब हमें कोई चुटकुला याद नहीं रहता
और न ही हम ठठाकर हंसने की कोशिश करते हैं

हमें लगता है कि हम आनंद के सागर में डुबकी लगा रहे हैं
तब हम मंद मंद मुस्कराने लगते हैं

/ki dkbZ l oky ughaŋS

बूंद बूंद करके
चेहरे से पाव भर पसीना निकल गया होगा
शेष बदन का नहीं बता सकता
उसे सोखकर कपड़े भींग रहे थे
और छाता
गर्म होकर भाप बन रहा था

क्या तो कहते हैं कि सावन भादों का आकाश
जिस दिन बादल के टुकड़ों से मुक्त हुआ रहता है
उस दिन का सूरज
जेठ का नाना बन जाता है

लेकिन उस बढई के बारे में कोई बताए
कि उसके बदन से चू गए पसीने की मात्रा कितनी होगी
और धान रोपती उन स्त्रियों की देह से
कितना पसीना बहकर
उस पानी में मिल गया होगा
जिसे मिट्टी को
कीचड़ बनाने के लिए निकाला गया था

इन सब का पसीना
बहुत ज्यादा बहा होगा
मगर कितना
यह पूछूंगा तो वे हंसेंगे
जोर जोर से हंसने लगेंगे
कि यह भी कोई सवाल है

धूप कोई सवाल नहीं है
और न ही पसीना
सवाल यह है कि अगर थोड़ी सी हवा चलती तो
काम थोड़ा और हो जाता

vll; kl

कपड़ा फींचना थोड़ा कठिन काम है
उससे आसान काम है झाड़ू लगाना
लेकिन क्या झाड़ू लगाने जितना ही हल्का काम
पोंछा लगाना भी है

जले बर्तन को देर तलक मलते रहना जरूर उबाऊ काम होगा
उससे भी उबाऊ काम गीली लकड़ी को सुलगाना होता होगा
फूंक पर फूंक मारना सरल काम कैसे हो सकता है
वो भी धुएं की चुभन को जगह देते हुए

लेकिन गुनगुनाना
और किसी बात पर मुस्कराना
सबसे अच्छा काम है
इतना सरल कि बिना किसी जादू के ये हो जाता है

सब्जी में मगर ठीक ठीक नमक
और मिर्च की मात्रा डालना
ये जरूर कठिन काम होते होंगे
तब तो और भी ज्यादा
जब तीखे पर सादा
और सादा पर तीखा का रंग लाल हो जाता होगा

यह तो फिर भी ठीक है कि इन सब का अभ्यास हो जाता है

लेकिन आकाश की तरफ देखकर
फिर नजरें नीची कर लेना
और आवाज जहां से निकलती है
उसे वहीं पर घोंट देना
कितना कठिन काम होता होगा

>B

झूठ कहा था महाजन को
कि अभी नहीं मिली है मजूरी
हाथ में आते ही सेवा में हाजिर हो जाऊंगा
यह भी झूठ ही था
कि अभी मक्का नहीं ले गया व्यापारी
बिकता तो मैं दरवाजे पर पहुंचा आता

पाप का तो पता है बहुत सारा
कि झूठ बोलकर बच निकलना भी
कोई पुण्य का काम नहीं
ऊपर के खाते में क्या जमा होगा
कभी नींद नहीं आती तो यही सोचते रात कटती है
कि नीचे के खाते में तो सिर्फ शून्य भरा है

मगर वे क्या करें
जो न इधर के ठहरे
और न उधर के ही माने जाएंगे

लेकिन सुनते हैं कि इस दुनिया में
अपनी जान बचाना कोई मामूली बात नहीं है
जान है तभी यह जहान है
ऊपर का किसको क्या पता

तो मजूरी का पैसा भी मिल गया था
और मक्के का आठ सौ पचास रुपैया भी हाथ ही में था
हुआ यह कि घरनी का कपड़ा चिंदी चिंदी था
उसका उधरा बदन देखता था तो गुस्सा आ जाता था

बाजार गया तो जोड़ा साड़ी लेकर लौट आया

dfkk ea i eh dk foj.k

कहते हैं कि जब हम छोटे बच्चे थे
उसी समय जो लड़के जवान हो रहे थे
और उनमें से जिन लड़कों को प्यार हो जाया करता था
वे कितना प्यार करते हैं इस बात को गहराई से समझाने के लिए
अक्सर अपनी प्रेमिका को
खून से चिट्ठियां लिखा करते थे

सुनते हैं कि खून से लिखी चिट्ठियां देखकर
प्रेमिका इतनी भाव विह्वल हो जाया करती थीं
कि वे भी ब्लेड से अपनी हथेली काट लिया करतीं
और रोतीं जातीं
खून से लिखीं चिट्ठियां प्रेमी तक उनके आंसुओं में भींगी हुई पहुंचा करतीं
कि आंसू में भीगकर चिट्ठी के सारे शब्द अस्पष्ट हो जाया करते
कि प्रेमी को पूरे कागज पर खून ही पसरा हुआ मिला करता
जिसे छाती से लगाए
वे और अधिक एकांत की तलाश में वीराने की ओर भाग जाया करते
और वहां बैठकर घंटों हिचकते रहते

कहते हैं कि तब प्रेमिका
सब्जी काटते हथेली कट जाने का बहाना गढ़ा करतीं
और प्रेमी आंखों में धूल या कोई कीड़ा चले जाने की बातें कहकर
अपनी बेबसी को छुपाने की कोशिश किया करते थे
तब प्रेमिका पकड़े जाने पर कितनी मार खाती थीं
कथा में इसका विवरण सुनते हुए
आंखों के पोर से आंसू लुढ़क पड़ते हैं
कहते हैं कि तब प्रेमिका
आनन फानन में
किसी दूर देश में ब्याह दी जाती थीं

यह भी कहते हैं कि
तब जब यह बात जग जाहिर हो जाती थी
प्रेमिकाएं कुलच्छनी की संज्ञा में तब्दील हो जाया करती थीं
और उनकी किस्मत शेष दिनों के लिए
बदकिस्मती में बदल जाती थी

इस कथा में पकड़े जाने के बाद प्रेमी का
कोई खास विवरण नहीं मिलता है
वे न कभी तनकर खड़े होते
न ही नायक की तरह भिड़ जाते
वह अचानक ही परिदृश्य से कहीं अदृश्य हो जाया करते
और जब उगते
उसी तरह हंसते गाते
फिर दुनियादारी में लग जाया करते

यह कथा प्रेमिका की सिसकी से गुंजित मिलती है।

fogkx oBko dh dfork, a

युवा विहाग वैभव परिपक्व ढंग से शक्तिकेंद्रों की हिंसा और बर्बरता को अपनी कविता का विषय बनाते हैं। बी.एच.यू. में शोध कर रहे वैभव की कविताएं अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के साथ कई ब्लागों और वेबसाइटों पर प्रकाशित। तद्भव में पहली बार।

gR;k i jLdkj dsfy, i l foKflr

वे कि जिनकी आंखों में घृणा
समुद्र सी फैली है अनंत नीली काली

जिनके हृदय के गर्भगृह
विधर्मियों की चीख
किसी राग की तरह सध रही है सदी के भोर ही से

सिर्फ और सिर्फ वही होंगे योग्य इस पुरस्कार के

जुलूस हो या शांति मार्च
श्रद्धांजलि हो या प्रार्थनासभा
जो कहीं भी, कभी भी
अपनी आत्मा को कुचलते हुए पहुंच जाए

उतार दे गर्दन में खंजर
दाग दे छाती पर गोली
इससे तनिक भी नहीं पड़े फर्क
गर्दन आठ साल की बच्ची की थी
छाती अठहत्तर साल के साधू की थी

देश के ख्यात हत्यारे आए
अपना अपना कौशल दिखाएं
अलग अलग प्रारूपों में भिन्न भिन्न पुरस्कार पाएं

मसलन
बच्चों की हत्या करें चिकित्साधिकारी बनें
स्त्रियों की हत्या करें सुरक्षाधिकारी बनें

विधर्मियों की लाशें कब्रों से निकालें फिर हत्या करें
मुख्यमंत्री बनें
देश की छाती में धर्म का धुंआ भरकर देश की हत्या करें
प्रधानमंत्री बनें

इच्छुक अभ्यर्थी हत्या पुरस्कार के लिए
निःशुल्क आवेदन करें और आश्वस्त रहें

पुरस्कार निर्णय की प्रक्रिया में
बरती जाएगी पूरी लोकतांत्रिकता।

vks>k&h tkjh gS

तपते तवे पर डिग्रियां रखकर
जवान लड़के जोर से चिल्लाए— रोजगार

बिखरे चेहरे वाली अधनंगी लड़की
हवा में खून सना सलवार लहराई
और रोकर चीखी— न्याय

मोहर लगे बोरे को लालच से देख
हंसिया जड़े हाथों को जोड़
किसान गिड़गिड़ाया— अन्न

उस सफेद कुर्ते वाले मोटे आदमी ने
योजना भर राख दे मारी इनके मुंह पर
मुस्कुराकर कहा— भभूत ।

ryokjka dk 'kkdxhr

कलिंग की तलवारें
स्पार्टन तलवारों के गले लगकर
खूब रोयीं इक रोज फफक फफक

रोयीं तलवारें कि उन्होंने मृत्यु भेंट दिया
कितने ही शानदार जवान लड़कों की
रेशेदार चिकनी गर्दनों पर नंगी दौड़कर
और उनकी प्रेमिकाएं
बाजुओं पर बांधें
वादों का काला कपड़ा
पूजती रह गई अपना अपना प्रेम
चूमती रह गई बेतहाशा
कटी गर्दन के होंठ

तलवारों ने याद किए अपने अपने पाप
भीतर तक भर गईं
मृत्युबोध से जन्मी जीवन पीड़ा से

तलवारों ने याद किया
कैसे उस वीर योद्धा के सीने से खून
धुले हुए सिंदूर की तरह से बह निकला था छलक छलक
और योद्धा की आंखों में दौड़ गई थी
कोई सात आठ साल की खुश
बांह फैलाए, दौड़ती पास आती हुई लड़की

कलिंग और स्पार्टन तलवारों ने
विनाश की यंत्रणा लिए
याद किया सिसकते हुए
यदि घृणा, बदले और लोभ से भरे हाथ
उन्हें हथेली पर जबरन न उठाते तो
वे कभी भी अनिष्ट के लिए

उत्तरदायी न रही होतीं

दोनों तलवारों ने सात्वना के स्वर में
एक दूसरे को टांडस बंधाया—
तलवारें लोहे की होती हैं
तलवारें बोल नहीं सकतीं
तलवारें खुद लड़ नहीं सकतीं।

Nne I 0nukvka dks Hkqk yks I kFkh

छद्म संवेदनाओं को भुना लो साथी
कहीं दुर्घटनाओं का यह सुअवसर निकल न जाए

भीतर से जरा और दम साधो
आंखों में तनिक और नमी लाओ
चेहरे पर पोत लो रोना और भी अधिक
कि भुक्तभोगी जान जाय कि तुम उसके दुख में उससे अधिक दुखी हो

उसकी मां को अंकवार में भींच लो बच्चे की तरह
और अपनी शर्तिया वेदना से उसे तृप्त कर दो
जब तक कि वह तुम्हारी धूर्त संवेदना को पहचान न ले

उसके दुख में सर्वाधिक करुणा उगलो
और उसका सबसे बड़ा हितकारी बनने की प्रतियोगिता में प्रथम आओ

दुर्घटना की एक एक जानकारी बहुत करीने से लो ऐसे
कि जैसे तुम देवता हो और उसमें कुछ जरूरी बदलाव कर सकते हो।

इन सबके बीच एक जरूरी काम यह भी करना कि
वह जो भीड़ से अलग खड़ा अपनी ही खामोशी में बिलखता जा रहा है
उसे परिदृश्य से बाहर ही धकेले रखना
कहीं वह फूट पड़ा तो
तुम्हारे आंसुओं का नकलीपन पहचान में आ जाएगा।

उसके फूटने के पहले
छद्म संवेदनाओं को भुना लो साथी
कहीं दुर्घटनाओं का यह सुअवसर निकल न जाए।

pk; ij 'k=kq| sud

उस शाम हमारे बीच किसी युद्ध का रिश्ता नहीं था
मैंने उसे पुकार दिया—
आओ भीतर चले आओ बेधड़क
अपनी बंदूक और असलहे वहीं बाहर रख दो
आस पड़ोस के बच्चे खेलेंगे उससे
यह बंदूकों के भविष्य के लिए अच्छा होगा

वह एक बहादुर सैनिक की तरह
मेरे सामने की कुर्सी पर आ बैठा
और मेरे आग्रह पर होंठों को चाय का स्वाद भेंट किया

मैंने कहा—
कहो कहां से शुरुआत करें?

उसने एक गहरी सांस ली, जैसे वह बेहद थका हुआ हो
और बोला— उसके बारे में कुछ बताओ

मैंने उसके चेहरे पर एक भय लटका हुआ पाया
पर नजरअंदाज किया और बोला—

उसका नाम समसारा है
उसकी बातें मजबूत इरादों से भरी होती हैं
उसकी आंखों में महान करुणा का अथाह जल छलकता रहता है
जब भी मैं उसे देखता हूँ
मुझे अपने पेशे से घृणा होने लगती है

वह जिंदगी के हर लम्हे में इतनी मुलायम होती है कि
जब भी धूप भरी छत पर वह निकल जाती है नंगे पांव
तो सूरज को गुदगुदी होने लगती है
धूप खिलखिलाने लगती है
वह दुनिया की सबसे खूबसूरत पत्नियों में से एक है

मैंने उससे पलट पूछा
और तुम्हारी अपनी के बारे में कुछ बताओ...
वह अचकचा सा गया और उदास भी हुआ

उसने कुछ शब्दों को जोड़ने की कोशिश की—

मैं उसका नाम नहीं लेना चाहता
वह बेहद बेहूदा औरत है और बदचलन भी
जीवन का दूसरा युद्ध जीतकर जब मैं घर लौटा था
तब मैंने पाया कि मैं उसे हार गया हूँ
वह किसी अनजाने मर्द की बांहों में थी
यह दृश्य देखकर मेरे जंग के घाव में अचानक दर्द उठने लगा
मैं हारा हुआ और हताश महसूस करने लगा
मेरी आत्मा किसी अदृश्य आग में झुलसने लगी
युद्ध अचानक मुझे अच्छा लगने लगा था

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा और बोला—
नहीं मेरे दुश्मन ऐसे तो ठीक नहीं है
ऐसे तो वह बदचलन नहीं हो जाती
जैसे तुम्हारे सैनिक होने के लिए युद्ध जरूरी है
वैसे ही उसके स्त्री होने के लिए वह अनजाना लड़का

उसने मेरे तर्क के आगे समर्पण कर दिया
और किसी भारी दुख में सिर झुका दिया

मैंने विषय बदल दिया ताकि उसके सीने में
जो एक जहरीली गोली अभी घुसी है
उसकी कोई काट मिले—

मैं तो विकल्पहीनता की राह चलते यहां पहुंचा
पर तुम सैनिक कैसे बने?
क्या तुम बचपन से देशभक्त थे?

वह इस मुलाकात में पहली बार हंसा
मेरे इस देशभक्त वाले प्रश्न पर
और स्मृतियों को टटोलते हुए बोला—

मैं एक रोज भूख से बेहाल अपने शहर में भटक रहा था
तभी उधर से कुछ सिपाही गुजरे
उन्होंने मुझे कुछ अच्छे खाने और पहनने का लालच दिया
और अपने साथ उठा ले गए

उन्होंने मुझे हत्या करने का प्रशिक्षण दिया
हत्यारा बनाया
हमला करने का प्रशिक्षण दिया
आततायी बनाया
उन्होंने बताया कि कैसे मैं तुम्हारे जैसे दुश्मनों का सिर
उनके धड़ से उतार लूं
पर मेरा मन दया और करुणा से न भरने पाए

उन्होंने मेरे चेहरे पर खून पोत दिया
कहा कि यही तुम्हारी आत्मा का रंग है
मेरे कानों में हृदयविदारक चीख भर दी
कहा कि यही तुम्हारे कर्तव्यों की आवाज है
मेरी पुतलियों पर टांग दी लाशों से पटी युद्धभूमि
और कहा कि यही तुम्हारी आंखों का आदर्श दृश्य है
उन्होंने मुझे क्रूर होने में ही मेरे अस्तित्व की जानकारी दी

यह सब कहते हुए वह लगभग रो रहा था
आवाज में संयम लाते हुए उसने मुझसे पूछा—
और तुम किसके लिए लड़ते हो?

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं था
पर खुद को स्थिर और मजबूत करते हुए कहा—

हम दोनों अपने राजा की हवश के लिए लड़ते हैं
हम लड़ते हैं क्यों कि हमें लड़ना ही सिखाया गया है
हम लड़ते हैं कि लड़ना हमारा रोजगार है

उसने हल्की हंसी मुस्कराते मेरी बात को पूरा किया—
दुनिया का हर सैनिक इसी लिए लड़ता है मेरे भाई

वह चाय के लिए शुक्रिया कहते हुए उठा
और दरवाजे का रुख किया
उसे अपनी बंदूक का खयाल न रहा
या शायद वह जानबूझकर वहां छोड़ गया
बच्चों के खिलौने के लिए
बंदूक के भविष्य के लिए

उसने आखिरी बार मुड़कर देखा तब मैंने कहा—
मैं तुम्हें कल युद्ध में मार दूंगा
वह मुस्कराया और जवाब दिया—
यही तो हमें सिखाया गया है।

fdl kfuu tXxh nsh

nhflr fizk egjksk

दीप्ति प्रिया महरोत्रा ने प्रसिद्ध 'किसानिन' जग्गी देवी पर यह पुस्तक मूल रूप से हिंदी में लिखी थी किंतु त्रासदी ही है कि पुस्तक का स्वयं दीप्ति महरोत्रा द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद छप गया जबकि मूल पांडुलिपि प्रकाशन का इंतजार करती रही। एक बार चंद्र प्रतियां उत्साह में छापकर लोकार्पण भी हुआ पर इसके आगे वह प्रयास भी न बढ़ सका। हम उस संपूर्ण कृति को यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

vè; k; 1 % tXxh dk cpiu

“मेरे माता पिता ने मेरा नाम ‘जग्गी’ रखा। वो चाहते थे कि मैं जग के लिए काम करूं।”
— जग्गी देवी

tXxh nsh का जन्म एक गरीब किसान परिवार में हुआ। उनकी मां का नाम था धिराजी, पिता थे काशी कूर्मी। सन् 1917 रहा होगा। उस समय काशी व धिराजी जमींदार के खेतों में दिनभर कड़ी मेहनत करके दो रोटी कमाते थे। उनकी अपनी जमीन न थी। वे थे 'टेनन्ट' किसान यानी जमींदार की जमीन पर रहकर अपने श्रम द्वारा उसका किराया चुकाते थे।

वे प्रतापगढ़ जिले के पारा गांव में रहते थे। प्रतापगढ़ था अवध में, और अवध था 'यूनाइटेड प्रोविंसिज ऑफ आगरा एंड अवध' (यू.पी.) का हिस्सा। यू.पी. में आज के उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल का अधिकांश भाग शामिल था।

काशी और धिराजी ने अपनी बेटी को 'जग्गी' नाम दिया— एक अनोखा नाम। इस नाम द्वारा उनकी आकांक्षा व सोच स्पष्ट झलकती थी— जग्गी जो भी करेगी वो 'जग के लिए' करेगी।

काशी और धिराजी सामाजिक कार्यकर्ता थे। अवध में किसान सभा बनाने की नींव रखनेवालों में वे दोनों शामिल थे। उनकी सोच व गतिविधियों द्वारा, पैदा होते ही जग्गी के लिए एक तरह का साया बनने लगा था।

fdl ku vkmsyu dh uho

जग्गी के जन्मकाल के समय, स्थानीय किसान नेता स्थानीय समस्याओं के आधार पर लोगों को लामबंद करने लगे थे। अवध में मुख्य समस्या दो तबकों के बीच थी— एक ओर ताल्लुकदार, जमींदार, पुख्तादार इत्यादि जमीन के मालिक, और दूसरी ओर गरीब किसान। जिनकी अपनी कोई जमीन नहीं थी। काशी कुर्मी और धिराजी गरीब भूमिहीन किसान होने के नाते अपने वर्ग के अन्य साथियों की तरह भयानक शोषण के शिकार थे।

किराया कभी भी बढ़ा दिया जाता, और कभी भी गरीब किसान को जमीन से बेदखल कर दिया जाता था। बेगार का अत्याचार फैला हुआ था। संकट के समय कर्ज लेने के बाद तो किसान जीवनभर ऊंचा सूद ही लौटाता रहता यहां तक कि उसके बेटे बेटी भी बंधुआ मजदूर बन जाते। गरीब किसानों को कई सारे अटपटे ‘नजराने’ देने पड़ते थे। ‘मोटरवान’ जिससे जमींदार या ताल्लुकदार अपनी मोटर की देखरेख कर सकें, ‘हथियाना’ उनके हाथियों की परिवरिश हेतु— वगैरह। गरीब किसानों को ‘अबवाब’ चुकाने पड़ते थे— यानी अपनी बनाई हर चीज का भारी हिस्सा जमींदार ताल्लुकदार को जाता था। गेहूं चावल हो या दाल सब्जी की फसल, घी, दूध, सूत, भूसा, भेड़ बकरी या और कुछ भी। चमार, कुर्मी, कोयरी, अहीर, लोध, लुहार वगैरह जातियों का कोई बंदा अगर कर्ज लेता तो पीढ़ी दर पीढ़ी बंधुआ होना ही पड़ता।

इस शोषण के खिलाफ लोगों के मन में गुस्सा भरा हुआ था। उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में ऊंचे किराये, बेदखली व नजरानों के खिलाफ आवाज उठ रही थी। गरीब किसानों में कुछ अंश तक डकैती व गेहूं की चोरी इसी विद्रोह भाव के लक्षण थे। विद्रोह के ऐसे तरीकों द्वारा भुखमरी के समय गरीब जनता अपने को मौत के मुंह से वापस खींच लाती थी।

अवध के जमींदार व ताल्लुकदार अपनी जमीन पर काम करनेवाले भूमिहीन किसानों से किराया इकट्ठा करके अंग्रेजी हुकूमत को लगान दे देते थे। सन् 1857 के बाद अंग्रेजी शासकों ने बड़े जमींदार ताल्लुकदारों की खूब खुशामद की, उन्हें लोगों के ‘कुदरती पथप्रदर्शकों’ की उपाधि दी, और अपनी जायदाद बढ़ाने की छूट व सत्ता इस्तेमाल करने के अनेक मौके दिए। गरीब जनता उनके पांव तले दबती रही। पूरी यू.पी. को लिया जाए तो उसमें जमीन पर मिल्कियत गिने चुने लोगों की थी, हालांकि उस जमीन पर काम करनेवाले लाखों गरीबजन थे।

गरीब किसानों पर बोझ इतना बढ़ता गया कि उस बोझ को उठाना संभव ही नहीं था। उनके कर्ज बढ़ते गए, कमाई घटती गई। बाढ़ या सूखा के प्रकोप से वे एकदम तिलमिला उठते। औपनिवेशिक काल के दौरान, भारतीय किसान विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के न्यूनतम स्तर पर स्थित थे। वे अति शोषित जन थे जिनका शोषण जमींदार, महाजन, व्यापारी, धनवान सभी कर रहे थे और ऊपर से साम्राज्यवादी देश।

काशी और धिराजी ने बचपन से पीड़ा और अत्याचार ही देखे थे। अंग्रेजी हुकूमत और उनके स्थानीय मददगारों द्वारा लूट चल रही थी। काशी और धिराजी शोषण के हर क्रूर वार के बारे में जब जब सुनते, देखते या अनुभव करते तो उनका खून खौल उठता। स्थानीय प्रभावशाली किसान नेता, जैसे बाबा रामचंद्र, झिंगूरी सिंह, अछैबर सिंह और सहदेव गरीब

किसानों के बीच जाकर एकजुट होकर लड़ने की प्रेरणा जगा रहे थे। उन्हें लामबंद कर रहे थे। काशी कुर्मी भी उनके साथ हो लिए। उत्साह और जोश था ही इस युवक में, इसलिए जल्द ही वो भी नेतृत्व में आ गया। धिराजी ने भी पूरे जी जान से समर्थन किया।

भारत के अनेक हिस्सों में उन्नीसवीं सदी से कई स्थानीय व प्रांतीय किसान आंदोलन हुए। ये आंदोलन स्थानीय शोषण व सत्ताधारियों के खिलाफ थे, और साथ ही अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ भी। असल में साम्राज्यवाद के दौरान किसान विद्रोहों द्वारा जनता ने अधिकाधिक अपनी असहमति जाहिर की थी।

xjhc fdl kuka dh nqZkk

सन् 1900 से 1920 तक, यू.पी. में बेदखली की घटनाएं दुगुनी से ज्यादा हो गईं। सन् 1921 में 37844 बेदखली के मामले कानून में दर्ज हुए। इन्हीं बीस वर्षों में कीमतें डेढ़ गुना से अधिक बढ़ गईं। नमक, खाद्यान्न, मिट्टी का तेल, कपास जैसे आवश्यक वस्तुओं के दाम बहुत तेजी से बढ़े। गरीब किसानों को खाद्यान्न इत्यादि वस्तुएं कुछ मात्रा में बाजार से खरीदनी ही पड़ती थीं। अवध के गरीब किसानों की अत्यंत दुर्गति हुई क्योंकि इस इलाके में बेदखली के मामले सबसे अधिक थे।

कर्ज, बीमारी, भूख व बेहाली इस धरती पर फैल गई। अवध के अत्यंत गरीब किसानों का शोषण इतना बढ़ा कि भुखमरी रोकने के लिए अजीब अजीब उपाय करने पड़े। 'कन्या विक्रय' के कई किस्से हुए, इसमें अपनी ही बेटी को दो चार सौ रुपये में बेच देते।

पहला विश्वयुद्ध (1914-18) के खत्म होते होते आम इन्सान वस्तुओं के अभाव में पिस रहे थे। जब 1918 की मानसून (वारिश) बुरी रही, तब स्थिति और बदतर हो चली। अकाल पड़े, बीमारियां फैलीं। प्लेग, हैजा (कॉलरा) और तरह तरह के तेज बुखारों का प्रकोप इतना भयंकर हुआ कि यू.पी. में ही लगभग बीस लाख लोग एक बीमारी— तेज बुखार (इन्फ्लूएंजा) के शिकार हुए (मर गए)। इनमें से भारी संख्या गरीब जनता की थी, जो वैसे ही कमजोर और बेहाल थी।

dk'kh dphZ dh eR; q

काशी कुर्मी को इन्फ्लूएंजा हो गया। धिराजी की देखभाल व सेवा के बावजूद उनकी हालत गिरती रही। कुछ दिनों के तेज बुखार ने उनकी जड़ ही कच्ची कर दी। दवादारू जो भी थे उपलब्ध किए गए, परंतु कोई फायदा न हुआ। काशी कुर्मी मौत की तरफ बढ़ गए।

काशी की बिटिया, जग्गी, छोटी सी थी जब उसके पिता का देहांत हो गया। गोदी में खेलने की उमर थी इस नादान शिशु की। धिराजी पर दुख का पहाड़ टूट पड़ा। पूरे परिवार, रिश्तेदार व किसान आंदोलन के साथियों को धक्का पहुंचा। दुख की बदली छा गई। काशी कुर्मी की उमर बीस पच्चीस वर्ष की ही थी, जिस समय बीमारी उन्हें इस धरती से उठा ले गई।

fekjkt dh dk nqk o ^emkQjkskh*

धिराजी के लिए इससे बुरा और क्या हो सकता था! कमसिन युवती अचानक वैधव्य के काले कुंए में गिर पड़ी। धिराजी ने अपना पति खोया, साथ में घरबार व जीविका का साधन भी उससे छिन गया। काशी की मौत के साथ, उनकी रोजी रोटी भी चली गई। अन्य महिलाओं की तरह, धिराजी का जमीन व काम पर कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। वो जानती थीं कि पति की मौत

के बाद उन्हें अपनी छोटी सी झोपड़ी भी छोड़नी पड़ेगी।

धिराजी को पाटा गांव की रिहाइश से बेदखल कर दिया गया। आदमी की मौत होते ही उसके बीवी बच्चों को बेदखल कर देने का रिवाज था। अवध भर में यही अमानवीय प्रथा थी। इस प्रथा को कहते थे 'मुर्दाफरोशी'— मुर्दा को बेच देना। बहुत सी महिलाएं इसी प्रथा के चलते पति की मौत पर विधवा ही नहीं, बल्कि बेघर बेरोजगार भिखारी बन जाती थीं।

धिराजी अपनी ससुराल आकर रहने लगीं। सास ससुर की थोड़ी सी जमीन थी, पर पेट पालने के लिए यह पर्याप्त न थी। काशी के भाई भी जमींदारों के खेत पर काम करते थे, वहीं रहते। धिराजी को मालूम था कि अभाव व गरीबी के चलते ससुराल में उन्हें बोझ माना जाएगा। हमेशा एक डर बना रहता था। जेठ देवों को उल्टा शक होता कि कहीं छोटी सी जमीन में वो आखिर अपना हिस्सा न मांग लें। धिराजी दिनभर कड़ी मेहनत करतीं घर में भी, और खेत में भी।

धिराजी गांव की साधारण महिला थीं— पर हर ग्रामीण महिला की तरह उनसे भी बचपन से अनेक कष्ट सहे थे। मुसीबतों का सामना किया था। अपनी जिंदगी का सबसे बड़ा संकट उनपर टूट पड़ा। इस संकट ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। परंतु धिराजी ने हार न मानी। उन्होंने अपनी कमर कस ली और इस संकट का सामना किया। इस अनुभव ने उन्हें एक नई लड़ाकू शक्ति दी। उनके अंदर हिम्मत बढ़ती गई— अगले बरसों में वो एक बेहत हिम्मतवाली, मजबूत औरत बन गईं।

जैसे जैसे जग्गी बड़ी हुई, सारे अपनी मां से गुण सीखे। पेट पालने के लिए काम करना सीखा। मुश्किलात के बावजूद सबके साथ मिलकर रहना सीखा। प्रेम प्रीति बनाए रखना सीखा। वह घरेलू काम व खेती में छोटी सी उमर से ही मदद करने लगीं। गाय भैंस को चराने ले जातीं इस काम का शौक था उन्हें। बचपन में यह सब सीखती गईं, करती गईं। जग्गी को खुला मैदान खेत बगीचा बेहद पसंद थे। पलाश के सुंदर लाल फूल, चरागाह की कोमल हरी घास, निर्मल जल के तालाब व आसमान के नन्हें रुई से सफेद बादल इन सब से उसे बहुत लगाव था।

मां बेटी की जिंदगी आसान न थी। कठोर मुसीबतों का सामना तो हर पल करना पड़ता था। कठिन परिश्रम से कोई राहत न थी। ससुराल वाले उन्हें प्यार व इज्जत से रखते थे, तब भी दरारें तो थीं। कभी कोई ताना कस देता तो धिराजी का दुख उफान की तरह ऊपर आकर बहने लगता। यदि बेटी जग्गी को लेकर ताना कसा जाता, तो धिराजी का खून ही सूख जाता। परंतु कुल मिलाकर उन्होंने दुख सुख सब मंजूर किया। आखिर सर के ऊपर छत तो थी। वो जग्गी की अच्छी देखभाल करतीं, व अन्य जिम्मेदारियां पूरी करने में कोई कसर नहीं छोड़तीं। जो भी उनके पास था उसके लिए भगवान का शुक्रिया अदा करतीं। उन्होंने जग्गी को भी इसी समझदारी व हिम्मत के गुण सिखाये।

कभी धिराजी जग्गी को साथ लेकर अपने मायके चली जाती थीं। उनका मायका था जौनपुर के एक गांव में। नानी दादी व मां के साथ जग्गी ने कथा कहानियां भी सीखीं। भजन और गीत भी गाए। सोहर, फाग, कजरी, होरी इत्यादि गाने में उन्हें बहुत आनंद आता था।

अतः जग्गी का बचपन ठेठ पुरबिया ग्रामीण माहौल में गुजरा। सीधा सादा साधारण माहौल था; कड़ी मेहनत, सादा खाना पहनना, ताजा हवा व ममता और स्नेह की वर्षा से परिपूर्ण। परंतु इस बच्ची की जिंदगी में तो शुरू से एक और प्रभाव भी रहा था किसान आंदोलन का। किसान राजनीति की गतिविधियां तेजी पकड़ रही थीं और उधर जग्गी की जिंदगी में भी इनका प्रभाव खत्म नहीं हुआ था।

fejkjth %fdl ku vknksyu ea l fØ; Hkxhnhjh

धिराजी के अंतर में किसान आंदोलन के बीज पहले से पनप चुके थे। निजी संकट के बावजूद, वो इस बात पर डटी हुई थीं कि आंदोलन के साथ जुड़ाव कायम रखेंगी। अवध किसान सभा का उद्घाटन 1918 में हो गया था। अवध किसान सभा का केंद्र रूरे गांव में था। काशी के साथ धिराजी कई बार सलाह मशवरा या सभाओं के लिए रूरे जा चुकी थीं। रूरे में हर सप्ताह मीटिंग होती ही थी। धिराजी कोशिश करती थीं कि साप्ताहिक बैठक में जरूर हिस्सा लें।

जैसे जैसे किसान आंदोलन ने गर्मी पकड़ी, धिराजी का संकल्प भी गहरा होता गया। उनकी समझ भी बन गई थी। जहां संभव हो वो भाग लेने के लिए तैयार थीं। शुरू में परिवार वालों को यह पसंद नहीं था, मना भी करते थे। परंतु उनकी लगन देखकर धीरे धीरे घरवालों को बात समझ आने लगी। अन्य किसान नेता धिराजी की इज्जत करते थे। बुजुर्ग नेता भी कहते थे कि धिराजी किसान आंदोलन की अनमोल कार्यकर्ता हैं। उनके योगदान को मानते थे। जग्गी के घरवालों ने भी माना कि आखिर किसान आंदोलन तो उन सबकी मिलीजुली लड़ाई है।

कई बार जग्गी बैठक के बाद रूरे में रह जाती थीं। देर तक बैठक चलती, इसलिए रात के अंधेरे के बजाय सुबह के उजाले में वह अपने घर के लिए रवाना होतीं। रूरे में कई किसान आंदोलनकारियों के घर थे। इन घरों में धिराजी बहुत मान सम्मान के साथ कभी भी रह सकती थीं। अकेली महिला होने के बावजूद वो पूरी तरह से सुरक्षित थीं। सभी कार्यकर्ता काशी को भी अच्छी तरह से जानते थे। धिराजी के लिए उनके मन में सहानभूति थी, प्यार व सम्मान था। काशी की मौत का दुख भी था सबको। और जग्गी के लिए असीम ममता सागर।

अतः बच्ची जग्गी कई घरों में आराम से रह जाती। उसका परिवार खूब बड़ा हो चुका था। बहुत लोगों से प्यार मिला, और तरह तरह के माहौल में रहने की आदत हो गई। चारदीवारी के अंदर वो कभी सीमित नहीं रहीं। अन्य आंदोलनकारियों के घरों में बहुत सारे संगी साथी भी थे— हमउम्र, साथ खेलनेवाले।

रूरे में किसान सभा के एक वरिष्ठ नेता थे झिंगूरी सिंह। वहीं उनका घर भी था— बीवी बच्चे, माता पिता, भाई बहन इत्यादि भारी परिवार था। उनके घर में जग्गी व धिराजी बहुत सुकून से रह सकते थे। कोई बुरा भला कहनेवाला नहीं था, न ही किसी को कोई आपत्ति थी। औरतों का बोलबाला था, आंगन रसोई व गृहस्थी में। इस घर में रहकर धिराजी को लगता कि यह अपना ही घर है। बुरी नजर से कभी किसी ने न देखा। दिल खोलकर उन्हें वहां रहने खाने का स्थान मिलता। घर की बुजुर्ग महिलाएं कहतीं कि एक दो और लोगों से घर का खर्चा थोड़ी न बढ़ जाता है। वो धिराजी को अपनी बेटी की तरह प्यार करती थीं, और कहतीं कि जब चाहो यहां आकर रह जाओ। किसान आंदोलन में धिराजी ने खूब योगदान दिया। बैठकों में भाग लेतीं, सही सलाह देतीं, और अन्य महिलाओं को लामबंद करतीं। उनकी समझ बूझ, मेहनत व लगन देखकर घरवाले भी उनकी अधिक इज्जत करने लगे थे।

धिराजी को किसान आंदोलन द्वारा जीने का मकसद मिला। इसके बगैर वो रोजमर्रा की पीठतोड़ मेहनत में खटती रहतीं, उसके अलावा कोई दुनिया न होती। किसान आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर धिराजी ने अपने निजी दुख के घेरे को लांघकर एक विशाल दुनिया में कदम रखा। इस दुनिया में जीकर उन्हें संतोष मिला। दुख तो रहा पर दुनिया के भले के लिए सार्थक काम करने का अनंत सुख भी हासिल हुआ। और धिराजी की वजह से जग्गी सच में 'जग के लिए' जीने लायक बनती गई। सभी आवश्यक गुण उसमें पलते रहे।

वे; क; 2 % fdl ku vknsyu o ^fdl kfuu l Hkk*

‘ये पुलिस हमारी, पलटन हमारी, हुकूमत हमारी— हमारे बुजुर्गों ने, आजी आज्ञा ने, लड़कर आजादी हासिल की है।’

— जग्गी देवी

voek fdl ku l Hkk

सन् 1919 के आखिरी दौर में प्रतापगढ़ जिले में ‘नाई धोबी बंद’ फैला। नाई धोबी वगैरह दलित जातियों ने ग्रामीण जाति पंचायतों के आधार पर हड़ताल की। यह हड़ताल काफी सफल साबित हुई।

अवध किसान सभा 1918 में स्थापित हो चुकी थी। 1920 तक इसमें एक लाख से अधिक सदस्य थे। प्रतापगढ़ जिले में ही किसानों द्वारा रचित 585 पंचायतें कायम हो गई थीं, जो काफी सक्रिय थीं।

जून 1920 में नेहरू पहली बार प्रतापगढ़ गए, तब उन्होंने पाया— ‘गांव गांव में उत्साह और जोश की आग भभक रही थी।’ थोड़े से समय में ही लोगों का विशाल जमघट हो जाता। एक गांव दूसरे गांव को संदेश भेजता, दूसरा तीसरे को बताता, इस तरह पूरे गांव के गांव खाली हो जाते। खेतों मैदानों में आदमी, औरत और बच्चे भर जाते मीटिंग की ओर चलते हुए। इससे भी अधिक तेज था बुलंद आवाज में ‘सीताराम’ का फैलना— ‘सीताराम’। यह आवाज युद्ध बिगुल की तरह हवा में भर जाती, हर दिशा में फैलती, और सभी गांवों से वापस उसकी गूंज सुनाई देती। यह आवाज सुनते ही लोग अपने अपने गांव से निकल पड़ते— सभी जितना तेज दौड़ सकते थे उतना तेज दौड़ पड़ते।

vkjrkao cPpkadh Hkkxhkhjh

जग्गी चार पांच साल की होते होते इस जोश भरे माहौल में घुलमिल चुकी थीं। धिराजी उन विशाल समूहों, बैठकों व जलसों में जरूर शामिल होतीं और छोटी सी उमर में जग्गी ने जन आंदोलन में भाग लेना सीख लिया। उन्हें स्कूल जाने का मौका चाहे नहीं मिला, परंतु इस तरह की शिक्षा उन्होंने बालपन में ही हासिल कर ली। मां के उत्साह व जोश ने बच्ची पर भारी प्रभाव डाला। जग्गी के चारों तरफ हजारों लोग उपरोक्त संघर्ष में जुटे थे। अतः छोटी सी जग्गी के लिए यही माहौल अनुकूल बन गया। इसी माहौल में सांस ली, और जीने का यही तरीका उनके अंदर तक समा गया।

औरतें सक्रिय भागीदारी निभा रही थीं; छोटे छोटे बच्चों की माएं भी। ऐसी एक सक्रिय कार्यकर्ता थीं बुधनी देवी। बुधनी देवी उमर में धिराजी से थोड़ी बड़ी थीं। उनके पति का नाम था कासी। कई दशकों बाद, 1989 में, बुधनी की उम्र लगभग सौ बरस की होगी, पर पुरानी यादें ताजी थीं। वो बोलीं, ‘कासी के साथ मैं सभा मीटिंग में जाया करती थी। रूरे या सरजू किनारे या कानपुर तक। बच्चे भी साथ ले चलती थी। जहां हम जाते, वहां बच्चे भी हमारे साथ। तीन बेटे, दो बेटियां हुईं। अपना घर बार सब छोड़कर कितने दिन हम बाहर रहते थे। बच्चे हमारे साथ। धिराजी को हम जानते ही थे, जग्गी छोटी सी बच्ची थी। मेरी औलाद जग्गी से बड़ी थी। वो धिराजी के साथ आ जाती थी।’

वक्रस्य एमर्जि पत्रो

किसान सभा के नेतृत्व में आंदोलन में तेजी आई। सुल्तानपुर, सीतापुर और बाराबंकी जिलों में भी आंदोलन फैला। उसके खास नेता थे बाबा रामचंद्र, झिंगूरी सिंह, सहदेव, केदारनाथ, भगवानदीन, काशदीन और अयोध्या। सितंबर 1920 में बाबा रामचंद्र को गिरफ्तार कर लिया गया। चालीस पचास किसान उनकी रिहाई मांगने इकट्ठा हुए। उनका अभियान सफल हुआ— रामचंद्र को रिहा कर दिया गया।

नवंबर 1920 में फैजाबाद के जमींदारों ने किसानों की मुहिम को दबाने की क्रूर कार्यवाही अपनाई। घर लूटे गए, औरतों पर यौनिक हिंसा की गई, उनके कपड़े और गहने उतरवाकर छीने गए, और आदमियों को उठाकर ले गए। तीस घंटों तक लगातार लूट मची, जब जमींदारों के कारिंदों ने कार्यवाही बंद की, तब तक गांव तबाह हो चुके थे। स्थानीय प्रशासन ने मंजूर नहीं किया कि लूट मची थी, पर इतना जरूर माना कि संभव है कि कुछ कर्मचारियों ने महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार किया।

दिसंबर 1920 में अवध किसान सभा की पहली कांग्रेस (सम्मेलन) का आयोजन किया गया। अस्सी हजार से एक लाख किसानों के आने की रपट है। बाबा रामचंद्र से संबंधित दस्तावेजों के अनुसार, हजारों किसान समूह बना बनाकर सारे जिलों से आने लगे। अवध के किसान और किसानिन अपना संकल्प पूरा करना चाहते थे। रास्ते में ताल्लुकदारों के कारिंदों और सरकारी अफसरों ने उन्हें डराया धमकाया और तरह तरह का प्रलोभन दिया। पर एक बार भी वो सफल न हुए। रेलगाड़ी में और बैलगाड़ी में, लोग हजारों के जत्थों में पहले दिन से ही अयोध्या पहुंचने लगे। किसान किसानिन आखिरी दिन तक आते रहे। कुछ बूढ़ी किसानिन तो बिल्कुल थक गई थीं। लोगों ने हाथ में बैनर पकड़े थे ताल्लुकदारी प्रथा की जातियों के खिलाफ। पंडितों ने मंदिरों के द्वार खोल दिए, इनमें हिंदू मुसलमान सभी ठहर जाते। खाने पीने और सोने में धर्म का कोई भेदभाव नहीं था।

सम्मेलन के दौरान रामचंद्र ने जेल के कैदी की वेशभूषा धारण कर ली। उनके सर के ऊपर रोमांचक तरह से रस्सी लटका दी गई। जमघट को संबोधित करते हुए उन्होंने अपने भाषण में समझाया कि किसान इसी प्रकार रस्सियों से जकड़े हुए हैं। उन्हें रस्सी से जकड़ा है 'सरकार, ताल्लुकदार और महाजनों ने'। फिर सभी सम्मिलित किसानों ने प्रण लिया कि एकजुट होकर वे इन तीनों द्वारा बनाए गए बंधनों को बंद करवा देंगे। किसानों ने जब ये वादा किया तब रामचंद्र अपनी रस्सियां खुलवाने के लिए राजी हुए। सत्या देवी नामक एक किसानिन अन्य महिलाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए मंच पर आकर बोलीं। उन्होंने सभी किसानों को आश्वासन दिया कि महिलाएं आंदोलन में पूरी तरह से भाग लेंगी। सम्मेलन के बाद लोग अपने अपने गांव के लिए रवाना होने लगे। बिना टिकट सफर करने का सोचा था, पर उन्हें रोक लिया गया। इसलिए लगभग एक हजार किसान किसानिन वहीं रेल की पटरियों पर लेट गए। यह उनका सत्याग्रह था— किसान और किसानिन, बच्चे और जवान, औरत आदमी, बूढ़े और विधवा, छोटे छोटे बच्चों को धोती से दूध पिलाती औरतें सभी रेल की पटरियों पर लेट गए।

फैजाबाद जिले में जनवरी 1921 में आदमी, औरतों और बच्चों ने गुट बनाकर जमींदार, पटवारी, बनिया, सुनार और बड़े काश्तकारों के घर लूटे। हर गुट में पांच सौ से एक हजार तक लोग शामिल थे। गुटों में अधिकांश खेतिहर मजदूर और छोटे किसान थे। आदमी लूट मचाते, औरतें सामान उठाकर ले जाती थीं।

जनवरी 1921 में अवध के किसान राष्ट्र के मंच पर कूद पड़े। किसानों ने रायबरेली जिले

के फुर्सतगंज और मुंशीगंज बाजारों में प्रदर्शन किया। किसानों के काफी बड़े गुट— तीन से दस हजार सदस्यों तक हर एक में शामिल— बाजारों को लूट रहे थे और ताल्लुकदारों की जमीन जायदाद व फसल पर धावा बोल रहे थे। पुलिस ने उनपर गोली चला दी।

किसान सभा ने कई इलाकों में किसानों की ग्राम पंचायतें कायम करीं। किसान सभा की ग्राम पंचायतों ने अनौपचारिक तौर से प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। कई जगह कार्यकर्ताओं ने जेल में बंद नेताओं व अन्य कार्यकर्ताओं की रिहाई जबरदस्ती कराने की कोशिश की।

जनवरी 1921 में कई नेताओं को गिरफ्तार करके रायबरेली के जेल में रखा गया। नेताओं की गिरफ्तारी के खिलाफ जन प्रदर्शन करने हजारों किसान एकत्र हो गए। पर पुलिस और फौज ने किसानों पर गोलियां बरसानी शुरू कर दीं। किसानों के पास हथियार नहीं थे। कई किसान मौत के घाट उतर गए। इस घटना के बाद सरकार ने प्रत्येक कर्मठ किसान कार्यकर्ता व पंचायत सदस्य को बेरहमी से दबाना शुरू कर दिया। हिंसा व भय का पहाड़ किसानों पर टूट पड़ा।

असल में सरकार ने ठान लिया था कि चाहे कुछ हो जाए, इस आंदोलन को पूर्ण रूप से नष्ट करना ही होगा। दबाने के कई तरीके इस्तेमाल किए गए— गिरफ्तारी, लंबी जेल यात्राएं इत्यादि। नेहरू के अनुसार, किसानों पर रायबरेली जिले में दो बार गोलियां बरसाई गईं। और फिर उससे भी बदतर स्थिति प्रारंभ हुई— प्रत्येक खास किसान कार्यकर्ता व पंचायत सदस्य के खिलाफ लगातार हिंसा का भयंकर प्रकोप। इन कार्यवाहियों ने आखिर आंदोलन को तोड़ ही डाला। हालांकि आंदोलन मिटा नहीं, परंतु उसका उग्र रूप दब गया। मार्च 1921 में बटलर, यू.पी. के गवर्नर ने टिप्पणी की— ‘आपने दक्षिणी अवध के तीन जिलों में हाल में जो देखा वो क्रांति के आरंभ जैसा कुछ था।’ परंतु कांग्रेस के नेताओं ने भी अब इस आंदोलन की खूब निंदा की, क्योंकि किसानों के आंदोलन के कुछ तरीकों से उन्हें आपत्ति थी।

नेहरू तब भी किसानों के प्रति सम्मान प्रकट करते थे। वे किसानों के प्रशंसक व शुभचिंतक थे। प्रतापगढ़ जिले तक वे बीच बीच में खिंचे चले आते थे। उन्होंने किसानों के बारे में लिखा, “दबे कुचले किसानों के अंदर एक नया आत्मसम्मान जागा। वो अब सिर ऊंचा करके चलने लगे थे। ताल्लुकदार डरे हुए थे और किसी तरह अपनी सत्ता बनाए रखना चाहते थे। प्रांतीय सरकार ने ‘अवध टेनन्सी लॉ’ (जमीन पर गरीब टेनंट किसान के अधिकारों से संबंधित कानून) में संशोधन (अमेंडमेंट) लाने का वादा किया।”

आंदोलन का परिणाम रहा अवध के किसानों के अधिकारों में कानूनन सुधार। परंतु कानून में सुधार के बावजूद, उनका शोषण कतई समाप्त नहीं हुआ। 1920 दशक के दौरान किसान आंदोलन जारी रहा, परंतु उसकी गति धीमी पड़ गई।

fdl kfuu | Hkk

अवध किसान सभा में आरंभ से ही महिलाओं ने सक्रिय भाग लिया था। आंदोलन के उतार चढ़ाव में महिलाएं भी शामिल थीं। सम्मिलित संघर्ष के साथ, महिलाएं अपने स्व संगठन के लिए भी कुछ ठोस कदम उठा रही थीं। महिला किसान— यानी ‘किसानिन’ के कुछ अलग मुद्दे भी थे। अतः महिलाओं ने ‘किसानिन सभाएं’ भी आयोजित करीं।

1925 की एक किसानिन बैठक की रपट बाबा रामचंद्र दस्तावेजों में उपलब्ध है। यह बैठक जयकुमारी जी की अध्यक्षता में हुई थी और इसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुए। पति

के मरने के पश्चात स्त्री के विवाह का पूरा सबूत मिलने पर उसे उसका हक मिलना चाहिए। या उसकी स्त्री न होने पर उसके लड़के या लड़की को पूरा हक मिलना चाहिए। या इनके न होने पर पितृ कुल में जो जीवित हों उसे वह हक मिले व लड़के लड़की नाबालिग की हैसियत में उसके जिम्मेवारी पर वह जमीन दी जावे कि जब तक नाबालिग रहे उससे परवरिश करनी चाहिए। या पितृ कुल में कोई वारिस न हो तो मातृ कुल को हक मिलना चाहिए। या इन दोनों कुल में न हो तो गुरुकुल में वह हक लगना चाहिए। अगर इसमें भी कोई न हो तो देश के पंचों के हक में लगना चाहिए। जिससे देशवासियों की रक्षा हो।

बैठक में आगे जो कार्यवाही हुई वह रपट में लिखी हैं:

1. हम किसानिन की इन बातों की पूर्ति के लिए गांव गांव में सभा लगाएंगे।
2. हर स्त्री एक एक आना सालाना चंदा जमा करेगी।
3. गांव गांव में स्त्रियों की पंचायत बनाएंगी।
4. अपने अपने गांव में सभा लगा के अपने दुःख दूर करने के लिए सरकार से अपना कानून बनवाएंगी।

किसानिन सभाओं के बारे में ज्यादा लेखा जोखा उपलब्ध नहीं है। संभवतः इसकी कुछ एक इकाइयां ही बन पाई होंगी, जिन्होंने छुटपुट रूप से गतिविधियां चलाईं। इनकी जानकारी विस्तृत क्षेत्र में नहीं फैली। न इनमें स्थायित्व था। शायद समस्याओं से घिरी किसानिनें इन सभाओं को पूरी तरह से आगे नहीं ला पाईं। जो भी हो, पहल अनोखी थी। महिला किसानों के लिए अलग संस्था संगठन बनाने का विचार ही उस काल के लिए अद्भुत व चौंका देने वाला था।

पूरी संभावना है कि धिराजी इन प्रयासों में शामिल हुई होंगी। उनके साथ उनकी बिटिया, जग्गी भी भाग लेती होगी। इन सभा बैठकों के इर्दगिर्द अनेक गतिविधियां रही होंगी। कई मुद्दे व मांगें उभरकर सामने आई होंगी। ढेर सारी औरतें सक्रिय होकर, अपनी बातें सामने रख रही थीं, सलाह मशवरा करके फैसले ले रही थीं। इन सब घटनाओं का बच्ची पर असर हुआ होगा। उसके मस्तिष्क पर गहरी छाप पड़ी होगी।

तख्त चमक गस्यख

बचपन में जग्गी को आंदोलन की आदत सी पड़ गई। माहौल में किसान किसानिनों में उत्साह, साहस व जोश भरा हुआ था। जग्गी बैठक प्रदर्शनों में मां के साथ जाती रहीं, हर बात सुनतीं, और धीरे धीरे समझने भी लगीं। रोजाना अनेक साथी अलग अलग जानकारियां बांटते, और अनेक बातें सुनते हुए जग्गी में समझ पनपने लगी। उनके चेहरे पर तेज था, और आंखों में चमक। उसके दिल में दर्द की दरिया बहने लगी थी। लोगों की बातें सुनने से उनको मालूम हुआ कि अवध के अनेक इलाकों में क्या क्या स्थिति बनी हुई है। अमानवीय, क्रूर शोषण के किस्से सामने आते तो उनका दिल कांप उठता। मुर्दाफरोशी, बेदखली, बेगार, भारी लगान इत्यादि के मामले की जानकारी उन्हें हो गई थी और इन सबके प्रति मन में विद्रोह पैदा हो चुका था। मानव द्वारा शोषण एक असहनीय असलियत का रूप ले चुका था।

जैसे जैसे वो बड़ी होती गई, साहस व जुझारूपन भी विकसित होते गए। किसानों की दुर्दशा, अधीनता और शोषण और संघर्ष की आवश्यकता—ये उसके मानस में कुलबुलाते सवाल थे। परंतु इन सवालों का कोई समाधान तो था नहीं, न ही कोई जादू की छड़ी थी जिससे जनता की स्थिति सुधर जाए और देश हो जाए आजाद।

वे; क; 3 % 'कनह 0 नऱक ढक

“बारह बरस के रहे तब से देश संकल्प में रहे। नमक सत्याग्रह के साल से मैं महाराज के साथ हो गई।”

— जग्गी देवी

फेककथ दक वर }३

धिराजी सोचती थीं कि आगे जग्गी का क्या होगा? और सोचकर परेशान हो जाती थीं। समाज में प्रचलित प्रथा थी कि सयानी लड़कियों की शादी हो जानी चाहिए, और उन्हें अपने ससुराल में रहना चाहिए। परंतु जग्गी बड़ी होती गई तो अलग माहौल व विचित्र परवरिश के चलते वो एक फरक किस्म की लड़की थी। उसको जिस तरह ढालना चाहें वो उस तरह ढल जाएगी— यह सोचना असंभव था। धिराजी को अहसास था कि उनकी बेटी किसी साधारण गृहस्थी में खुश नहीं होगी। पति और सास ससुर का वर्चस्व उसे स्वीकार नहीं होगा। न ही दिन भर घर व खेती का काम करके वो संतुष्ट होगी। ऐसी जिंदगी में उसे घुटन महसूस होगी, सहना मुश्किल होगा। जग्गी का नाम उसके व्यक्तित्व के लिए उचित था— ‘जग के लिए’ जीने की लालसा बचपन से ही उसमें प्रबल थी।

धिराजी की न कोई जमीन जायदाद थी, न दहेज दे पाने की क्षमता। समस्या पर सोचते सोचते धिराजी को आभास हुआ कि शादी अगर किसी आंदोलनकारी के साथ होगी, तो शायद निभ पाएगी। उसके मन में यह विचार घूमने लगा।

ककक जकेपमऱ 0 तऱख

लगभग इसी समय, बाबा रामचंद्र ने जग्गी के बारे में सोचना शुरू किया। वे ब्राह्मण जाति के थे, और उमर जग्गी से बहुत अधिक थी। चेहरे पर तेज, लंबा तगड़ा तन। रामचंद्र की पैदाइश महाराष्ट्र में हुई थी। बंधुआ (इंडैजर्ड) मजदूर की हैसियत से वे फीजी जा चुके थे, पर किसी तरह भारत आ गए। भारत में अवध की ओर चले आए थे। अवध में वे किसानों को संगठन व संघर्ष के प्रति प्रेरित करने में जुट गए थे। बरसों से निरंतर इसी काम में डूबे हुए थे। हाल में, उन्हें थकान महसूस होने लगी थी। उनके दिल में अपने घर बार की इच्छा का बीज पनप रहा था। उन्हें एक ऐसे साथी की जरूरत महसूस होने लगी थी जो आंदोलन को समझे और आंदोलन में उनका निरंतर डूबे रहना भी मंजूर करे।

जग्गी और रामचंद्र की शादी की बात तय हो गई। उनके दुश्मनों ने इस शादी के बहाने बाबा रामचंद्र को जलील करना चाहा। शादी अंतर्जातीय थी, जिसके खिलाफ रूढ़िवादी समाज को भड़काना मुश्किल नहीं था। दुश्मनों ने कहा कि बाबा ने जग्गी को ‘घर बैठा लिया है’— यानी यह शादी मान्य नहीं है। इस सब बुरे भले प्रचार के बावजूद किसान सभा के सभी साथियों को यह शादी मंजूर थी। साधारण ग्रामवासियों ने भी इस शादी को शुरू से ही स्वीकार कर लिया और कभी कोई आपत्ति नहीं उठाई।

तऱख दकदऱ क यऱक

जग्गी और बाबा रामचंद्र की 1930 में शादी हो गई। उस समय डांडी में नमक सत्याग्रह हो रहा था। जग्गी व बाबा रामचंद्र ने प्रण लिया कि वे जीवन भर देश की सेवा में लगे रहेंगे। ये उनके विवाह समारोह का सबसे महत्वपूर्ण भाग था। अग्नि को साक्षी मानकर कुछ मंत्रोच्चारण हुआ,

वर वधू ने एक दूसरे को फूलों की जयमाला पहनाई, और दोनों ने जन सेवा का प्रण लिया। शादी में किसान सभा के साथी प्रस्तुत थे, जग्गी के रिश्तेदार व आस पड़ोस के गांवों के लोग।

बहुत बरसों बाद जब मैंने जग्गी से पूछा कि शादी के बारे में उस समय उन्हें कैसा लगा था, तो उन्होंने बिना पलक झपके तुरंत जवाब दिया— मैं गुरमुख हो गई। एकटक मुझे देखती रहीं, आगे कुछ न बोलीं। बाबा रामचंद्र वरिष्ठ, बुद्धिजीवी व नेता थे। जग्गी उन्हें पथ प्रदर्शक, यहां तक कि गुरु मानती आई थीं। उनके साथ शादी यानी पूरी तरह से उनकी ओर मुड़ जाना, उन पर अपना ध्यान केंद्रित कर देना।

जग्गी के लिए इस शादी का अर्थ देशसेवा तो था ही, साथ ही इस तेजस्वी, कर्मठ पति की सेवा करना भी जरूरी था। इन दोनों दिशाओं में जग्गी ने खुशी खुशी कदम रखा। शुरू में तो वो बच्ची ही थीं, और बाबा रामचंद्र ने उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया। अगले वर्षों में धीरे धीरे उनका रिश्ता पति पत्नी के रिश्ते में बदल गया।

देशसेवा की लगन दोनों में थी, और यह उनके बीच एक अटूट कड़ी रही। जग्गी के लिए निजी जिंदगी और सामाजिक राजनीतिक जिंदगी के धागे हमेशा एक दूसरे के साथ जुड़े रहे। बचपन में मां के साथ राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेने लगी थीं। यही संस्कार मिले थे। फिर बारह साल की उमर से जग्गी अपने पति के साथ सामाजिक राजनैतिक कार्यों में भाग लेती रहीं।

जग्गी की शादी कच्ची उम्र में हो गई थी। मन में डर शंका या संकोच की भावना रही भी होगी तो उन्होंने उसे व्यक्त न किया। जब से जग्गी ने होश संभाला तब से बाबा रामचंद्र उनकी जिंदगी में छाये हुए थे, वरिष्ठ प्रतिष्ठित नेता के रूप में। और लोगों ने उनसे कहा कि ऐसा पति मिलना बहुत किस्मत की बात है। कुछ हद तक जग्गी को यह बात सही भी लगी। मन में रामचंद्र के लिए इज्जत थी, साथ में आकर्षण भी था। इस शादी को लेकर कोई खास दुख या अफसोस उनके मन में कभी न हुआ।

बस, जिंदगी ने नया मोड़ लिया, और जग्गी अपने को खुशी खुशी नये जीवन में ढालती गई।

‘ifr dk uke ysk*

जग्गी को कुछ समय लगा— नई भूमिका व नई जिम्मेदारियों को पूर्ण रूप से अपनाने में। बाबा रामचंद्र में खूबियां थीं, तो साधारण आदमी की तरह कमियां भी थीं। संवेदनशील व समझदार थे, परंतु पितृसत्ता के चलते वे अपने को ‘आदमी’ व ‘परिवार का नेता’ मानते थे। उनकी बात का चलना जरूरी था। जग्गी पहले से उन्हें मानती थीं, उमर का फासला था ही। वो हमेशा उन्हें खुश रखने की कोशिश करतीं। रामचंद्र की सोच में नए, क्रांतिकारी पहलू भी थे। शादी के रिश्ते में ऊंच नीच को वो कम भी करना चाहते थे। अपनी तरह से कोशिश की। उन्होंने जग्गी से कहा कि पति पत्नी का नाम लेता है, तो पत्नी भी पति का नाम ले सकती है। उत्तर भारत के रूढ़िवादी समाज में पत्नी के लिए पति का नाम लेना वर्जित था। जग्गी को पहले संकोच हुआ, पर धीरे धीरे वो बिना हिचकिचाहट पति का नाम लेने लगीं। अन्य महिलाओं को भी हमेशा हिदायत देतीं कि वे अपने पति का नाम निःसंकोच बोलें। कुल मिलाकर यह शादी के रिश्ते में अधिक समानता लाने का प्रयास था। उस प्रक्रिया में एक कदम।

बाबा रामचंद्र लगातार आंदोलन के कार्यों में लगे रहते थे। उनकी जानकारी बहुत थी, और हमेशा लिखते रहते थे— पर्चे, याचिका, पुस्तिका, अनेक विचार। उन्होंने जग्गी को लिखना सिखाने की कोशिश की। जग्गी सीखना चाहती थीं। उन्हें अहसास था कि यह हुनर खूब काम आ सकता है। परंतु कई कार्यों में लगे रहने की वजह से यह सीखना सिखाना ध्यान से न हो

पाया। जग्गी ने अपना नाम लिखना सीख लिया। दस्तखत कर लेती थीं पर इससे ज्यादा लिखना पढ़ना नहीं सीख पाईं।

उनकी शादी में कई अंतर्विरोध और उलझनें थीं, जो धीरे धीरे सुलझती गईं। रामचंद्र शादी के रिश्ते में बराबरी चाहते थे, पर आदत व संस्कार उल्टी दिशा में खींचते थे। जग्गी कभी अपने को खुश व खुशहाल मानती थीं, तो कभी परेशान और बेचैन। कभी चुप रह जातीं, अपनी भावनाएं दबाकर पति का हुक्म बजातीं। रामचंद्र जग्गी की खूब इज्जत करते थे। परंतु कभी कभी एकदम उल्टा व्यवहार कर बैठते। जग्गी ने बताया, “बाबा सोचते थे मुझे नीची जात से ऊंची जात में ले आए हैं। मुझे बहुत ज्यादा नहीं पढ़ाना चाहते थे। मुझ पर उन्हें भरोसा नहीं था। सोचते थे कि जब वो बाहर गए हैं, तो शायद मैं भाग जाऊंगी।”

कई बार लोग ताना देते कि रामचंद्र ने जग्गी को घर बैठा लिया है। समाज में अंतर्जातीय विवाह के लिए मान्यता नहीं थी। बरसों बाद भी समाज जाति की जकड़नों में बंधा रहा। जग्गी ने सफाई दी, “आंदोलन के समय ऐसा हो गया था।” जग्गी ने लोगों की उल्टी सीधी बातों का साहसपूर्ण सामना कर लिया था, पर अपने अंदर भी जग्गी ने पूरी तरह से अंतर्जातीय विवाह को उचित नहीं माना। अमूमन शादियां अपनी ही जाति में होनी चाहिए ऐसा उनका मत था। सभी के लिए अंतर्जातीय विवाह अनुकूल नहीं है। बरसों बाद भी वो बोलीं, “हमने जो किया, आंदोलन के समय में किया। इसलिए ऐसा हो गया। पर ऐसा होना नहीं चाहिए।”

किसान आंदोलन और देशसेवा के संकल्प ने उनकी शादी की पृष्ठभूमि तैयार की, और आगे तक उनकी जिंदगी के कई आयाम तय करते रहे। बाबा रामचंद्र एक जगह से दूसरी जगह चलते रहते थे, उनका आंदोलन का प्रचार करने का अथक प्रयास था। जग्गी भी उनके साथ जाने लगीं। बहुत बरसों तक जग्गी व कुछ अन्य साथी बाबा के साथ निकल पड़ते। जग्गी भी सैकड़ों गांवों की यात्रा करना सीख गईं। शुरू में उनका ध्यान बाबा रामचंद्र की सेवा में लगा रहता— उनके खानपान व अन्य इंतजाम में। परंतु बैठक सभाओं में भी भाग लेती ही थीं। खासकर महिलाओं की सभा में जरूर भाग लेतीं। दूर दराज के गांवों की महिलाओं को भी प्रेरित करतीं कि वे ‘देशसेवा’ व किसान आंदोलन में जुट जाएं।

?kjckj o cPps

शादी के बाद जग्गी और बाबा रामचंद्र प्रतापगढ़ शहर में एक किराये के मकान में रहते थे। जग्गी को याद था कि दो ‘चांदी’ के सिक्के हर महीने किराये के तौर पर देने पड़ते थे। किसान सभा का दफ्तर बगल में ही था।

शादी के एक या दो साल बाद जग्गी ने एक बेटे को जन्म दिया। उसका नाम रखा गोविंद नारायण। जच्चे बच्चे की देखभाल करने धिराजी उनके पास रहने आईं। इस तरह समाज का एक और प्रतिबंध टूटा। उत्तर भारत में माता पिता के लिए शादीशुदा बेटी के घर रहना निषेध है। पानी भी नहीं पीना चाहिए। परंतु इस परिवार ने इस दकियानूसी मान्यता को नकार दिया।

धिराजी के साथ रहने में सभी की भलाई थी। जग्गी और रामचंद्र ने उनसे आग्रह किया कि वे उन्हीं के पास रह जाएं। धिराजी मान गईं। छोटे बच्चे गोविंद से उन्हें लगाव हो गया था। पारा गांव वापस लौटकर ससुराल में रहने की खास इच्छा नहीं थीं उन्हें। जग्गी को चाव से पाला था, और मां बेटी का आपसी प्रेम, समझ व लगाव अनूठे थे। धिराजी के साथ होने से जग्गी काफी हद तक घर गृहस्थी की जिम्मेदारी से मुक्त हो सकती थीं। आंदोलन में अपना समय दे सकती थीं। धिराजी ने घरेलू भूमिका निभाई, बेटी दामाद दौरे पर निकल जाते तो वो

घर भी संभालती थीं और छोटे बच्चे की भी पूरी देखभाल कर लेती थीं। उनकी जिंदगी की गति इस नई लय पर चलती रही।

जब गोविंद नारायण पांच साल के थे, पूरा परिवार देवसरा गांव आ गया।

शहरी जीवन उन्हें रास न आता था। यहां गांव की खुली हवा में सांस ले सकते थे। देवसरा में किसान आंदोलन के कई साथी रहते थे, उन्होंने ही आग्रह किया था कि हमारे गांव चलकर रहिए। गांव वालों से बहुत प्यार मिला। जिंदगी निर्धारित ढर्रे पर चलती गई। जग्गी व बाबा आंदोलन की सेवा में दूर दूर घूमते रहते और धिराजी घर व बच्चे को संभाले रखतीं। गोविंद नारायण तो उनका लाड़ला था। जग्गी और रामचंद्र भी अपने बेटे को खूब प्यार करते थे। परंतु देवसरा आने के एक दो साल बाद गोविंद नारायण बीमार होकर चौबीस घंटों में चल बसा। तेज बुखार हुआ, आंखें बंद कीं, हांफने लगा। बोला, “मां पानी पिला।” पानी पीकर आंखें मूंद लीं, और फिर कभी न खोलीं। सात साल की उमर थी। जग्गी, रामचंद्र व धिराजी शोकग्रस्त हो गए। गोविंद नारायण का चला जाना उन्हें मंजूर न हुआ, पर क्या करते? तड़पकर रह गए। उन्होंने कसईपुर गांव में गोविंद नारायण के लिए समाधि बनाई।

जग्गी व बाबा ने किसानों के बीच अपनी यात्राएं जारी रखीं। घूमते घूमते एक दिन दाउदपुर कुंडा गांव में से गुजरे। गांव के छोर पर बहुत ही सुंदर, शांत माहौल पाया। यहां तालाब में कमल के फूल खिले हुए, पलाश के पेड़ों पर लाल फूल चमक रहे थे। खुली जमीन व खेत क्षितिज तक फैले थे। तालाब व जमीन के पास छोटा सा मंदिर था। मंदिर में रहनेवाले एक साधु, बाबा गंगादास, ने बरसों पहले भविष्यवाणी की थी कि एक और बाबा आएंगे, यहीं रह जाएंगे और यहां रहते रहते दुनिया पलट देंगे। जमीन के मालिक बिसेसर बक्स को जब मालूम हुआ कि बाबा रामचंद्र व जग्गी देवी को यह जगह पसंद आई है, तब उन्होंने दो बीघा जमीन बाबा रामचंद्र को देने का प्रस्ताव रखा। बाबा मान गए। जमीन उन्होंने सास धिराजी के नाम लिखवा दी।

कुछ ही दिनों बाद तीनों जने दाउदपुर आकर रहने लगे। मिट्टी की झोपड़ी बना ली। जग्गी बरसों बाद याद करती थीं, “बेटा खतम हो चुका था, हम चल रहे थे। मेरे पेट में लल्ली थी, मेरी मां थी, बाबा थे। यहीं पे रहने लगे। यहीं पे लल्ली हुई।”

कुदरत की गोद में यह छोटा सा घर उन्हें बहुत अजीज हो गया। यहां उनका दिल लग गया। घुमक्कड़ जिंदगी को एक ठौर मिला। यहां आने के कुछ महीनों बाद, जग्गी ने एक बेटी को जन्म दिया। बेटी का नाम उन्होंने रखा ‘ललिता’। घर का नाम पड़ गया लल्ली।

vè; k; 4 % ^fdI kfuukã dh Hkxhkhkj

“जमींदार और ताल्लुकदारों का बहुत अत्याचार था। जल्लाद थे। वो जल्लाद बहू बेटियों को घर से उठाकर ले जाते थे। क्या बताऊं बेटी! चाहे कोनो जात की हो ब्राह्मणी, कुराइन, कुर्मी या हरिजन— कोई कुछ नहीं कह सकता था। सारी रियासत ताल्लुकदार की थी। सताइस हाथी थे उसके, उसका खाना पीना हम तुम चुकाते थे। यहां के ताल्लुकदार थे कसन पाल और बिसेसर पाल।”

— जग्गी देवी

pyuk fQjuk] efje NMuk

जग्गी याद करती थीं, कि बाबा के साथ कान्हापुर, लखनऊ, बरेली, उन्नाव और बहुत सी जगह गईं— बावन जिलों में हैं हम। इकट्ठा जाते थे, मीलों मील चलते ही जाते थे। एक दिन एक

गांव में रह गए, दूसरे दिन दूसरे गांव में पड़ाव। गांववालों को आजादी के बारे में बताते थे। वो हमारे लिए इंतजार करते, हजारों की भीड़ इकट्ठी हो जाती।

किसान कार्यकर्ता लोगों को प्रेरित करते कि शोषण खत्म करने के लिए लड़ाई जारी रखें। जमींदार, ताल्लुकदार व सरकार सभी का शोषण खत्म करने की जरूरत थी। कांग्रेस 'स्वराज' के लिए अग्रसर थी और स्वराज का संदेश भी किसान सभा ने गांव गांव तक फैलाया। साधारण किसानों के लिए 'स्वराज' का प्राथमिक अर्थ था जमीन पर अधिकार पाना। किसानों की स्थिति बिगड़ी हुई भी है। 1928 के 'डिप्रेशन' का प्रभाव और भी पड़ा। दबे कुचले गरीब किसानों ने 'सिविल डिस्ओबीडियंस' आंदोलन में भाग लिया। कांग्रेस की जड़ें यू.पी. में जम गईं, और अवध किसान सभा ने गैर कानूनी नजरानों, कर व लगान के खिलाफ एक बार फिर बिगुल बजा दिया।

जग्गी को याद आया, "जब जवाहरलाल की मां मरीं, तो हम बेटवा गोविंद नारायण को गोद में लेकर इलाहाबाद गए थे। और साथी भी गए। जवाहरलाल झिंगूरी सिंह से बोले, देवी जी चली गईं, पर देश का काम हम तुम को दे गईं।"

जग्गी की यादें

1930 के दशक में कुछ किसान महिलाएं अवध किसान सभा में सक्रिय थीं। जग्गी के अलावा इन किसानियों में शामिल थीं, संपाती, अभिलाखी, लाली, अन्नारी देवी और सुंदरा देवी। जग्गी इधर उधर आंदोलन के लिए घूमतीं। कभी अन्य पुरुष साथियों के साथ तो कभी महिला साथियों के साथ, और कई बार एकदम अकेले भी।

बरसों बाद अभिलाखी की पतोहू उतरा देवी ने पुरानी बातें बांटी, "मेरी सास कंधे पे थैला टांग लेती थीं, हाथ में कांग्रेस का झंडा और गांव गांव जाकर स्वराज के बारे में लोगों को बतातीं। अन्नारी गांव में रहते थे। वो घर से बाहर दिनभर घूमतीं। सब उनको जानते थे।" संपाती के पोते राम समुझ ने कहा, "मेरी नानी स्वतंत्रता सेनानी थीं। उनके रहते पेंशन मिलता था। उनके देहांत के बाद हमें सरकार से कुछ नहीं मिलता।"

सौ वर्षीय बुधनी देवी ने पुरानी यादें बांटीं— "अपने दिमाग से सोचती थी। बाबा रामचंद्र कहते थे कि सभी मुट्ठी में आ गए हैं। बस ये नहीं आई। जग्गी तो उनके अंदर हो गईं, पर जिसका अपना दिमाग है वो अपनी ही सोच से चलेगा।" बुधनी उम्र में जग्गी से काफी बड़ी थीं। आंदोलन के नेताओं से उनकी सोच कुछ अलग रही होगी परंतु किन मामलों में अलग रही, यह उन्होंने नहीं बताया।

जग्गी ने बिसार की अभगजी देवी के बारे में बताया, "ठकुराइन थीं वो। सभा बैठकों में जाती रहीं। हरीपुर में राय साहब के फाटक पर धरना करती थीं। हरीपुर दरबार में खत्म हो गईं। उनका बेटा बीमार हो गया, आगरा के पागलखाने भेजना पड़ा। वहीं मर गया। और उनकी बेटी की रीवा में शादी हुई। वो सधुआइन थीं, यहां वहां खा लेतीं और संगत में रहती थीं।"

बिसार गांव में धनराजी मिलीं, उनके पति गोपाल लाल व ससुर गयादीन आंदोलन में जुटे रहते थे। धनराजी ने बताया, "हमारे घर में बहुत सारी आंदोलन की मीटिंगें होती थीं। मेरी सास खाना पकाती और परोसती थीं। इस तरह उन्होंने आंदोलन की खूब सेवा करी थीं। मैं इस सारे काम में सास की मदद करती थी। वो मीटिंग सभा में खुद नहीं बैठती थीं। औरतों को शर्म आती थी सामने आकर बैठने में।"

औरतों की ओर से इस प्रकार की भागीदारी याद करते हुए जग्गी बोलीं, "बाबा सब के घर बैठते, खाना खाते, और घर की औरतें उन्हें और साथियों को खाना परोसती थीं। वो

चमार के घर बैठते, पासी और मुसलमान के घरों में भी बैठ जाते। खाना खाते, पानी पीते। एक दिन चल रहे थे, जाड़ा था। हम जहां पहुंचे वहीं बैठ गए हरिजन द्वारे। उन्होंने हमें बढ़िया रजाई दी, गरम खाना खिलाया। लोगों का भाव देखा जाता है, ये बात थी।”

बेहटा गांव के जगन्नाथ प्रधान ने याद किया, “हम मीटिंगों में जाते थे। मेरे पिताजी जाते थे। बहुत दूर दूर तक चलकर जाते थे। मेरी मां नहीं जाती थीं। वो घर में ही सेवा करतीं। अगर बाबा हमारे घर आते, मां उन्हें गरम दूध परोसती थीं।”

HKiegghu etnj efgyk/vka dk 'kksk.k

जुझारू महिलाओं ने कुछ खास महिला संबंधित मुद्दे उठाये। बाबा रामचंद्र के दस्तावेजों में एक पर्चा है, जो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में खेतिहर मजदूर महिलाओं की स्थिति उजागर करता है। इस पर्चा का शीर्षक है— ‘अनाथ अबलाओं की पुकार’। इसमें निम्नलिखित तथ्य मौजूद हैं।

1. हम लाठी डंडों से मारी जाती हैं।
2. हम कड़ी धूप में हंडियों पर खड़ी करके निहुराई जाती हैं।
3. बेगार में पिसना पिसवाते हैं। ना करने पर लाठियों से मारी जाती हैं। खोपड़ा फोड़ देते हैं।
4. हमारी जगह जमीन, बाग, कुएं, तालाब पति के मरने पर बेदखल हो जाते। कर्ज अदा नहीं होता। परिवारों की गुजर नहीं होती।’

क्या हम किसी की ब्याहता नहीं हैं। इस अपमान का दावा कहां करें? हम दुखी अबलाएं क्या करें? पर्चे पर छपा दस्तखत था ‘दुखित प्रजा की अबलाएं’। यह पर्चा अपने में एक मिसाल है। गरीब महिलाओं की दुर्दशा उन्होंने अपने आप दर्शाई है। शोषित हैं परंतु इस शोषण के खिलाफ उन्होंने आवाज भी उठाई है। बेइंसाफी के खिलाफ बिगुल बजा दिया। उन्होंने बातें सीधी स्पष्टता से रखीं, और इन बातों में चुनौतीपूर्ण आग्रह हैं।

इस पर्चे में यह नहीं लिखा कि वे आगे क्या कदम उठाएंगी। तब भी अपने दुख दर्द व शोषण को इतने स्पष्ट लेखन द्वारा व्यक्त करना अपने में महत्वपूर्ण कदम था।

जग्गी ऐसे मुद्दों के साथ जुड़ी रहती थीं। जगह जगह घूमकर उन्हें तरह तरह की जानकारियां मिल चुकी थीं। उनकी सोच पैनी हो गई, और हर नई स्थिति पर वो ध्यान देती थीं। लोग उनके पास समस्या व मुद्दे लेकर आने लगे, और जग्गी गौर करके सलाह देती थीं।

vkjrkadk ;ksud 'kksk.k

गरीब औरतों का एक और धिनौना आयाम था— यौनिक शोषण। गरीब खेतिहर मजदूर परिवारों की औरतों पर ‘पहली रात’ का हक कई जगह जमींदारों का माना जाता था। अगर जमींदार की नजर लड़की या औरत पर पड़ जाए तो उसके लिए बच निकलना बहुत मुश्किल था। कुछ जमींदार अपना हक जबरदस्ती लेकर ही रहते थे। सामंतवादी सोच व प्रथाओं ने दलित वर्ग को दबोचा हुआ था। औरतें इन बंधनों व क्रूर प्रथाओं की जकड़न में पिस जाती थीं।

जग्गी याद करती थीं कि जमींदार और ताल्लुकदार कसाई से कम नहीं थे। उनका व्यवहार उतना ही क्रूर था। घरों में से बेटी बहुओं को उठवा ले आते थे। किसी जाति की महिला बची नहीं थीं— ब्राहमण, ठकुराइन, कुर्मी या हरिजन। कोई कुछ नहीं कह सकता था, नहीं तो उसपर लाठियां बरसाई जातीं। इन सब बातों को बयान करते हुए जग्गी बोलीं, “तुम्हें कैसे बताऊं, बेटी? उस समय औरतों के साथ क्या क्या हो जाता था।”

हर औरत अपने को कहीं न कहीं बेबस महसूस करती थीं। जग्गी खुद को कहीं न कहीं बेबस मानती थीं, उन्हें भी डर था। बोलतीं, “हम दहशत में रहते थे। पर हमें कभी नहीं उठाना जमींदारों ने। हमें कोई कुछ न कर सका।” संभवतः आंदोलन होने का एक लाभ भी था। आंदोलन कवच की तरह जग्गी को कुछ हद तक बचाये रखता था। जो रक्षा साधारण परिवार नहीं कर पाते थे, वो रक्षा शायद आंदोलन ने की। परंतु पूरी तरह से नहीं। आंदोलनकारी होना अपने में नये खतरे भी पैदा कर सकता था। यौनिक शोषण आंदोलनकारी महिलाओं को दबाने का हथियार भी रहा है। जग्गी को यह बात अच्छे से मालूम थी। किसान आंदोलन के दौरान भी यह हथियार इस्तेमाल हुआ था। 1931 में कांग्रेस की एक जांच कमेटी ने पाया कि ताल्लुकदार के कारिदों और सशस्त्र पुलिसकर्मियों ने महिलाओं और बच्चों को भी बेरहमी से पीटा। जैसे, रायबरेली के खुरेटी गांव में जमींदार और उसके साथियों ने औरतों को घरों से घसीटकर बाहर निकाला, उनके गहने छीन लिए और उनपर अत्याचार किए। बहराइच के पिपरा गांव में एक हवलदार और दो अन्य आदमियों ने राममूलन लुहार की पत्नी का अपहरण व सामूहिक बलात्कार किया, और उसके सारे गहने, कपड़े और पैसे चोरी कर लिए। रायबरेली में एक गर्भवती महिला को पीट पीटकर घायल छोड़ दिया। सुल्तानपुर जिले में जो लोग बेगार काम करने से मना करते उन्हें पीटा जाता। उन्नाव के पिपरी गांव में जिलाधीश (डिस्ट्रिक्ट कलक्टर) और सशस्त्र गार्ड ने सभी घरों पर धावा बोला। आदमी, औरत व बच्चों की जमकर पिटाई हुई, एक महिला ने बाद में बताया कि पिटाई के साथ, उसके गुप्तांगों में मोटी लकड़ी घुसाने की कोशिश की गई। वही गुट पास के एक अन्य गांव सदासुखखेड़ा में गया। वहां जमींदार शिव सुंदर ने एक औरत को गाली देते हुए उसकी छाती पर लात मारी जिससे वो औरत अपने बच्चे समेत जमीन पर गिर गई। दनदापुर गांव में भयानक पिटाई और गंदी गाली गलौज का सिलसिला जारी रहा। एक सत्तर वर्षीय नेत्रहीन महिला को उसकी ही लाठी से पीटा गया, फिर शिव सुंदर ने उसे जमीन पर फेंककर और उसकी धोती खींचते हुए उसे नंगा कर दिया और अश्लील हरकत का इशारा किया। एक दूसरी औरत को जमीन पर घसीटा, नोचा खसोटा और बेरहमी से इतना पीटा कि वो बेहोश हो गई। शिव सुंदर के चार आदमियों ने अंगनू चमार की पत्नी सुखदिया के साथ बलात्कार किया।

आंदोलन की शरण में होने के बावजूद जग्गी जानती थी कि आंदोलनकारियों के खिलाफ इस प्रकार की क्रूर कार्यवाही भी अवध के इलाकों में हो रही थी। ऐसी घटनाओं के बारे में सुनकर उनका खून खौल उठता था। बेइंसाफी और दहशत के खिलाफ लड़ने का उनका संकल्प और भी पक्का हो जाता।

'kknh dh iEkk ij tXxh dk ipkz

जैसे जैसे जग्गी की सोच परिपक्व होती गई, उन्होंने सामाजिक मुद्दों पर भी प्रश्नचिह्न उठाना शुरू कर दिया। राजनैतिक व सामाजिक सभी प्रकार के मुद्दे आंदोलन द्वारा पर्दे के सामने आए। बाल विवाह जैसी कुरीतियों, प्रथाओं व मान्यताओं पर जग्गी देवी व अन्य साथियों ने मुहिम छेड़ी।

जग्गी देवी ने एक पर्चा तैयार किया, जिसका शीर्षक था ‘माता शत्रु पिता बैरी’। इस पर्चे में जग्गी ने सबके समक्ष यह रखा— किसानों की एक और बात मुझे याद आई। वह यह कि आपके यहां विवाह का रिवाज इतना उल्टा है कि आप पुत्रियों को एक या दो या तीन तीन जगह ब्याहते हो। आप ही बताइये कि यह रीति लोक रिवाज मानव धर्म से पवित्र है? ऐसा

न होना चाहिए। क्योंकि वह बाल कन्या जन्म से ही वेश्याओं जैसे व्यभिचारी कर्म करने में निपुण हो जाती है। अदालत या पंचों के यहां यह न्याय कराना और भी हानिकर है क्योंकि इस मामले को करने की उनमें कानूनी पावर नहीं है। क्योंकि जो कन्या एक स्थान से दूसरे स्थान जाने की आदत कर लेती है वह वेश्या स्थान पर पहुंच जाती है।

आप दूरदृष्टि से देखिये। मानव चक्षुओं से काम लीजिए कि आप घरों में जो जानवर मोल लेते हैं उन पर नजर डालिए कि वह बालपन में विवाह नहीं करते। यौवन अवस्था बलवान सांड भैंसों जैसी। उनको आप खुद ले जाते हो। जितना ज्ञान पशुओं के वास्ते रखते हो उतना ज्ञान यदि आप बाल कन्याओं के लिए प्राप्त कर सको तो बाल विवाह की प्रथा आपसे आप आपके घरों से भाग जावे।

जग्गी द्वारा रचित यह पर्चा उसकी व्यक्तिगत बात भी बताता है— जग्गी का पक्ष— मैंने यह रिवाज जानकर अपने जात परिवार को छोड़कर बाबा रामचंद्र की शरण हुई हूं। और अंत में, एक चेतावनी— ‘बहनो, सावधान !’

यह पर्चा अपने में विरल है। तर्कों में ताजगी और प्रगतिशीलता है। ठीक इसी समय ‘भारतीय महिला अधिवेशन’ (ऑल इंडिया विमिंस कांफ्रेंस) व अन्य मध्यमवर्गीय महिला संस्थाएं बाल विवाह के विरुद्ध आवाज उठा रही थीं। इस तरह के आधुनिक विचार फैल रहे थे— जग्गी और उनके साथियों ने लोगों के बीच ऐसी सोच फैलाने में सहायता दी। जग्गी ने स्थानीय बोलचाल की भाषा में तर्क रखे। इन तर्कों में दम था।

पर्चे के अंतिम वाक्यों में जग्गी अपने विवाह के बारे में जो लिखती हैं उससे लगता है कि यह विवाह करने में उनकी सहमति थी। फैसले लेने में उनका भी हाथ था। उस समय के लिए यह बहुत बड़ी बात थी। क्या मालूम कि भावना और इच्छा और आकर्षण के नाजुक खेल में जग्गी ने स्वयं अपनी शादी का फैसला लिया था— बाबा रामचंद्र के दस्तावेजों में कई कागजात शादी से संबंधित मुद्दों पर हैं। शादी समारोह इत्यादि में खर्चा कम होना चाहिए यह मत व्यक्त किया गया है। बहु विवाह प्रथा की निंदा की गई है— मत रखा है कि जो आदमी एक से अधिक पत्नी रखता है उसको सजा मिलनी चाहिए। अगर कोई औरत एक से अधिक आदमी के साथ रहती है तो उसे भी दंड मिलना चाहिए।

बाबा रामचंद्र उनके जीवनसाथी थे, इसलिए जग्गी अपने विचारों और व्यक्तित्व को कुछ अलग ही तरीके से विकसित कर पाईं। अधिसंख्य औरतों के पास अपने विकास के लिए इतने रास्ते खुले नहीं थे। उन्होंने आजादी के मौके जीते और उन मौकों का उचित उपयोग भी किया। उसे व्यक्तिगत लाभ तो हुआ ही, साथ में औरों तक भी लाभ पहुंचा।

efgyk f'k{k

कलम की शक्ति का अहसास हो गया था। बाबा रामचंद्र खूब लिखते थे— पर्चे, पुस्तिका इत्यादि। उनके द्वारा रचित पर्चे दूर दूर तक बांटे जाते थे। जग्गी कहती थीं— “बाबा ने कलम से लड़ाई लड़ी।”

जनवरी 1934 में जग्गी ने प्रतापगढ़ के स्कूलों के डिस्ट्रिक्ट इंस्पेक्टर को पत्र भेजा। उसका ध्येय था कि ‘देहात के किसानियों को उत्तम शिक्षा मिलने से उनके जीवन का सुधार हो।’

जग्गी को इंस्पेक्टर साहब या कि किसी अन्य अफसर ने संदेशा भेजा कि वे ग्यारह बजे आ जाएं। जग्गी करीब दो ढाई सौ किसानियों के साथ पहुंच गईं, पर उनकी कोई सुनवाई न

हुई। इस दुर्व्यवहार से क्षुब्ध जग्गी ने फरवरी 1934 में इंस्पेक्टर के नाम एक और पत्र लिखा। जिसमें कहा, “ग्यारह बजे आ जावे ऐसी आज्ञा के हस्ताक्षर करके मुझे संदेशा मिला। उसी आज्ञानुसार मैं करीब ग्यारह बजे से उत्तम शिक्षा मिलने की अभिलाषा से घेरे के अंदर देहाती किसानिन दूर दूर से करीब दो ढाई सौ के साथ बैठी थी। कुछ शिक्षित स्त्रियों से पूछताछ करने लगी— उन लोगों ने करीब चार बजे उत्तर दिया कि यहां कोई सभा, कुछ नहीं होगा। मैंने अपने पत्र उनसे वापस ले लिए और अपनी बहिनों को साथ लेकर अपने आश्रम पर लौट आई।

मेरी बहिनों ने मेरी निंदा की व शोक जाहिर किया। इसकी मुझे लज्जा हुई कि किसानिनों की मानहानि हुई। आईदा इस मानहानि का अपनी बहनों को क्या उत्तर दूं— यह जानने के लिए यह पत्र पेश कर रही हूं। उचित उत्तर मिले जिससे अपनी बहिनों को सांत्वना दूं।”

महिला शिक्षा के लिए जग्गी ने जमकर कुछ कदम उठाने चाहे थे। अन्य किसानिनों ने भी इस मुद्दे पर उनका साथ दिया। परंतु सरकार की उदासीनता इतनी भयंकर थी कि इन साधारण महिलाओं की असाधारण पहल को अनसुना कर दिया गया। सम्मान देने के बजाय इन्हें दफ्तर बुलाकर भी इनसे कोई मीटिंग न की। इस प्रकार का बेरहम या उपेक्षापूर्ण बर्ताव जग्गी व उनके साथियों को झेलना पड़ता था। परंतु इस तरह के बर्ताव को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। हमेशा गलत व्यवहार पर आपत्ति उठाना व सवाल खड़े कर देना, ये जग्गी की नियति थी।

fdl ku fdl kfuukadks tkkus ds jpkred rjhds

धार्मिक चौपाइयों और किस्से कहानियों द्वारा बाबा रामचंद्र लोगों तक आंदोलन के संदेश पहुंचाने में माहिर थे। उदाहरणतः उन्होंने कैकेई की प्रशंसा करते हुए बताया कि कैकेई ने अपने भरत को राजा बनाने के लिए प्रोत्साहित किया, और इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए रणनीति भी बनाई। आज की महिलाओं को भी कैकेई की तरह अपने आदमियों को देशसेवा के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। जग्गी ने भी इस तरह के प्रचार के तरीके अपनाये। वे गीत भजनों में राजनीति से संबंधित संदेश डालने लगीं। जहां भी मीटिंग के लिए जातीं, रात के समय भजन व गाने जमते थे। जग्गी भजन गाती थीं— कभी सीता की तपस्या व दुखों के बारे में, कभी अन्य कोई लोकप्रिय पात्र को लेकर। जग्गी स्वयं को सीता जी के करीब महसूस करती थीं। क्षेत्र की अन्य महिलाएं भी सीता के साथ घनिष्ठ संबंध में बंधी थीं। अतः इस पात्र द्वारा जग्गी साधारण जन को संघर्ष में शामिल होने हेतु प्रोत्साहित करती रहीं। सीता की तरह, देश व सबकी भलाई के लिए लोग बलिदान दें— यह उनका आग्रह था।

vè;k; 5 % tsy e᳚ v᳚ tsy dsckj

“जो जेल गए वो हमसे अच्छे से रहे। हम एक जगह से दूसरी जगह जाते, पुलिस से छिपते रहे। बहुत दुख देखे हमने।”

— जग्गी देवी

tXxh us ;kn fd ;k

आजादी प्राप्त होने से पहले के कुछ वर्षों की यादें जग्गी ने खूब बांटीं। 1940-1947 की बातें उनके मन में ताजा थीं। अवध के किसानों ने युद्ध के खिलाफ सत्याग्रह व ‘भारत छोड़ो’ आंदोलन

में सक्रिय योगदान दिया। ग्रामीण इलाकों में क्रांति की लहर छाई हुई थी। साधारण दलित जनता आंदोलन की नींव थी। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने जब ललकारा तो ये साधारण लोग देशसेवा के लिए इन राष्ट्रव्यापी आंदोलनों में भी जुट गए। गांधीवादी अभियानों को अपने तरीके से समझते थे। कई बार किसानों का जुझारूपन कांग्रेसी नेतृत्व के काबू के बाहर हो जाता था।

स्थानीय नेताओं ने 'स्वराज' व 'सत्याग्रह' को अपनी तरह से जन जन में फैलाया। अतः हजारों किसान किसानियों ने सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय कर लिया। अप्रैल 1914 तक बहुतों की गिरफ्तारी हो चुकी थी। जेल में रखे गए। बाबा रामचंद्र भी गिरफ्तार सत्याग्रहियों में शामिल थे। सीताराम, कासी, अछैबर सिंह, प्रह्लादी इत्यादि किसान नेता भी जेल में बंदकर दिए गए थे।

जग्गी देवी, सुंदरा देवी व कई सारी किसानिनें सत्याग्रह में सक्रिय थीं। यू.पी. के लगभग प्रत्येक जिले से किसानिनों को गिरफ्तार किया गया, और कुछ महीनों या एक वर्ष से अधिक की कड़े कारावास की सजा मिली। परंतु जग्गी व सुंदरा जेल के बाहर रहीं। ऐसा क्यों? जग्गी ने बताया— “गांधी बाबा का संदेशा आया कि जो छोटे बच्चेवाली हैं या पेट में बच्चा है वो सत्याग्रह न करें, जेल न जाएं। इसलिए प्रतापगढ़ से हम लौट आईं। बाहर रहकर हमने लड़ाई जारी रखी।”

जग्गी के मन में 'गांधी बाबा' के प्रति सम्मान की भावना थी, पर उन्हें आपत्ति भी थी कि साधारण किसानिनें उनकी बातों पर क्यों चलें। गांधी, नेहरू व अन्य कांग्रेसी नेताओं ने किसान आंदोलन को समय समय पर अपने बस में करने की कोशिश तो जरूर की। किसानों की शक्ति को राष्ट्रवाद की मुख्यधारा में जोड़ने का प्रयास किया। परंतु जग्गी जैसे आंदोलनकारियों को यह दबाव सही नहीं लगता था।

1940-1941 में जग्गी व सुंदरा दोनों गर्भवती थीं। परंतु अपने बूते पर वो सत्याग्रह में शामिल होतीं, और खुशी खुशी जेल चली जातीं। संभवतः गांधीजी का मकसद था कि महिलाएं और बच्चे घर की शरण में रहें, सुरक्षित रहें। परंतु जग्गी व सुंदरा ने इससे बिल्कुल उल्टा ही किया। चारों तरफ लड़ाई का माहौल था। ऐसे में जग्गी चुपचाप घर में थोड़े न रहनेवाली थीं। वो इधर उधर घूमती रहीं, एक गांव से दूसरे गांव भागती रहीं; संघर्ष की आग को बुझने न दिया।

efgykvkdk ;ksnku thr dsfy, fu.kkz d

बाबा रामचंद्र के दस्तावेजों के एक पर्चे में महिलाओं की भरपूर भागीदारी पर जोर दिया गया है। इस पर्चे पर किसी का दस्तखत नहीं है, परंतु संभवतः इसके लेखन में जग्गी का हाथ रहा होगा। पर्चे पर स्थान देवसरा आसपुर और तिथि 11 अप्रैल 1941 अंकित है। किसी मीटिंग में चर्चा करने लायक मजमून है।

पर्चा शुरू होता है : “सब लोग एक पहिये वाली गाड़ी में सवार हो रहे हैं। ऐसी गाड़ी कितनी दूर जा सकती है? जब जब समय आया भारत की नारी ने आदमी के साथ काम किया। इस युग में भी ऐसा है। हर बार जीत हासिल हुई, और आज भी होगी।”

लेखिका आगे बताती है कि महिलाएं पूरी भागीदारी नहीं निभा रहीं क्योंकि आधुनिक काल में गांव की महिलाओं का जीवन गहने, कपड़े व अच्छा भोजन एकत्रित करने तक सीमित हो गया है। युद्ध के मामलों में वे कोई रुचि या प्रक्रिया नहीं दिखा रहीं। अच्छे अच्छे घरों में हजारों महिलाएं विधवा हैं, दुखी हैं। जो युद्ध में जाते हैं उनकी क्या दशा होती है। आग्रह है

कि सभा में इस मुद्दे पर सोच बनाना आवश्यक है।

सभी जाति धर्म की महिलाओं की मीटिंग हो, यह सुझाव रखा गया है। इस मीटिंग में क्षत्राणि, ब्राह्मणि, किसानिन और वैश्य सबकी भागीदारी होनी चाहिए। महिलाओं को अपने पुरुषों का समर्थन करना चाहिए जब वे युद्ध में जाते हैं। जब लोग दो पहिये की गाड़ी पर सवार होकर युद्धक्षेत्र जाएंगे, तब दुनिया में उन्हीं की जीत होगी। कुछ लोग इन विचारों की हंसी उड़ाएंगे पर इससे डरकर पीछे हटने की जरूरत नहीं। सच तो यह है कि अगर युद्ध के समय उसका परिवार रो बिलख रहा होगा तो संकट के समय वो कमजोर पड़ जाएगा। देश के लिए लड़ने में कमी रह जाएगी।

अंत में पर्चा निजी अनुभव बखानता है— ‘मैं अपनी बहनों के साथ प्रतापगढ़ की लड़ाई में गई। पर फिर छोटे बच्चों वाली महिलाओं को लौटना पड़ा, महात्मा के कहने पर। इसलिए मैं पहले से अपनी बहनों को सावधान कर रही हूँ।’

गांधी बाबा ने छोटे बच्चों वाली मांओं पर जो प्रतिबंध लगाया, उससे जग्गी खास सहमत नहीं थीं। जग्गी को गर्भवती व छोटे बच्चे वाली औरतों के सत्याग्रह चढ़ने से रोके जाने पर आपत्ति थी। कितने बरसों में जग्गी व उनकी सहयोगियों ने अथक प्रयास करके घर घर से महिलाओं को लामबंद किया था। आंदोलनों में सक्रिय होने के रास्ते तैयार किए थे। काफी हद तक सफल भी हुई थीं। गांधी के इस तरह के प्रतिबंध तो उल्टी गंगा बहा रहे थे। जग्गी हैरान व परेशान थीं। परेशानी का एक और कारण था कि महिलाओं के पीछे हटने से आंदोलन भी कमजोर पड़ जाएंगे।

बचपन से जग्गी ने आंदोलनों में भाग लिया था। पत्नी और मां बनने के बाद भी उनकी सक्रियता में कोई कमी नहीं आई थी। जाहिर है कि मां होने के नाते वे अपने बच्चों का भला चाहती थीं, परंतु इसका यह मतलब न था कि आंदोलन से पीछे हट जाएं। सत्याग्रह गिरफ्तारी व जेल, इस सबके लिए जग्गी तैयार थीं। परंतु गांधी ने तो महिलाओं को आदेश दे दिया, जिसके तहत वे अपने लिए निर्णय लेने से वंचित हो गईं। जग्गी समझती थीं कि इस तरह के आदेश असल में महिलाओं को वापस अपने घर की चारदिवारी में धकेल देंगे— उनकी राजनीतिक भागीदारी में अड़चन डालेंगे।

बाबा रामचंद्र, 28 अप्रैल 1941 को गिरफ्तार हो गए। उन्हें नौ महीने कड़े कारावास की सजा मिली। हालांकि छः महीने बाद उन्हें रिहा कर दिया था। सुंदरा देवी के पति सीताराम के साथ भी बिल्कुल यही हुआ। रामचंद्र व सीताराम दोनों अप्रैल 1941 में गिरफ्तार हुए, अक्टूबर 1941 में रिहा हुए, पर 1942 की गर्मियों में फिर गिरफ्तार हो गए।

जब बाबा रामचंद्र सीताराम व अन्य आंदोलनकारियों को अगस्त 1942 में गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया, जग्गी देवी व सुंदरा फिर जेल के बाहर रहीं। 1941 की गिरफ्तारियों के समय वे गर्भवती थीं, और 1942 की गिरफ्तारियों के समय दूध पीते शिशुओं की मां।

जग्गी व सुंदरा को गांधी के आदेश से आपत्ति थी, फिर भी उन्होंने आदेश का उल्लंघन नहीं किया। इसका एक कारण था कि जेल से बाहर रहकर वे गांव गांव घूमकर जन आंदोलन जिंदा रखने का काम कर सकती थीं।

1941 % | njk nsh ; kn djrh gš

सुंदरा देवी जग्गी से कुछ वर्ष छोटी थीं। वे 1940 के दशक की कुछ रोमांचक घटनाओं का

विवरण प्रस्तुत करती हैं : “1940 में शादी होकर देवसरी आई। मेरी सास, पति सीताराम जी, नंद रमणा देवी सब आंदोलन में थे, तो हम भी उसी रंग में आ गए। यहां आकर मुझे देशसेवा देखकर बहुत प्रिय लगा। भक्ति भाव देखकर के मुझे बहुत खुशी हुई। कभी दुल्हन बनकर न रही। पर्दा जरूरी नहीं रहा। मेरे नैहर से बहन जीजा को कुछ दुल्हन बनने का शौक था, कुछ पर्दे का। पर मैंने कहा, ‘मैं गुलामी के खिलाफ खड़ी हूं। आप ‘पर्दानशीं’ हो, तो रहिये अपने पर्दे में! सन् 1941 में सुभाष चंद्र बोस प्रतापगढ़ आए तो मैं गई थी, वहां संगी साथी मिले। सीतारामजी कहते थे, ‘किस बात का पर्दा? मेरे दाहिने अंग हो तुम।’ जब मैं जेल उनसे मिलने जाती थी तो रोते थे—तुम मेरे भाई बनके मेरे साथ रहती हो।”

सुंदरा देवी अपने अनोखे अनुभव आज बांटती हैं, “मेरी सास पढ़ी लिखी नहीं थीं, पर पढ़े लिखों से ज्यादा दिमाग था। वो कांग्रेस कमेटी की सदस्य थीं। बहुत बढ़िया थीं। राय देती थीं। हमारी उस समय चार आना सालाना की सदस्यता थी। मेरी सास मीटिंग सभाओं के लिए निकल जाती थीं। मेरे ससुर सन् 1908 में गुजर चुके थे। सीतारामजी अकेले बेटे थे। तीन बहनें थीं। पूरा नाम था सीताराम चौधरी। जमीन मेरी सास के नाम थी। 1930 के समय मेरे सास ससुर ने 170 बीघा जमीन कांग्रेस के नाम लिखवा दी थी।

“मेरी सास ने मेरा पूरा साथ दिया। जग्गी व धिराजी हमारी बारात में थीं। 1941 में हम जेल भरो आंदोलन के लिए गए। पर मेरे पेट में बच्चा था। जग्गी के पेट में भी बच्चा! गांधी बाबा के मना करने पर हम लौट आए। हमारी जेलयात्रा बंद हो गई। पुलिस वारंट लाई सीताराम, कासी, बाबा रामचंद्र के नाम। उन दिनों में अगर कोई कहता, भारत की जनता लगान नहीं देगी तो हथकड़ी लगा दी जाती। 1942 में बहुतों को जेल में भर दिया गया। बिसार वाली बुधनी देवी भी जेल गई थीं। वो सत्याग्रही थीं और उमर में हमसे काफी बड़ी थीं। उनके आदमी घर पर रहे पर वो जेल में रहीं। धरौली की महारानी देवी जेल गईं। धरौली से गंगादीन की पत्नी भी जेल गई थीं। और भी औरतें थीं जिनके नाम मुझे याद नहीं आ रहे।

“अप्रैल 1941 में बाबा रामचंद्र और सीताराम जी दोनों पकड़े गए और छः महीने बाद रिहा हुए। मेरी बेटे बिट्टी अन्नपूर्णा यहां देवसरा में पैदा हुई थी। 1941 जुलाई या अगस्त में। मेरी सास जेल नहीं गईं, जमीन और खेती जो देखनी थी। जग्गी दाउदपुर कुंडा में ही रहीं। जग्गी की बेटे विजयी विजयलक्ष्मी दाउदपुर में पैदा हुई थी। लल्ली तीन साल की थीं जब विजयी का जनम हुआ। 1941 सत्याग्रह के समय हम अपने अपने घरों में रहे। पर हम लोगों से लगातार मिलते रहे, आंदोलन को बाहर रहकर बनाये रखा क्योंकि सभी बड़े नेता तो जेल में थे।”

1942 % t\Xh v\j ešQjkj jgha

सुंदरा देवी ने 1942 के अनुभव बताये। सीतारामजी व बाबा रामचंद्र 1941 में छः महीने तक जेल में बंद रहे थे। अगस्त 1942 में वे फिर गिरफ्तार हुए। सुंदरा देवी ने बताया, “1942 आंदोलन के समय जग्गी और मैं ‘अंडरग्राउंड’ हो गए थे। भूमिगत होकर, पुलिस से छिपते छुपाते, हम एक गांव से दूसरे गांव घूमते रहे थे। पुलिस हमें नहीं पकड़ पाई।

“हम दोनों जनी फरार रहीं। दोनों जनी जंगल घूमती रहीं। दोनों छोटी छोटी बच्चियों को गोदी में लेके। बच्चियां कुलबुलाई तो उन्हें घर छोड़ना पड़ा। विजयी और लल्ली धिराजी के पास रहीं। और बिट्टी मेरी सास के पास देवसरा रहीं। जग्गी और मैं तो पेड़ तले जाकर बैठ जाती थीं। घर जाएं तो पुलिस गिरफ्तारी कर लेती।

“जब हमारे पति को पकड़ा गया तब पुलिस मेरे घर तलाशी लेने आई। सास थीं, मैं

थी, ननद थी। मैं नौजवान रही। पुलिस ने मुझे बहुत फटकारा कि आप इनका क्यों साथ दे रही हैं। तो मैंने कहा, 'किसका साथ दिया जाये? अपने पति का साथ देना अपना कर्तव्य है। और महात्मा गांधी जी के आदेश पर चलना अपना कर्तव्य है।' थानेदार ने मुझे डांटा, कि पति और महात्मा कह दें तो कुंए में गिर जाओगी? मैंने कहा, 'मुझे आपकी तरह, गुलाम नहीं बनना है। देश की गुलामी तोड़नी है।' इसपर नाखुश होकर बोला क्षत्रिय हूं, इस बात का जवाब दूंगा। बहुत बिगड़ गया— हमारे सामने की लौंडी होकर बोल रही हो। गाली गलौज किया। सास हमारे साथ थीं। कांग्रेस का कागज बांस पर लदा था, सब गिरवा दिया, फुंकवा दिया। बदला लेने के चक्कर में डिप्टी साहब से शिकायत किया और मेरे नाम वारंट जारी कर दिया।

“रात रात घोड़े पर दौड़कर छः छः थानेदार पुलिस हमारे घर आ जाते थे। आधी रात आ जाते थे। मैं घर से निकलकर कहीं मक्के के खेत में निकल जाती थी। कौन जाने बेइज्जत कर दें? पुलिस बहुत अत्याचार करने लगी तब मैं फरार हुई। सास ने कहा, 'जाओ बेटी, घर बार मैं देख लूंगी।' छोटी बच्ची लेकर मैं निकल पड़ी। टूंडिया में एक बुढ़िया थीं, विधवा रहीं। एक लड़का था, उनके बुधई। मैं वहां रही, गोद में अन्नपूर्णा। फिर बिलवारे चमरिया एके। मेरी बड़ी बहन वहां थीं बासंती देवी। अलग एक दालान में छिपाकर रखा। खिलाया पिलाया, पर डरती थीं। जीजाजी भी आदर करते थे। छः भाई बहन, सबमें छोटे हम थे। एक महीना वहां रहे। पंद्रह सोलह मील पैदल आए थे। कहीं कहीं रास्ते में कंधे तक पानी था। मेरी बहिनी ने हमें प्यार से रखा। पर बिटिया रोती थी। घाम था। रतिया भर बहन के कमरे में, दिनभर खेत नाले में। गांव में किसी से मिलती नहीं थी। बहन हमें वापस देवसरा छोड़ आई, बिटिया की तकलीफ देखते हुए। कुछ दिन ताला लगाकर घर में रही। अन्नपूर्णा परेशान होतीं इसलिए सास के पास छोड़ दिया। मैं दाउदपुर गई।”

जग्गी बोलीं, “जेल में लोग भले रहे। हम बाहर रहकर कितना मुसीबत सहे! ये लोग इलाहाबाद जेल में रहे। नजरबंद— दफा 26, इसलिए हम मिलने भी नहीं जा सके। महीने में एक पोस्टकार्ड जेल से आता था घर, और महीने में एक चिट्ठी यहां से जाती थी उनके पास। पुलिस हमारे पीछे थी। तो हम इधर से उधर घूमती रहीं।”

सुंदरा ने फिर आगे की यात्रा का विवरण किया— “मैं दाउदपुर कुंडा गई। जग्गी ने लल्ली और विजया को धिराजी के पास छोड़ा, पैदल हम घूइसरनाथ गए। दोनों जनी, साथ हो लिए सुटहल और बुधई। चारों जने फरार। पहले मघई सराय रहे, बलदेव सिंह के यहां। फिर वहां से भागकर मेंहदिया गए। पट्टी के दक्षिण में गांव है। सुटहल का घर था वहां। दो चार दिन वहां रहे। फिर चारों जने वहां से धरौली पहुंचे। महारानी देवी, बुधना देवी, गंगा दीन— सभी बर्मा हैं— उनके घर पहुंचे। उनके घर रहे रातभर। मक्के की रोटी, उड़द की दाल मिली। घाम रहा, भूख खूब लगी थी। गुड़ और पानी के लिए तरस जाते थे। बाद में किस्सा याद करके खूब हंसे।

“चानकन देवी के मंदिर पहुंचे। हमारे पास न गिलास, न लोटा, न पांच पैसा। चार जने रहे सब फक्कड़ये रहे। एक एक ही कपड़ा रहा। रात रामधारी के घर रहे, बर्मा थीं, विधवा थीं। रामधारी ने दरसन दिया, हम बोले, 'महारानी संकट काटो। उनके साथ रहे। कालेसर गिरी की विधवा थीं। डर से कांपते थे, अगले दिन वहां से खिसक लिए, नहीं तो पुलिस उनका घर भी फूंक देती।

“घूइसरनाथ पहुंचे। कुर्मी लोगों के घर रहे— सुरजू कुर्मी के घर। माधव कुर्मी के घर। माधव फुलरिया बगीचे का इंतजाम करता था। वहां कुछ दिन रहे। आनहीं बाबा साधु रहे। जैसे

सूरज घूमता है, घूमते रहे— हम सब की रक्षा में रहे। बोले तुम्हारे पहले मैं जाऊंगा जेल। आनहीं बाबा ने भिक्षा मांगकर के खिलाया। खुद हम पका लेते थे। शाम को खाते थे— दाल नहीं तो नमक से, नमक नहीं तो दाल से। बांट बांटकर थोड़ा थोड़ा खा लेते थे। बाबा बोले, ‘डरो मत। पुलिस आएगी तो सरसा से मारेंगे।’ मुरदों को बहाकर खटिया ले आए, बोले ‘बेटी, इस पर सोओ!’

“एक महीने बाद उस साधु से गए। सुनने में आया कि जो वारंट जारी था, वो समाप्त हो गई। पैदल आए तो दो रुपया जमीन पर गिरा हुए मिला, इक्का ले लिया। परतापगढ़, आते आते शाम हो गई। दरोगा का इक्का आगे आगे। हमने सोचा कि अब फंस जाएंगे। दरोगा को आगे जाने दिया, आनादेव गांव उतर गए। पट्टी पैदल आए। सात बजे रात पट्टी से चले। सुटहल बुधई और हम दो जनी। सुटहल बुधई हदिया के थे। सुटहल की पत्नी अभी जिंदा हैं। रात एक बजे देवसरा पहुंचे। ननद को जगाया! दो बजे रात खिचड़ी बनी। उस दिन बिट्टी ख्वाब देखी थी कि माई आएगी। मुझे देखकर भागते भागते आईं। भागते हुए गिर गई थी। फिर एक डेढ़ महीने मैं घर में बंद रही। जग्गी गई दाउदपुर, लल्ली विजया और अपनी माई के पास।

“एक महीने बाद हम निडर हो गए। सीतारामजी और बाबा रामचंद्र करीब एक साल जेल रहे। एक साल बाद छूटे थे।”

fujrj | 3k%kj o ckj dh nfu; k ea

सुंदरा देवी यादों का सिलसिला जारी रखती हैं— “बाल बच्चे घर बार खेती बारी देखी। सभा मीटिंग में भी हम जाते रहे, कभी छोड़ा नहीं। जुलाई 1943 में छूटे ये लोग। सन् 1944 तक आंदोलन चला। इन्होंने तोड़फोड़ की, फरार हो गए। सन् 1944 में क्रांतिकारी डाका केस लगाकर इनको पकड़ लिया। सीताराम भाला पिस्तौल लाठी लेकर पहुंचे। रात को पिरथीगंज के मंदिर में पकड़ लिया— चौदह आदमी पकड़े गए। फिर जेल हो गई। बाबा रामचंद्र भी आंदोलन करते हुए फिर से पकड़े गए।

“बाबा रामचंद्र ने जेल से चिट्ठी लिखी— एक पोस्टकार्ड मौजूद है। लिखा, ‘श्रीमती जग्गी जी, सास धिराजी, बेटी ललिता जी और विजया जी, सब घरों के बड़े और छोटे, और सब साथियों को मेरा प्रणाम। बहुत दिनों से आपको देखा नहीं है। खेत में नुकसान हुआ होगा। नुकसान फायदा किस्मत की बात है। आपको और आपकी माताजी का धन्यवाद— आप मेरी टूटी नाव खे रहे हैं। इस तपस्या के लिए भगवान आपको आशीर्वाद देंगे। दृढ़ रहिये। चिट्ठी का जवाब दीजिएगा। बाबा रामचंद्र, किसान सेवक।”

बाबा जेल से हर महीने एक चिट्ठी लिखते थे। अपनी चिट्ठियों में वे कई बार जोर देते थे कि दोनों बेटियों की पढ़ाई पर जरूर ध्यान दिया जाए। परंतु परिस्थितिवश ऐसा न हो सका।

जग्गी के लिए घर बार खेती बाड़ी संभालना आसान न था। आंदोलन में सक्रिय भागीदारी, साथियों की जेलयात्राएं व अपनी कठिन परिस्थितियों से जूझते जूझते उन्हें थकान महसूस होने लगी। जिंदगी में पहली बार जग्गी ने अपना ध्यान घर गृहस्थी पर टिकाने की कोशिश की। बच्चों के लालन पालन पर ध्यान केंद्रित करना चाहा। धिराजी बीमार थीं। अतः जग्गी को घर की जिम्दारियां अपने कंधों पर लेनी पड़ीं।

1945 या 1946 में धिराजी का देहांत हो गया। लंबे बरसों के दौरान धिराजी ने जग्गी

का साथ दिया था। घर व बच्चों की देखभाल धिराजी ने अपने सर ले ली थी। इस कारण जग्गी घर के बाहर आंदोलन की गतिविधियों में जी जान से शामिल हो पाई थीं। अपने घर व बच्चों के प्रति वे निश्चित थीं, जानते हुए कि उनकी मां धिराजी खूब प्यार व समझदारी से गृहस्थी की हर बात संभाल लेंगी।

धिराजी के देहांत के बाद जग्गी के जीवन में बदलाव आना ही था। मां का लगातार साथ व समर्थन चला गया, तो लगा कि पांव के नीचे कि धरती हिल गई। चारों तरफ आजादी की लड़ाई गरमाई पकड़े हुए थी। बाबा कभी जेल में कभी बाहर लोगों के बीच मीटिंग सभा में। घर व बच्चों की पूरी जिम्मेवारी जग्गी ने संभाली। इसके अलावा उनके पास कोई चारा न था। मिट्टी की उसी झोपड़ी पर, दो बीघा जमीन की खेती करते हुए जग्गी ने नई जिम्मेदारियों के साथ समझौता किया। जमीन पहले धिराजी के नाम थी, वो अब जग्गी के नाम हस्तांतरित हो गई।

वे; k; 6 % ^Lorak Hkkjr 1947 I §

“पुलिस हमारी है, पलटन हमारी है, जनता हमारी है।”

“तुम आजादी के बच्चे हो। आजादी के बच्चों को स्कूल मिला, शिक्षा मिली, नौकरी मिली। पर क्या सीखते हैं स्कूल में?”

“हम गोरे लोगों से लड़े, उनको कहा अपने देश जाओ। भारतवर्ष के बच्चे हैं— ईमान के फूल लगावेंगे। समवत से रहेंगे। इनकी हुकूमत नहीं चलेगी। वो दिन भाषण के दिन। आजादी लाये सब मिलकर। अब कहां हैं हमारा हिस्सा, वो हमारा हिस्सा? जात पात, झगड़ा, चोरी बेइमानी।”

— जग्गी देवी

^Lorak Hkkjr*

अन्य स्वतंत्रता सेनानियों की तरह किसानों को भी देश की नई हुकूमत से बहुत उम्मीदें थीं। उन्होंने सोचा था कि 1947 में ‘अपनी’ सरकार स्थापित होने के बाद देश के हालात में बहुत सुधार आएंगे। नए कानून व नीतियां लागू होंगी, जिनके द्वारा गरीब किसान की दशा में जमीन आसमान का परिवर्तन आ जाएगा। समानता, इन्साफ और खुशहाली का युग उद्घाटित होगा।

परंतु बाबा रामचंद्र को इस ‘नए’ युग के आगमन पर पूरा विश्वास न था। अनेक बरसों तक संघर्ष करने के बाद देश आजाद हुआ था। परंतु उन्हें स्पष्ट अहसास था कि जिन वर्गों ने ‘आजाद’ भारत में सत्ता हथिया ली है, वे वर्ग गरीब किसानों के पक्ष में काम नहीं करेंगे। रामचंद्र कभी खुश हो जाते थे क्योंकि इतने सालों की जी तोड़ लड़ाई के पश्चात आजादी हासिल हो गई। परंतु कभी उन्हें दुख घेर लेता था— सोचकर कि इस आजादी के फलों का बंटवारा असमानता व बेइंसाफी को घटाने के बजाय और बढ़ा देगा। गरीबों के लिए नीतियां न बनेंगी, अपितु अमीर वर्ग ही आजादी का फायदा उठाएंगे।

स्वयं बाबा रामचंद्र कई बार जेल गए थे, कड़े कारावास की सजा भी सही थी। उनके शरीर व मस्तिष्क थक चुके थे। दरवाजे पर बुढ़ापा दस्तक दे रहा था। नाउम्मीदी और निराशा उन्हें घेर लेती थी। जेल की सजा काटकर घर आए, तो जग्गी व बेटियों को भी मुसीबत में पाया। इस सब से उनका मन विचलित रहता था। घर परिवार के साथ रहकर उन्हें सुख भी मिला।

1948 में बाबा व जग्गी को एक बेटा हुआ। उन्होंने अपने बेटे को एक विचित्र नाम दिया— 'स्वतंत्र भारत'। जग्गी ने समझाया, “बाबा ने नाम रखा था स्वतंत्र भारत। सोचे थे ये दुख में नहीं जाएगा, आजादी में जाएगा।” नवजात शिशु के आगमन के साथ जग्गी और बाबा के अंदर उम्मीद की एक नई लहर जगी। असल में 'आजाद' होगा यह बच्चा, इस उम्मीद का केंद्रबिंदु बन गया। उसके कोमल तन व बड़ी बड़ी आंखों को देखकर उन्हें लगा कि जरूर उनके सपने पूरे होंगे।

ckck dk ngkr

कारावास के परिणामस्वरूप बाबा कमजोर हो चुके थे। पूरी तरह से ताकत उनमें फिर से नहीं बनी। परंतु मन में उम्मीद व नाउम्मीदी के दोनों छोर उपस्थित थे। कभी यहां मन भागता कभी यहां। बाबा बचेन थे, इसलिए बीमारी में भी शांत नहीं बैठते। इधर उधर विभिन्न गांवों में भ्रमण करते रहे। ग्रामवासियों की स्थिति आंकने के लिए लोगों से बातचीत करते, मीटिंग सभा में बैठते।

ऐसी ही एक सभा के लिए वे भावपुर गांव गए। सन् 1950 की बात है। वहां बीमार पड़ गए। गांव वालों ने उनकी सेवा की, पर उनकी हालत बिगड़ती गई। उन्हें वहां से दाउदपुर तक ले जाना भी मुश्किल था। जग्गी स्वयं भावपुर आ गईं। तीनों बच्चे उनके साथ आए।

बरसों बाद जग्गी मुझे भावपुर गांव ले गईं। स्मरण करती हुए बोलीं, “यहां भावपुर में सभा होती थी।” हम जिस टूटे फूटे घर में बैठे थे, उसके सामने के मैदान की ओर संकेत करते हुए बोलीं, “इसी मैदान में सभा होती थी। और इसी झोपड़ी में वे रहते थे। यहां बीमार पड़े रहे। इसी कुएं का पानी पिया। इस डगर से उनकी लाश निकली थी। छाती फटती है यहां आकर।”

मैदान के बीचोंबीच सफेद पत्थर से समाधि बनी हुई है। जग्गी समाधि तक चलकर गईं, चेहरे पर पुरानी यादों की पीड़ा। आम के बगीचे हैं आसपास। समाधि के पास जग्गी हाथ जोड़े खड़ी रहीं। स्मृतिपटल पर पति की यादें, उन यादों की झलक उनके चेहरे पर। सीधी सादी, सपाट समाधि, खुले आकाश के नीचे, एक साधारण गांव के हरे भरे मैदान में। समाधि की एक दीवार पर बड़े बड़े अक्षरों में अंकित था— 'बाबा रामचंद्र' और साथ में 'सन् 1950'।

उस समय जग्गी पैंतीस या छत्तीस बरस की थीं। इतनी सी उमर में क्या कुछ नहीं देख लिया था उन्होंने। आंदोलनों के उतार चढ़ाव व निजी जीवन के उतार चढ़ाव का सिलसिला चलता ही जाता है। जग्गी विधवा हो गईं। तब लल्ली ग्यारह बरस की थीं, विजया आठ बरस की व स्वतंत्र भारत केवल दो बरस के थे।

जग्गी अपने तीनों बच्चों के साथ दाउदपुर कुंडा स्थित अपने घर में जीती रहीं। बच्चों का लालन पालन उनके कंधों पर था। पति के गुजर जाने का दुख एक ओर। दूसरी ओर आंदोलन की गतिविधियां धीमी पड़ चुकी थीं। अतः घोर अकेलेपन का एहसास होने लगा— जिसका अनुभव आज तक जग्गी ने नहीं किया था।

उस काल में अधिसंख्य स्वतंत्रता सेनानी व किसान कार्यकर्ता सार्वजनिक क्षेत्र से पीछे हट गए थे। आजादी की लड़ाई के दौरान उन्होंने बहुत कुरबानियां दी थीं। अपना घर परिवार त्यागकर आंदोलन के नशे में धूमते रहते, कभी सभा, कभी आंदोलन अभियान, तो कभी जेल की चारदीवारी। 'आजादी' पा लेने के बाद सबको लगा कि जीत हासिल हो गई है। अब 'अपनी' सरकार है। इसलिए वे अपने घर परिवार व खेतीबाड़ी में जुट गए। निजी जिंदगी की

आवश्यकता में एक बार फिर फंस गए। आंदोलन ठंडे पड़ गए। जग्गी को निजी जिंदगी की जिम्मेदारियों ने दुगुनी तिगुनी तेजी से घेर लिया था। पहले मां धिराजी का देहांत, कुछ ही वर्षों में पति का देहांत, इन त्रासदियों के कारण उनके जीवन में संकट का समय छा गया।

‘Lorark I sukfu; kã dh I ph

जब स्वतंत्रता सेनानियों की सूची बनाई गई, जग्गी का योगदान नजरअंदाज कर दिया गया। कारण था कि वो कभी जेल नहीं गई थीं। इसलिए अपने इलाके के स्वतंत्रता सेनानी की सूची में जग्गी का नाम लिखा ही नहीं गया। ‘आजाद भारत’ में अफसरशाही ऐसी चली कि लोग लकीर के फकीर बन गए। जग्गी देवी व सुंदरा देवी जैसे आंदोलनकारियों ने आजादी की लड़ाई में भाग ही नहीं लिया, बल्कि भारी कुर्बानियां दी थीं। परंतु आजाद देश में, लालफीताशाही का इतना बोलबाला था कि जग्गी की कुर्बानियां दिखी ही नहीं। अफसरों ने सूचियों में उन लोगों के नाम लिखे जो जेल जाने के सबूत दिखा पाए। उनके अलावा जिन लोगों ने लड़ाई लड़ी थी, परंतु ‘ठोस प्रमाण’ न दिखा पाए, उन्हें स्वतंत्रता सेनानी होने के काबिल न समझा।

चूंकि बाबा रामचंद्र, सीताराम जी इत्यादि आंदोलनकारियों ने जेलयात्रा की थी, उन्हें ‘स्वतंत्रता सेनानी’ माना गया। उन्हें सरकार की ओर से ताम्रपत्र व पेंशन प्रदान हुए। वे बस व ट्रेन में निःशुल्क सफर भी कर सकते थे।

अफसरों की नजर में जग्गी थी बस एक गरीब किसान महिला— और स्वतंत्रता सेनानी की पत्नी। बाबा रामचंद्र के देहांत के बाद वो रह गई स्वतंत्रता सेनानी की विधवा। स्वतंत्रता सेनानी की विधवा होने के नाते जग्गी देवी को सरकार की ओर से छोटी सी पेंशन व बस और ट्रेन के लिए निःशुल्क पास प्राप्त हुए।

xjfeyu tLxh dsI od o ennxkj

विधवा होने के बाद जग्गी देवी का जीवन नए ढर्रे में चलने लगा। बच्चों की देखरेख, घरेलू कार्य व खेती में उनका सारा समय लग जाता था। जग्गी ने एक गाय भी पाली जिससे बच्चों को दूध मिले। बेटियां घर खेत में जग्गी की मदद करती थीं। बाबा व जग्गी चाहते तो थे अपने तीनों बच्चों को पढ़ाना लिखाना। परिस्थितिवश यह संभव न हुआ। किंतु जग्गी देवी ने पूरी कोशिश की कम से कम आखिरी संतान स्वतंत्र भारत को स्कूल भेजें। अतः किसी तरह जग्गी ने बेटे को पढ़ाया। जिंदगी जोखिम भरी हो चुकी थी। गुजर कर पाना मुश्किल था। देखते देखते बच्चे बड़े होते गए।

जग्गी ने बताया, “बाबा के जाने के बाद पांच बरस हम चुप बैठे रहे। फिर गुरमिलन आए तो मढ़इया ठीक करी।” यानी पांच बरस तक जग्गी ने आंदोलन व राजनीति से अपना नाता तोड़ दिया। घर परिवार में पूरी तरह व्यस्त हो गईं। फिर अचानक उनके द्वार एक ‘सेवक’ आ गया। सेवक का नाम था गुरमिलन। गुरमिलन के पिताजी बाबा रामचंद्र के सेवक हुआ करते थे। बचपन में गुरमिलन कुछ साधुओं के साथ हो लिया था। घर छोड़कर उन्हीं की संगति में निकल लिया था। जग्गी की खुशकिस्मती थी कि गुरमिलन ने उनके पास रहकर सेवा करने का निर्णय लिया।

गुरमिलन बताते हैं, “हम बालक से ही बैरागी हो गए, घर छोड़ दिया, साधु बन गए। अयोध्या, मथुरा दुनिया घूमि हमने। हम इस मंदिर में आए, तब आकाशवाणी सुनी। बाबा बोल रहे, तीन बार हमें पुकारा। कहे, ‘तुम यहीं रहोगे। जाओ जग्गी मां की सेवा करो।’ जग्गी बहुत

तकलीफ में थी। खाने के लिए दो जून चावल नहीं। तीन छोटे छोटे बच्चे थे। हम उनकी सेवा में लग गए। जमीन ऊबड़खाबड़ थी, उसे परिश्रम करके सपाट बनाया। गेहूं और ईख बोया। ये घासफूस की मढ़इया थी, आने के बाद हमने खपड़ल लगाई। गाय की सेवा की, जलाने के लिए लकड़ी ले आता हूं।”

गुरमिलन कर्मठ और कोमल दिल वाले इंसान हैं। जग्गी व बच्चों की सेवा में लीन हो गए। बच्चों की देखभाल बड़े प्यार से करते। बरसों बाद जब गुरमिलन भी बूढ़े होने लगे, तब जग्गी ने तकिया गांव से एक खेतिहर मजदूर को अधिया पर लगा दिया। तब भी खेती की देखरेख गुरमिलन करते रहे। बुजुर्ग होते होते गुरमिलन के दो चले भी बन गए— जीतलाल और बाबूराम।

गुरमिलन सोचते सोचते अपने विचार बांटते हैं, “मैं समझ गया कि ये माता सही हैं। कोई इनकी ड्यूटी नहीं बजाया। इनके आसपास जो थे, सब छली। इनके संगी साथी सब चोर। हम जीते जी माता को तकलीफ नहीं होने देंगे। जग्गी की बातों में बहुत गहराई है। क्योंकि वो सब कुछ देखी हैं। पैदल गांव गांव गई हैं। उनके अंदर से बाबा रामचंद्र बोलते हैं। बाबा मुर्दा थे पर मरे नहीं। वो तो अमर हैं। वो माता के अंदर से बोलते हैं। वो आकाश से बोलते हैं। कौन समझता है ये सब बात?”

csV; kafot; k vKj ylyh

विजया और लल्ली बड़ी होती जा रही थीं। 1950 के दशक का अंत होते होते जग्गी ने लल्ली की शादी तय कर दी। सुल्तानपुर जिले के एक गांव का ब्राह्मण परिवार था। शादी के बाद लल्ली अपने ससुराल चली गई। आगामी जीवन में लल्ली के तीन बेटे व एक बेटी हुई। साधारण गृहस्थी में लल्ली रम गई। बच्चे बड़े होते गए तो दो बेटे बंबई चले गए, जहां उन्होंने घरों में सफेदी के काम की ठेकेदारी की। तीसरा काम की खोज में दिल्ली शहर निकल लिया।

विजया की शादी भी सुल्तानपुर जिले के एक गांव में हुई। जग्गी को गर्व है कि दोनों दामाद ब्राह्मण जाति के हैं। चूंकि उनके पति बाबा रामचंद्र ब्राह्मण थे, जग्गी ने ठान लिया कि बच्चे भी ब्राह्मण जाति के हैं। उन्हें इस जाति की सदस्यता हासिल होनी ही चाहिए। पुराने कार्यकर्ता साथियों की मदद लेकर, जग्गी ने सही परिवारों को खोज निकाला। उन्हें नेक परिवार चाहिए थे, जहां बेटियों को उच्च ओहदा मिले, अच्छी जिंदगी मिले। दान दहेज कुछ नहीं दिया, न भारी बारात आई। शादी के लिए वो सही वर ढूंढतीं, तय हो जाने पर पंडित से तिथि निकलवातीं, फिर परिवार व कुछ साथियों और पड़ोसियों के बीच सादगीपूर्ण विवाह संपन्न हो जाता।

विजया के पति गांव के जीवन से खुश न थे। वे शहर जाकर अपनी किस्मत आजमाना चाहते थे। बाबा रामचंद्र का ननिहाल इंदौर में था। कुछ रिश्तेदार अभी भी मौजूद थे। उनके सहयोग से विजया के पति को कपड़ा मिल में नौकरी मिली। विजया भी अपने पति के साथ इंदौर रहने लगी। मिल की मजदूर कॉलोनी में उन्हें रहने के लिए क्वार्टर दिया गया। आगामी वर्षों में उनके चार बेटे और एक बेटी पैदा हुए, वहीं पले बढ़े। विजया के देवर भी इंदौर आकर उनके साथ रहने लगे, वहीं मिल में नौकरी की। बहुत सालों बाद विजया के पति ने अचानक अपनी नौकरी खो डाली। परिवार आर्थिक दिक्कतों से घिर गया।

आगे जाकर लल्ली व विजया के कई नाते नातिन भी हुए। संतुष्ट लिहाज से जग्गी बोलीं, “बड़ा भारी परिवार हैं दोनों का।”

आठारह उन्नीस वर्ष की आयु में स्वतंत्र भारत ने स्कूल पास किया। स्वतंत्र भारत आगे पढ़ना चाहते थे पर प्रतापगढ़ के कॉलेज में दाखिले के लिए मदद की जरूरत थी। प्रतापगढ़ में मुनीश्वर दत्त नामक व्यक्ति बाबा रामचंद्र के सहयोगी रहे थे। जग्गी स्वतंत्र भारत को उनसे मिलाने ले गई। मुनीश्वर दत्त अब ऊंचे पद पर थे, परंतु उन्होंने मदद करने से इंकार कर दिया। ऐसा दिखाया जैसे वो जग्गी देवी को पहचानते ही नहीं हैं। उनके इस रवैये से जग्गी देवी को बहुत धक्का पहुंचा। स्वतंत्र भारत भी बेहद निराश हो गया।

फिर जग्गी ने विचार किया कि स्वतंत्र भारत गांव में रहकर खेतीबाड़ी कर सकता है। रूरे गांव में बाबा रामचंद्र की कुछ पुरानी जमीन थी, जो आंदोलन के समय उन्हें दान दी गई थी। जग्गी व स्वतंत्र भारत ने उस जमीन को हासिल करने का प्रयास किया। परंतु यह भी असंभव सिद्ध हुआ। रूरे गांव के कुछ लोग उसे हड़प चुके थे।

जग्गी की कुछ पैतृक संपत्ति भी थी, पारा गांव में। परंतु रिश्तेदार व गांववाले उस जमीन पर अपना स्वामित्व स्थापित किए हुए थे। अतः यह जमीन भी हाथ से बाहर निकल चुकी थी।

स्वतंत्र भारत बचपन से लेकर जवानी तक किसान आंदोलन व आजादी की लड़ाई के कहानी किस्से सुनता आया था। जग्गी व अन्य साथी प्यार से बच्चों को आपबीती कहानियां सुनाते थे। स्वतंत्र भारत को जग्गी ने बहुत चाव से पाला था। परंतु अब स्वतंत्र भारत निराश और नाराज हो गया। उसके सपने चकनाचूर हो गए। स्वतंत्र भारत ने कहा, “यह देश झूठा है। हम इस देश के लिए काम नहीं करेंगे। मुनीश्वर दत्त के पास गया तो वो बोले, “तुम कौन हो, हम नहीं पहचानते।” इस दो बीघा जमीन पर मैं कैसे गुजर करूंगा? इससे क्या होगा? यहां पढ़ाई नहीं, यहां नौकरी भी नहीं।” भाई की दिक्कत मालूम हुई, तो विजया ने उसे इंदौर बुला लिया। हालांकि जग्गी को भी वो छोड़ना नहीं चाहता था, उसे और कोई चारा नहीं दिखा। इंदौर चला गया। वहीं कपड़ा मिल में नौकरी करने लगा। फिर कुछ समय बाद विजया ने वहीं एक अच्छी लड़की ढूंढ़ी। जग्गी से भी सलाह लेकर, विजया ने उस लड़की से स्वतंत्र भारत की शादी तय कर दी। स्वतंत्र भारत इंदौर में बस गए।

शादी के लिए जग्गी इंदौर गई। गुरमिलन भी साथ गए। जग्गी के लिए बस व ट्रेन का सफर निःशुल्क था, साथ में एक सेवक भी हो सकता था। जग्गी ने बेटे बहू को आशीर्वाद दिया। शादी समारोह में खुशी खुशी शामिल हुई। कुल तीन दिन इंदौर रहीं। स्वतंत्र भारत ने आग्रह किया कि एक महीना रहें, परंतु वो न मानी।

स्वतंत्र भारत कभी कभी दाउदपुर आते थे। वो भी चार पांच साल के फासले के बाद। स्वतंत्र भारत की पत्नी एक भी बार दाउदपुर नहीं आई। न उनके बच्चे कभी आए। जग्गी ने भी आग्रह नहीं किया। जग्गी को लगता था कि यहां तो बहू को रहने लायक जगह ही नहीं है, आएगी तो कष्ट होगा। शहर में पत्नी बहू थी। गांव की झोपड़ी में कैसे रह पाएगी। यहां का खाना कैसे खा पाएगी। एक बार स्वतंत्र भारत आया तो स्टूडियो में खीची अपने परिवार की फोटो लाया। यह फोटो जग्गी को बहुत अजीब थी। कई बार निकालकर फोटो में अपने बेटे बहू, नाती नातिन को एकटक निहारती रहतीं, आंखों में आंसू की चमक।

दुख भरे, धीमे स्वर में जग्गी कभी पूछती थीं, “मुझसे गरीब कौन है? स्वतंत्र भारत से गरीब कौन है? जग्गी अपने बेटे से बिछुड़ गई। बिछुड़ने का एकमात्र कारण था— गरीबी। गरीबी से परेशान, पढ़े लिखे बेटे को गांव का जीवन नीरस लगा। दो बीघा जमीन पर गुजर करते हुए क्या जिंदगी होती? यह सोचकर वह शहर चला गया। कपड़ा मिल का मजदूर बन गया। संपन्न

तो वहां भी होना संभव न था! परंतु अब वो वहीं बस गया था। बीवी बच्चे तो सौ प्रतिशत शहरी थे। असल में स्वतंत्र भारत की कमाई ज्यादा न थी। कपड़ा लत्ता खाना पीना पूरा हो जाए, उसके बाद कुछ बचने की संभावना नहीं थी। जग्गी चाहती थी कि बेटा उनके साथ रहे। पाल पोसकर बड़ा किया था, दिल में अरमान थे। सोचा था कि पढ़ लिखकर अच्छी नौकरी करेगा, आसपास कहीं रहेगा, अपने गांव व इलाके के लिए काम करेगा। आखिर मां बाप ने अपने किसान भाई बहनों के लिए कितना कुछ किया था! परंतु स्वतंत्र भारत का तो इस सब से नाता ही न रहा।

अगर जग्गी चाहती, वो स्वतंत्र भारत के साथ जाकर इंदौर रह सकती थीं। वो खुश होकर मां को अपने साथ रखता। परंतु जग्गी देवी अपना ग्रामीण इलाका छोड़ने के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थीं। उनकी जड़ें यहीं थीं और जड़ें गहरी थीं। बोलीं, “मुझे खेतों से वृक्षों से प्यार है। गाय से, बछड़े से। यहीं मेरी राजनीति है। शहर में नहीं।”

कई बार जग्गी पूछती थीं, ‘स्वतंत्र भारत है कहां?’ ‘स्वतंत्र भारत है कहां?’— इस प्रश्न के दो अर्थ स्पष्ट थे। दोनों स्तर महत्त्वपूर्ण हैं, और एक दूसरे से जुड़े थे। क्या ये भारत आजाद है? जिसमें किसान आंदोलनकारी नेताओं के बच्चे शहरी अर्थव्यवस्था के हाशिये पर जीने के लिए मजबूर हो जाएं?

उनके मस्तिष्क में कई स्मृतियां धूपछांव की तरह दौड़ती थीं। इन स्मृतियों के बीच से यह दोहरा प्रश्न उठता और उन्हें घेर लेता था। हर स्तर पर आंसू व दर्द लिए!

vè; k; &7 % vdsyh vkokt— vktknh dh êkqj ea

‘कठोर भूमि कोमल पदगामी
सीता जी चली थीं’

— जग्गी देवी

लगभग 1955 में, गुरमिलन का सहयोग पाकर, जग्गी देवी फिर से घर से बाहर निकलकर गांव गांव घूमने लगीं। वो अलग अलग पार्टी व गुट की मीटिंग व सभाओं में भाग लेने लगीं। आजादी के कुछ ही साल बाद, अवध किसान सभा औपचारिक रूप से कांग्रेस में शामिल हो गई। स्थानीय किसानों की लड़ाई व रणनीतियों के मुख्य प्रतिनिधि होने की हैसियत उसके हाथों से खिसक गई। रूरे में कुछ पुराने कार्यकर्ता मिलते रहे, परंतु उनकी साप्ताहिक मीटिंग में पहले जैसा उत्साह और जोश न था। जग्गी मीटिंग में जाने लगीं जितना संभव होता। अधिसंख्य पुराने कार्यकर्ता थके हुए थे। इतनी कुर्बानियां करने के बाद वे अपनी जिंदगी समेटने के प्रयास में जुटे हुए, वे टूटन और परेशानी महसूस कर रहे थे। उनकी संख्या भी घटती जा रही थी।

1970 के दशक में इन मीटिंगों में जग्गी सबसे बुजुर्ग थीं। उन्हें सभी बहुत मानते भी थे। जग्गी अब काफी सक्रिय हो गई थीं। वो बोलीं, “बाबा के साथ मीटिंग सभा में जाती थी। फिर पांच साल चुप बैठी। बाबा के बाद फिर जाने लगी थी, ज्यादा।”

रूरे में झिंगूरी सिंह का देहांत हो गया, पर उनके पोते राम बहादुर सिंह और भतीजे शिव शंकर पुरानी यादों को ताजा बनाये रखे थे। आजादी की लड़ाई से वे अपनी जवानी में जुड़े थे। उन्होंने उस समय के पर्वे, अखबार व अनेक दस्तावेज संजोकर रखे। उस समय के किस्से कहानी भी सुनाते थे, परंतु सुननेवालों की संख्या घट चुकी थी। नई पीढ़ी को वो कहानियां बासी

लगने लगी थीं। अब आंदोलन का माहौल खतम हो चुका था। उस समय के मुद्दे सीमित और निरर्थक लगते थे। पुराने आंदोलनकारियों के बाल बच्चों में से कुछ ने 'स्वतंत्रता सेनानी आश्रित संघ' का गठन किया। इस संघ के मुताबिक वे नौकरियों की खोज की मारामारी में नहीं पड़ना चाहते थे। उनके पुरखों ने देश के लिए जान तक गंवा दी थी। ये देखते हुए, उन्हें चौकीदार, चपरासी इत्यादि की नौकरियां दी जानी चाहिए। उनके लिए खास संरक्षण (कोटा) होना चाहिए।

जग्गी की आधी जिंदगी तो आंदोलन व संघर्ष की गर्मी में बीती थी। उस युग में आजादी की लड़ाई ने कितने लाखों साधारण लोगों को अपनी ओर खींच लिया था। उन दिनों की याद जग्गी को सताती थी। वर्तमान अवसरवादी राजनीति से जग्गी को अलगाव महसूस होता था। उनके दिलो दिमाग में पुराने आदर्श आज भी कौंध रहे थे। परंतु अब वो अपने को अकेला पा रही थीं—आजादी की धुन में आज भी गाती हुई, एक अकेली सुरीली आवाज।

I gh I kffk; ka dh [kkst

जग्गी ने साथियों की खोज कभी नहीं छोड़ी। न एक सही राजनीति की खोज। अपने निःशुल्क बस पास का खूब उपयोग करती थीं। इधर उधर घूमकर ढेर सारी राजनैतिक सभाओं में भाग लेतीं। कभी कांग्रेस की मीटिंग होती, कभी कम्युनिस्ट की तो कभी बहुजन समाज पार्टी की। सभी पार्टियां जग्गी को अपने आयोजनों में बुलाती थीं। अधिकतर जग्गी इन मीटिंग आयोजनों में पहुंच जातीं। कभी मंच पर बैठते, कभी हार पहनाते, कभी दो शब्द बोलने का आग्रह करते। सफेद धोती पहने, जग्गी अपनी बात मंच से बोलने में कतराती नहीं थीं। हमेशा याद दिलातीं कि अभी तक हमारा देश आजाद नहीं हुआ है— अभी तो संघर्ष जारी रखना जरूरी है।

जग्गी किसी पार्टी की सदस्य नहीं बनीं। कहती थीं, “चाहे कोई हुकूमत हो, बोलना तो जरूरी है। बोले बिना काम नहीं चलेगा।” वो देख रही थीं कि हर पार्टी में अवसरवाद और भ्रष्टाचार कूट कूटकर भरा है।

अनेक बार मंच पर जग्गी देवी एकमात्र औरत होतीं, एकमात्र गरीब होतीं। इधर उधर मोटे मोटे नेता बैठते, उंगलियों पर सोने की अंगूठियां चमकतीं। आयोजकों के लिए जग्गी का महत्व महज दिखावे के लिए था। इन मीटिंगों में खोखले वादे और धड़धड़ाते हुए भाषण होते। आगे पीछे कोई भी मकसद सिद्ध नहीं होता था इन मीटिंग से।

कई वर्षों तक जग्गी कांग्रेस का साथ ज्यादा देती थीं। आखिर आजादी की लड़ाई में कांग्रेस पार्टी का हाथ तो था ही। परंतु धीरे धीरे इस पार्टी से भी उनका मन उखड़ गया था।

प्रतापगढ़ जिले के अंदर जग्गी देवी कभी कभी पहुंच जातीं तहसीलदार के पास। या प्रतापगढ़ पहुंच जातीं जिलाधिकारी से मिलने। अफसर व्यस्त होते तो कोई बात नहीं, वहीं बैठी रहतीं जब तक वे अंदर न बुला लेते। आमने सामने बैठकर, जग्गी उन्हें सीख देने लगतीं। अपने अनुभव व समझ के आधार पर उन्हें सलाह देतीं। आम लोगों के मुद्दों व समस्याओं के बारे में खुलासा करतीं।

1980 दशक में जग्गी दो बार दिल्ली गईं। उनका मकसद था लोगों की आवाज प्रधानमंत्री राजीव गांधी के कानों तक पहुंचाना। साथ में देश कैसे चलाना चाहिए यह सलाह देना।

जग्गी के साथ कई आम लोग जुड़े रहते थे। उनका एक सिपाही था जीतलाल। जीतलाल बोला, दो सौ लोग तुम्हारे साथ दिल्ली जाएंगे। कोई नहीं रोक सकता। पहली बार जब जग्गी दिल्ली गईं, तो कांग्रेस नेता श्रीपति मिश्रा के घर रहीं। राजीव गांधी से समय लिया, और मिलीं

भी। जब मिलीं तो राजीव गांधी की कलाई अपनी उंगलियों से जकड़कर पकड़ ली— वैसे जैसे पट्टी के तहसीलदार या प्रतापगढ़ के जिलाधिकारी की कलाई पकड़ा करती थीं— और बताने लगीं कि देश कैसे चलाना चाहिए। सुनाने लगीं, कैसे देश का धन दौलत गलत कामों में गंवाया जा रहा है, जबकि गरीब लोग संकट में जी रहे हैं। परंतु राजीव गांधी जल्दी से खिसक लिए एक दो मिनट में ही। ये सब बातें सुनने का समय कहाँ था।

दिल्ली में दूसरी यात्रा के दौरान जग्गी देवी प्रतापगढ़ के कुछ लड़कों के किराये के घर में रहीं। समयपुर बादली गरीब बस्ती में था यह घर। उनके साथ दाउदपुर से भगवानदीन वर्मा नामक एक साथी आए। राजीव गांधी के साथ मुलाकात कराने की कोशिश में भगवानदीन वर्मा दौड़भाग करते रहे। गुरमिलन भी साथ दिल्ली आए थे। परंतु इस बार जग्गी देवी राजीव गांधी से मिल भी नहीं पाई। राजीव गांधी ने उन्हें एक मिनट तक का समय नहीं दिया।

वापस प्रतापगढ़ पहुंचकर जग्गी देवी कहती थीं कि, “जवाहरलाल ने तो यहीं पर अपनी राजनीति शुरू की। यहीं पर पहली बार घाम पसीना समझा। इंदिरा उनकी बेटी थीं, मेरी जैसी थीं। राजू मेरा नाती ही मान लो। जवाहरलाल तो खूब लड़े थे— आजादी लाने में उनका हाथ भी था। फिर राजीव गांधी को भी गांव गांव घूमना चाहिए।”

मुझसे बोलीं, “राजीव गांधी को भी लोगों का बयान सुनाओ। जन जन की बात सुनकर ‘टेप’ कर लो, राजीव को सुनाओ। यहां के सदस्य बेकार हैं, धोखा करते हैं। दिनेश सिंह जमींदार था, अब सदस्य बनकर बैठा है। श्रीपति मिश्रा दिल्ली में बैठे हैं। हम गए थे, उनके घर रहे, राजीव गांधी से मिले। पर सुनवाई नहीं हुई। जल्दी में था वो। फिर जाऊंगी। दिल्ली जाऊंगी। वहां राजीव गांधी को सारी बातें बताऊंगी, समझाऊंगी।”

tXxh ^urk*

1980 के दशक में जग्गी ने कई कदम उठाए। सरकार के सामने दाउदपुर कुंडा में एक खादी आश्रम खोलने का प्रस्ताव रखा। इसके द्वारा अनेक महिलाओं को रोजगार मिलता। कताई बुनाई करके वे दो पैसे कमा लेतीं, गुजारा हो जाता। जग्गी एक गौशाला भी बनाना चाहती थीं बूढ़ी गाय भैंस के रखरखाव खातिर। जग्गी चाहती थीं कि सार्थक कार्यों में अपना समय दें।

जग्गी भौतिकवादी बाजार केंद्रित अर्थव्यवस्था के खिलाफ थीं। कहतीं, “हमें अपना सूत कातकर कपड़ा बनाना चाहिए।” कपास तोड़कर साफ करतीं, सूत काततीं। समझाती थीं, “हमने लालच नहीं किया। बस गाय भैंस का लालच किया है। पर उनके लिए चारा नहीं खिला पाती।”

“हम मोल की वस्तु के सख्त खिलाफ हैं।” यानी बाजारू संस्कृति के विरुद्ध जग्गी अटल खड़ी रहीं।

कभी कहतीं— आधा मजाक में, आधा असल में— “इतने बरस काम किया है। तनखाह जोड़ो तो बड़ा खजाना मिलना चाहिए भाई!” चौबीसों घंटे वो जुटी रहतीं। जब बेटे बेटियां भी अपने अपने स्थान चले गए, तब जग्गी ने अपना पूरा समय राजनीति को ही समर्पित कर दिया।

अनेक मुद्दों पर स्वयं मीटिंग आयोजित करती थीं। गांव गांव घूमकर लोगों से बात करतीं, लामबंद करतीं। कभी हैरान होकर कहतीं— “जिनको पेंशन मिल रही है, वो क्या कर रहे हैं? लोग नौकरी करते हैं, और नौकरियां करते हैं, पर आखिर काम क्या कर रहे हैं वो?”

जब मैं दूसरी बार दाउदपुर कुंडा गई, उसी समय जग्गी कहला गांव से लौटी थीं। बोलीं, “कहला में बहुत काम है। पांच दिन हम वहां रहे। मीटिंग की। हमारे बहुत सिपाही हैं वहां।”

जग्गी के ढेर सारे सिपाही थे।

कुछ लोग जग्गी को 'माता' कहते थे, तो कुछ उन्हें 'नेता' पुकारते थे। गुरमिलन की ओर संकेत करके बोलीं, "देखो, गुरमिलन हमारी सेवा करने आया है। साधु ने अपना आश्रम छोड़ा और राजनीति में आ गया!"

भगवानदीन वर्मा भी जग्गी देवी में अटूट विश्वास रखते थे। पर दुखी अंदाज में बोले, "आज की राजनीति किसानों तक नहीं पहुंच पाती।" इस नीरस माहौल में केवल जग्गी आशा की किरण बनकर छा जाती थीं। भगवानदीन वर्मा बोले, "माता में बहुत दम है। उनकी जड़ें राजनीति में बहुत मजबूत हैं। आधी रात उठकर तैयार हो जाती हैं! खाना पानी किसी चीज का विचार नहीं करती।" लोग मुझसे कहते हैं, "जग्गी माता के साथ तुम क्यों हो गए हो? अपना परिवार भी भुला दिया तुमने!"

जग्गी की जिंदगी के आखिरी बरसों में उनकी बड़ी बेटी लल्ली अधिकांश समय उन्हीं के साथ रहती थीं। तब तक लल्ली की घरेलू जिम्मेदारियां भी कम हो चुकी थीं। बेटा बेटा बड़े हो गए थे, बहुएं दामाद आ गए थे। अतः लल्ली अब अपनी मां के पास वापस मायके आकर रह सकती थीं। लल्ली का जी करता था कि बूढ़ी मां के पास रहूं, उसकी सेवा करूं।

जग्गी ने बताया, "लल्ली के ससुराल में बोले कि 'मां के पास जाकर क्यों रहती हो? तुम्हारी मां तो नेता है। उसके पास क्यों जाती हो? पर लल्ली हमारे पास आ गईं। आखिर उसके पिता नेता थे, उसकी मां नेता है। नेता के बीज हैं उसमें। तो अपनी बूढ़ी मां के पास वो क्यों नहीं आएंगी? लल्ली ने पति और ससुराल वालों को बता दिया, 'मेरी मां नेतागिरी में है। मेरे भाई वहां हैं नहीं। मैं जाऊंगी माई की सेवा करने।' लल्ली के माता पिता नेता, तो वो खुद भी नेता है!"

लल्ली बीमार चल रही थीं। दुबली पतली काया हमेशा से थी। जग्गी बोलीं, "अब लल्ली अपना जीवन देशसेवा में दे रही है। देशसेवा में लगी हुई है वो!"

igkus | kfk

अप्रैल 1989 में जग्गी देवी मुझे ले गईं पुराने साथियों व उनके परिवारों से मिलाने। कई गांव हम चल चलकर गए। देवसरा में सुंदरा देवी मिलीं, बिसार में बुधनी देवी, भावपुर में सीताराम कुर्मी, राम अवध और अलगू गड़रिया, लबेदा में हम राम अकबाल के घर रहे। पहरा गांव में महंतलाल और केदार से बातचीत हुई। इससे पहले एक बार जग्गी मुझे ले गई थीं इनके गांव। रूरे में राम बहादुर सिंह और शिव शंकर में बातें बांटी— कुछ नई, कुछ पुरानी।

जहां भी हम जाते, जग्गी देवी का बहुत प्यार से स्वागत होता। मैंने देखा कि लोग उनकी बहुत इज्जत करते हैं। जग्गी पुरानी बातें भी करतीं, और समकालीन समस्याओं पर भी चर्चा होती। जग्गी आज भी प्रयास कर रही थीं कि सार्थक आंदोलन पैदा हो। परंतु पुराने साथियों में किसी के पास इतना जोश नहीं रह गया था कि नए सिरे से संघर्ष छेड़ें।

देवसरा में सुंदरा देवी से मुलाकात के दौरान जग्गी बोलीं, "कसईपुर में बहुत लोग मीटिंग में आए। हमने मीटिंग की थी। कसईपुर में और बड़ी मीटिंग करनी है।" सुंदरा ने पूछा, "कौन करेगा? कौन जाएगा?"

जग्गी बोलीं, "तुम और हम!" सुंदरा ने हंसकर, स्नेहिल भाव से जग्गी की यह बात ठुकरा दी। बोलीं, "पागल है!"

गुजारा चलाने के लिए सुंदरा देवी छोटे से खोखे से मसाला तेल चीनी वगैरह की दुकान

करने लगी थीं। 1930 के दशक में उनकी सास ने कांग्रेस के नाम बहुत सी जमीन दान में दे दी थी। परिवार में ही जमीन रहती तो जाहिर है सुंदरा देवी की आर्थिक स्थिति बेहतर होती। 1947 तक सुंदरा के पति सीतारामजी जेल की सजा काट रहे थे। याद करते हुए वो बोलीं, “पुलिस के डंडे से सीताराम जी के कंधे भी टूट गए। आजादी के बाद सी.आई.डी. ने केस की जांच की और रपट में मंजूर किया कि सीतारामजी व उनके साथी दंगा फसाद में नहीं, बल्कि स्वतंत्रता के लिए लड़ने के लिए हैं। गोविंद बल्लभ पंत ने कहा, ‘आप लोग के ऊपर डंडा नहीं पड़ता अब। पर हमारे ऊपर डंडा पड़ता है। जांच होती है।’ लाल बहादुर शास्त्री ने कहा, ‘पैंतालिस हजार रुपया हर्जा नुकसान के दिलवाओ।’ वो तो नहीं मिला। 1950 से 32 रु. पेंशन मिली प्रतिमाह, बस। अब तो नेता सिर्फ वोट के लिए आते हैं।’ उन्हें आज की सरकार पर विश्वास तो नहीं है, पर समझौता कर लिया है। बोलीं, “सरकार ठीक है। गुंडे हैं पर कम से कम हमको मान्यता दे दी है। और गरीबी हटाने के लिए लगी हुई है।”

अपनी बेटी अन्नपूर्णा, जो 1941-42 गांधीवादी सत्याग्रहों के दौर में पैदा हुई थीं के बारे में सुंदरा देवी कहती हैं, “मैंने अपनी बेटी को पढ़ाया। किसी तरह उसे स्कूल भेजा। अब आजमगढ़ में नर्स है। उसकी बेटी जशोधरा पट्टी के पास गांव में ए.एन.एम. यानी नर्स है। पर जशोधरा का पति बेकार निकला। उसके दो बच्चे मैंने ले लिए, मैं पालती हूँ।”

लबेदा गांव में हम मिले राम अकबाल से। राम अकबाल के पिता अछैबर सिंह बाबा रामचंद्र के खास साथी थे। इस इलाके में लोग मानते हैं कि एक बार जवाहरलाल नेहरू थक गए थे और गांव की पतली सड़कों में कोई वाहन संभव न था, इसलिए अछैबर सिंह उन्हें अपने कंधों पर काफी कोस दूर तक ले गए थे। जग्गी ने समझाया, “जवाहरलाल नाजुक थे। उनके पांव थे कोमल। इसलिए अछैबर सिंह उन्हें सैफाबाद तक ले के चले थे।”

राम अकबाल के चेहरे पर चिंता की लकीरें बनी हुई हैं। साफ नजर आया कि वे गरीबी की जकड़न में हैं। अगला भोजन कहां और कब हासिल होगा, और बच्चों को क्या खिलाएंगे, मालूम नहीं। राम अकबाल की पत्नी हीरावती हैं, बेटे रमेश, सुभाष और अजीता सबने हमें प्यार से अपने छोटे से घर में रातभर रखा।

राम अकबाल ने अपने पिता अछैबर सिंह का ताम्रपत्र हमें दिखाया। ये सरकार की तरफ से दिया गया था। लिखा था, ‘स्मरणीय योगदान के लिए राष्ट्र द्वारा समर्पित’। और भी कुछ शब्द थे, परंतु उन्हें पढ़ना मुश्किल था, क्योंकि कागज पर दीमक लग चुकी थी।

एक गांव से दूसरे, खेत मैदान पर चलते हुए जग्गी ने गाना शुरू किया— ‘कठोर भूमि, कोमल पदगामी, सीता जी चली थीं।’ खुली हवा में जग्गी देवी की पतली सी आवाज छा गई। नंगे पांव कठोर भूमि पर वो चल रही थीं, आज भी।

बिसार गांव पहुंचे, सौ वर्षीय बुधनी देवी के घर। हमें देखते ही बुधनी चिल्लाने लगीं, मुझे ‘चोर’ समझकर। जग्गी ने बुधनी से बात की, मेरा परिचय दिया, फिर बुधनी शांत हो गई। पुरानी यादों में गोते लगाते हुए बोलीं, “कानपुर में एक बार गांधी मिला था। अच्छा आदमी था। इतना बड़ा सर था उसका, और खूब लंबी बाहें थीं। जवाहरलाल रुरे आए थे। मेरे माता पिता थे, और बहुत सारे लोग थे वहां। मैं भी थी वहां। और अब इंदिरा को उसी के आदमियों ने मार दिया है!”

जाहिर है बुधनी देवी राजनीति के दांवपेंच में आज भी रुचि लेती हैं। जानकारी रखती हैं। और, उनकी सोच भी मजबूत है। बोलीं, “जमींदारी में खटिया पर बैठे, तो जमींदार कहता, ‘खटिया पर कैसे बैठे हो तुम?’ जमींदार आम लूटकर ले जाते थे, ईख लूटकर ले जाते थे। अब

ऐसा नहीं है। पर फिर से जमींदारी आएगी! वही जमींदारी आएगी! बैल जोतकर रास्ते पे लगा दो, पर वो रास्ता छोड़कर चल दे, तो क्या करोगे?”

भावपुर में मिले सीताराम कुर्मी; थके मांड़े परेशान बुजुर्ग आदमी। अपने पिताजी प्रयाग के कागज निकालकर हमें एक सरकारी दस्तावेज दिखाया। उस पर लिखा था : ‘प्रयाग, पुत्र खेदू, जाति कुर्मी, निवासी बारी, थाना पट्टी, जिला प्रतापगढ़, कारागार में धारा 38(5)121, दिनांक 5.4.1941, कठोर कारावास और 50 रुपया जुर्माना। जिला कारागार, प्रतापगढ़।’

सीताराम कुर्मी ने बताया, “मेरे पिता तीन बार जेल गए थे— नैनी, प्रतापगढ़ और रायबरेली। जेल में हम मिलने जाते थे। कहां कहां भागे। हमारा घर बारी गांव में था, वहीं माता पिता रहते थे। वो सब कुड़की हो गया था। फिर वो सब कुड़क हो गया। बाद में कुछ वापस मिला।” सीताराम कुर्मी के बीवी बच्चे चुपचाप कमरे में खड़े बड़ी बड़ी आंखों से हमें देख रहे थे। शरीर पर चिथड़े पहने हुए, गरीबी भूख से पीड़ित बच्चे। स्वतंत्रता सेनानी की औलाद परंतु उस लड़ाई का उनकी जिंदगी के साथ कोई तालमेल नहीं था।

पहरा गांव में महंतलाल ने बताया कि आजादी की लड़ाई में उनके पिता भगवानदीन बहुत ही सक्रिय थे। पुलिस ने भगवानदीन को पकड़कर बहुत पीटा, हथकड़ी लगाई और जेल में बंद कर दिया। बाद में रिहा किया था। भगवानदीन गुजर चुके थे पर उनकी पत्नी (महंतलाल की मां) रामपति जीवित थीं। महंतलाल के पांच बेटे बेटियाँ थीं, और कमाई का कोई स्थायी साधन नहीं। जिसे जहां जब मिल जाए, खेत मजदूरी करता था।

पहरा गांव में ही केंदार मिले, स्वतंत्रता सेनानी प्रह्लादी के बेटे। केंदार ने अपने पिता का स्वतंत्रता सेनानी सर्टीफिकेट दिखाया। दिनांक 14.12.1942 को प्रह्लादी को इक्कीस महीने के कड़े कारावास की सजा मिली। उस समय केंदार छोटा सा बच्चा था। पिता ने देश के लिए कुर्बानी दी, सजा भोगी, परंतु बाद में ताम्रपत्र और छोटी सी पेंशन के अलावा आजादी का कोई फल नहीं चखने को मिला। केंदार और उनके बच्चे खेती करते हैं, पर जमीन से साल भर खाने लायक भी नहीं मिल पाता।

‘स्वतंत्रता सेनानी’ सर्टीफिकेट फटा मैला कागज पीला होता जा रहा है। उसका कोई अर्थ नहीं रह गया था। महंतलाल के कानों में आजादी शब्द खोखला गूंजता था।

उसी गांव में महादेव मिले— वृद्ध आदमी। जग्गी ने बताया, “इनके घर मीटिंग सभाएं हुआ करती थीं। पुलिस बाबा को ढूंढ़ रही थी, उस समय की बात है। पुलिस आती बाबा को पकड़ने, तो बाबा घर की बहुओं के संग बैठ जाते, घूंघट काढ़े। पुलिस उन्हें पकड़ नहीं पाती। फिर वो पीछे के रास्ते से निकल जाते!”

भावपुर में राम अवध मिले। उनके पिता राम भरोसा थे। राम भरोसा भी स्वतंत्रता सेनानी रहे थे। राम भरोसा बाबा रामचंद्र के साथ जुड़कर किसान आंदोलन में पत्रवाहक का काम करते थे। सभा मीटिंग होने का ऐलान करते थे।

जग्गी ने समझाया, “बाबा का कहना था कि कुछ आदमी जेल जाओ, कुछ बाहर रहकर काम करो। इनके पिता बाहर रहकर काम करने वालों में थे। कांग्रेस के काम में बहुत महत्त्व था उनका। कांग्रेस में रहे थे। अपने गांव के प्रधान थे। पांच गांव के प्रधान थे। कई साल इलाके के बाहर रहे थे— बंबई रहे, घूमते फिरते रहे। पर बाल बच्चे हमेशा गांव में ही रहे हैं।”

राम अवध के घर भी आर्थिक कष्ट साफ नजर आ रहा है। राम अवध बोले, आजादी के लिए लड़े थे बाबा, मेरे पिता। आजादी मिल गई!”

भावपुर के ही अलगू गड़रिया से मुलाकात हुई। उनके पुरखे ताल्लुकदार के घर में काम

किया करते थे। पंखा झेलने का काम, इसी तरह के 'छोटे' काम। अलगू के पिता थे राम स्वरूप गड़रिया। वो आंदोलन से जुड़े हुए थे, और सत्याग्रह के लिए प्रतापगढ़ गए। 'जेल भरो' में पकड़े गए, जेल की सजा काटी। 'आजादी की लड़ाई में ही शहीद हो गए', अलगू ने बताया।

मारपीट तथा जेल के कष्ट से राम स्वरूप गड़रिया कम उम्र में ही शहीद हो गए थे। अलगू ने अपने पिता का स्वतंत्रता सेनानी ताम्रपत्र हमें दिखाया। क्षीण हीन हालत में था कागज, पर संभालकर पोलिथीन पैकेट में रखा था। यह दूसरी बात है कि पैकेट पर धूल की मोटी परत जमी हुई थी।

अलगू गड़रिया भूमिहीन खेत मजदूर थे। पर उनका बेटा गांव के प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने जा रहा था।

पहरा गांव में उत्तरा देवी से मिले। उनकी सास थीं अभिलाखी देवी। अभिलाखी ने बताया कि अभिलाखी कंधे पर झोला टांगतीं, कांग्रेसी झंडा हाथ में थामतीं, और गांव गांव जाकर स्वराज का संदेशा पहुंचाती थीं। अतरौरा गांव में रहता था पूरा परिवार। दिनभर अभिलाखी निकल जाती थीं। पूरे इलाके में सब उन्हें जानते थे। उनको बाद में पेंशन भी मिली थी। उनके देहांत के बाद परिवार खेती से गुजारा करता रहा। उत्तरा देवी के पति भगवानदीन भी गुजर गए थे। ससुराल में कुछ न था, इसलिए उत्तरा देवी पांचों बच्चों को लेकर मायके आ गई थीं। मायका था पहरा गांव में। कमाई का जरिया केवल थोड़ी सी खेती थी। उसी के जरिये उत्तरा अपने बच्चों को पाल रही थीं। पांच बच्चों में एक बड़ा हो गया था, पर उसको कोई नौकरी नहीं मिल रही थी।

अभिलाखी के साथ तीन अन्य किसानिन आंदोलनकारियों के नाम अक्सर सुनने को मिले। ये औरतें भी अतरौरा गांव की थीं। इनके नाम थे संपाती, लाली और अमराजी देवी। चारों महिलाएं जबरदस्त कार्यकर्ता थीं। उनके सामने कोई भी टिक नहीं सकता था।

उस जमाने में इन औरतों की सक्रिय भागीदारी बहुत बड़ी बात थी। लड़कियों को घरेलू व खेत मजदूरी के काम में झोंक दिया जाता था। बाहर जाकर घूमना फिरना। मीटिंग सभा में भाग लेना आदमियों का काम माना जाता था। तब भी अभिलाखी, संपाती, लाली और अमराजी जैसी औरतों के चलते, ग्रामीण औरतों की नई छवि बनने लगी थी।

घरेलू छवि को न तोड़कर भी अनेक महिलाओं ने लड़ाई में अपना योगदान दिया। बिसार गांव में धनराजी ने बताया कि उनके घर मीटिंग सभा होती थी। उनकी सास पकाती खिलाती थीं। लड़ाई के लिए इस तरह उन्होंने बहुत किया। धनराजी अपनी सास की मदद करती थीं। मीटिंग में नहीं बैठती थीं, क्योंकि सामने बैठने में शरम लगती थी।

और बेहटा गांव के जग्गनाथ प्रधान ने बताया कि उनके पिता मीटिंग सभा में जाया करते थे। जग्गनाथ भी साथ में चला जाता था, पर जग्गनाथ की मां नहीं जाती थीं। बाबा रामचंद्र कभी कभी उनके घर आते थे; तब जरूर उनकी मां बाबा को अपने हाथ से गरम दूध पेश करती थीं।

tXxh [kqk!

मैं दाउदपुर कुंडा तीन बार गई। तीसरी यात्रा के दौरान, दिल्ली से प्रतापगढ़ पहुंचने के बाद वहां के जिलाधीश श्री एम. पांडे से मिलने उनके दफ्तर गई। मुलाकात व बातचीत हुई, दिल्ली से आई शोधकर्ता का उन्होंने स्वागत किया। जग्गी के गांव मुझे पहुंचाएंगे, यह आग्रह किया। बस व भाड़े की जीप का सफर मैं दो बार कर चुकी थी। इस बार सरकारी वाहन मेरे द्वार खड़ा

हो गया। रास्ते में पट्टी पड़ता है। सरकारी जीप पट्टी के तहसीलदार, श्री वर्मा के दफ्तर रुकी। जग्गी देवी को वो भी जानते ही थे। दाउदपुर कुंडा उनके घर पहले नहीं गए थे। वो भी उस जीप में मेरे साथ हो लिए।

दाउदपुर कुंडा में जग्गी देवी के घर पहुंचे तो मालूम हुआ कि वो तो दो दिन से बाहर गई हुई हैं। अब किसी भी समय वो लौट आएंगी, ये उम्मीद थी। तहसीलदार बोले, “सामाजिक कार्यकर्ता हैं, ये उनका काम है। वो लोगों से मिलती हुई, बात करती हुई आयेंगी। जग्गी माता के लिए किस बात की जल्दी है।”

कुछ देर बाद तहसीलदार चले गए। गुरमिलन ने पिछले साल का किस्सा बखान किया। जब जग्गी तहसीलदार साहब से बहुत नाराज हो गई थीं, मिलने गई थीं। जैसे कई बार जाया करती थीं; गांव की कुछ समस्या उनके समक्ष पहुंचाने। चाय मंगाई गई जग्गी के लिए। फिर पूछा, क्या दिक्कत है? जरूरत हो तो बैंक से चार हजार रुपये निकालकर मैं आपको दे दूँ। इस बात पर जग्गी बहुत नाराज हुईं। बोली क्या तुम्हारा निजी खजाना है? कहां से निकालोगे ये पैसा? तहसीलदार हो यानी जनता के नौकर। इतना गुस्सा थीं कि बिना चाय पिए तहसीलदार के दफ्तर से निकल आईं।

जग्गी के लिए इंतजार करने के दौरान ही गुरमिलन पेड़ से ताजा पपीता तोड़कर ले आया, ध्यान से काटा और फांके परोसे। खातिरदारी के साथ बातों की कड़ी भी बनाये रखी। कुछ देर बाद जग्गी घर पहुंच गईं। तहसीलदार की जीप में। रास्ते में जग्गी मिल गई थीं, जीतलाल की साइकिल पर तो तहसीलदार ने उन्हें जीप से भेज दिया। मुझे देखते ही बोलीं, “तहसील में सब हैरान हैं, पूछ रहे हैं ये कौन लड़की आई है दिल्ली से जिसकी खातिर तहसीलदार ने अपना काम कचहरी छोड़ दिया और गांव गांव भटक रहा है? तुम्हारा सही स्वागत हुआ है। हम बहुत खुश हैं। तुम अकेली आई हो। अगर कुछ तुम्हारे साथ हो जाता तो हम पांच मिनट में राजीव गांधी के आगे जाकर जुलुस निकालते। सारा जिला उल्टा कर देते। पर तुम्हारा प्रतापगढ़ में सही स्वागत हुआ है। जिलाधीश ने तुम्हारा स्वागत किया, तहसीलदार ने तुम्हारा स्वागत किया। तहसीलदार ने मुझे भी अपनी जीप भेजी, कहकर कि तुम्हारे घर पर एक लड़की बैठी है। परेशान हो रही होगी। जल्दी जाओ।”

जग्गी खूब गर्व महसूस कर रही थीं। खुशी खुशी बोलीं— “जीतलाल अब हम न जाएंगे तुम्हारी साइकिल पर। अब हम जीप से ही सफर करेंगे!”

जीतलाल के घर होती आई थीं जग्गी, क्योंकि जीतलाल के मां पिता घबरा रहे थे कि कहां गया हमारा बेटा? अब उन्हें चैन आ गया है। बोले कि आपके साथ है, तो ठीक है।

देवसरा में एक वकील के पास गई थीं जग्गी। वकील से रेलवे पास बनवाने में मदद चाहिए थी। उसने कहा कि कुछ दिनों में बनवा देगा। फिर अपने गांव में प्रधान से जग्गी मिली थीं। प्रधान ने वादा किया कि गौशाला और एक गांधी भंडार के लिए जग्गी को बीस बीघा जमीन दिलवाएगा। पट्टी में तहसीलदार के दफ्तर जाकर अपनी पेंशन भी लाई थीं जग्गी। गुरमिलन के पास वो थोड़ी सी रकम फेंकती हुई बोलीं, “मैं नहीं रखूंगी यह खजाना।” उस रात घर में न चावल था न नमक। जीतलाल गया साइकिल पर, जरूरी सामान लाने। तभी गांव से एक गरीब पड़ोसन आईं, फटेहाल, थोड़ी सी नमक की गुजारिश की। जग्गी ने गुरमिलन को आदेश किया कि चुटकीभर नमक भी हो तो उस पड़ोसन को दे दो।

“हमारे हिस्से की आजादी कहां है?”

उस रात लालटेन की रोशनी तले, जग्गी बोलीं, “हम लड़े थे गोरे लोगों के खिलाफ। उन्हें

अपने देश वापस जाने को कहा था। हम भारत के बच्चे हैं और हम यहां अपने मन से फूल उगाएंगे, इज्जत के साथ। वो थे भाषण के दिन, लोगों को नींद से जगाने के दिन। हमने आजादी जीत ली। अब कहाँ है हमारा हिस्सा? हमारे हिस्से की आजादी कहाँ है? आज गरीबी है, जातिवाद, लड़ाई और चोरी चकारी। इसके लिए आजादी की लड़ाई लड़ी थी हमने?”

रात के खाने के समय जग्गी ने चर्चा शुरू की राजनीति के बारे में। राजनीति में ईमानदारी और इंसाफ की जरूरत— अनेक राजनैतिक दलों की सोच— धार्मिक सांप्रदायिकता और धर्म। रात को अपनी खटिया पर लेटकर देश और देश सेवा पर अपने विचार रखने लगीं, फिर एक सुंदर भजन गाया। ऊंची, भावना से भीगे स्वर में वो गाती रहीं— ‘सीता बिसेस दुख में रहिन’ लालटेन की लौ कभी धीमी तो कभी तेज, उसी तरह जग्गी की आवाज कभी ऊंची तो कभी धीमी होती गई— फिर नींद आ गई। भोर तक सारी दिशाओं में छा गया सन्नाटा!

tXxh ekrk tXxh usk

“उठो! जागो!” जग्गी का स्वर सुबह की रोशनी में लहराया— “सोते रहेंगे तो आजादी हासिल नहीं होगी! आलस से आजादी नहीं मिलेगी! आजादी के लिए मेहनत करनी होगी! उठो, उठो!”

nkmnij % 1989 % l qg l ojs

चिड़ियों की चहचहाहट के साथ जग्गी उठीं। छोटी सी झोपड़ी के परे, पीले चमकते सरसों के खेत के परे, लाल सूरज उग रहा था। सुबह के शांत आलम में उनका स्वर गूंज उठा। गुरमिलन तो पहले ही जाग उठे थे, और आग जलाने के लिए लकड़ी काट रहे थे।

कमरे के कोने में मैंें जग गई, हैरान! मिट्टी की दीवारों वाले कमरे में अभी अंधेरा था। छन छनकर रोशनी की पहली किरणें बस झांकने ही लगी थीं। जग्गी की आवाज में रोब था। एक आध दिन पहले मुझसे बोली थीं, “अभी भी हमारे बहुत सिपाही हैं।” जग्गी आजादी की लड़ाई में जुटी हुई थीं— आज भी। आजादी की लड़ाई जारी थी। चुपचाप, आत्म विश्वासी व संतुष्ट जग्गी। गुरमिलन अपने रोजमर्रा के काम में जुट चुके थे— गाय के लिए चारा इकट्ठा करना, ईंधन की लकड़ी तैयार करके आग जलाना। लल्ली सब्जी के लिए मसाला पीसने लगी थीं। छोटे से खेत से तोड़कर ताजा मटर पीसकर ‘निमोना’ बनाएंगी, आटा गूंथकर रोटी पकाएंगी। जग्गी इस सबकी देखरेख कर रही थीं। हर चीज पर उनकी नजर और साथ में लगातार उनका बोलना। सबका ध्यान रख रही थीं वो। सब पर उनकी ममता भरी नजर थी। आंखों में चमक, आंखें जो सब कुछ देख रही थीं। चारों तरफ जग्गी की तेज दृष्टि बरकरार थी— इतने बरसों में क्या कुछ देख चुकने के बाद भी!

“पर वो तो पागल हो गई हैं!”

प्रतापगढ़ जिले में कई लोगों की धारणा थी कि जग्गी अब अपने होश खो बैठी हैं। जिलाधीश श्री बी.एन. पांडे ने मुझसे कहा, “जग्गी माता?” उनको सब जानते हैं। पर वो तो पागल हो गई है!”

जग्गी अपने में निराली थीं। अजीब हरकतें करती थीं— जैसे सुबह सवेरे उठते ही आजादी का राग अलापने लगना। उनके जिस्म से एक विचित्र जुनून की महक चारों ओर फैल जाती थी। चूंकि रोजमर्रा की जिंदगी में यह जुनून कुछ अटपटा लगता था, लोग मानने लगे कि वो मानसिक रूप से असंतुलित होंगी। परंतु उन्हें इस तरह से लेबल कर देना नाइंसाफी थी। असल में उनकी टिप्पणियां, उनकी सोच व उनकी जिद आज के उच्च वर्ग को पचती नहीं थी। ‘आजाद भारत’

का उनका विश्लेषण इतना सटीक था कि आधुनिक शासक वर्ग असमंजस में पड़ गया। जग्गी को नकारना जरूरी हो गया— नहीं तो अपना सोच और रवैया पूर्णतः परिवर्तित करना पड़ता।

कभी कभी जग्गी लगातार बोलती थीं— लगता था कि बेमतलब, निरर्थक शब्दों की बौछार हो रही है! पर ध्यान से सुनने पर अर्थ स्पष्ट चमकने लगता था। उनके 'पागलपल' में वीर रस घुला हुआ था। उनके लगातार बतियाने के पीछे मकसद था लोगों को जागरूक व सचेत करना। उनकी प्रतिबद्धता व पारदर्शिता सचमुच सराहनीय थी।

जग्गी बतियाती थीं तो एक विषय पर : आजादी। यही उनके जुनून का केंद्रबिंदु था। उनके अधिसंख्य साथी गुजर चुके थे— या निराशा में डूबे हुए थे। पर वो अथक संघर्ष में जुटी हुई थीं। अपने अनोखे अंदाज में जग्गी आजादी पर प्रवचन देती थीं— आजादी का अर्थ, देश के लिए उसका महत्त्व। गांव, किसानों, औरतों के लिए आजादी के मायने— हर देशवासी के लिए! अगर वो कभी बौखला जातीं, या गुस्से में दनदनातीं तो उसका कारण होता उनके आदर्शों व दुनिया की असलियतों के बीच की गहरी खाई।

रेडियो, अखबार या टेलीविजन उन्हें उपलब्ध नहीं थे। दुनिया से उनका नाता आमने सामने वार्तालाप तक सीमित था। बावजूद इसके, उनका सरोकार व्यापक दुनिया से था; सार्वजनिक राजनैतिक और आर्थिक मसलों से जुझती थीं वो।

जग्गी नाराज थीं— बहुत नाराज। उनके अंतर में प्रश्नों और चुनौतियों का तूफान उमड़ता था। खून खौल उठता था। इतिहास गढ़ने में उनका हाथ रहा था : वो ये जानती थीं, और इस बात की कदर करती थीं। परंतु देश के अन्य लोग ऐसे तथ्यों को भूल बैठे थे। कुछ ही लोग अब सोचते थे कि आजादी कैसे हासिल हुई। ज्यादातर इस दुर्लभ आजादी को बरबादी में तब्दील करने में लगे हुए थे! क्या इसी के लिए जग्गी व उनके साथियों ने कुर्बानियां दी थीं?

“जमींदारों के अत्याचारों से छुटकारा पाने के लिए लड़े थे हम।” याद कराती हैं जग्गी। जमींदारी प्रथा नाम के लिए खत्म कर दी गई, किंतु जमीन का बंटवारा अभी भी असमान था, और मजदूरों का शोषण बरकरार। महिला उत्पीड़न पर वो बेहद चिंतित थीं, और इस उत्पीड़न को खत्म करने की लड़ाई में शामिल। पर वो जानती थीं कि औरतों का आज भी शोषण हो रहा है। मुझसे बोलीं, “जमाना खराब है। रावण ने सीता जी को हरा था। उस तरह अगर कोई तुम्हें उठा ले जाता, तो पूरे जिले को पलट देती मैं!”

जग्गी ने याद दिलाया— “हम स्कूलों के लिए लड़े थे।” परंतु उनके चारों ओर अधिकतर लड़के लड़कियां या तो स्कूल गए ही नहीं थे, या दो चार साल में स्कूल छोड़ चुके थे। पढ़ना लिखना तक नहीं सीख पाए थे। इन स्कूलों से नाराज थीं जग्गी : “हम बहुत नाराज हैं इन स्कूलों में जाने वाले लड़कों से। वे कौवों की तरह कांव कांव करते रहते हैं। न दिमाग है और न कुछ समझते हैं। अपने मां बाप का पैसा खर्च करते हैं— होटल में बैठकर चाय पीते रहते हैं। कहां से आएगा पैसा इस मटरगश्ती के लिए? मुझपर हंसते हैं, कहते हैं मैं पागल हूं!”

जग्गी को लगता था कि उनके साथ धोखा हुआ है— नहीं, उनके सपनों के साथ, उनके आदर्शों के साथ विश्वासघात! उनकी सोच संघर्ष की लौ में विकसित हुई थी; उनका व्यक्तित्व संघर्ष के सांचे में ढला था। सार्वजनिक खुशहाली व इज्जत के लिए प्रतिबद्ध थे उनके बुजुर्ग व उनके संगी साथी। शोषण से मुक्ति के लिए लड़े थे वे और मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। सभी को रोटी, कपड़ा मकान हासिल हो, और मेहनत की कमाई मिले। सब बच्चों को शिक्षा का अवसर मिले; समानता का राज हो; ये लक्ष्य थे इन जुझारू कर्मठ किसान आंदोलनकारियों के।

आंदोलन के बिखरने के साथ उसमें निहित कई संभावनाएं भी लुप्त हो गईं। मूलभूत सामाजिक बदलाव के बीज गीली मिट्टी न पाकर जहां के तहां रह गए। किंतु जग्गी अटल रहीं। जो बीज बचपन में उनके अंदर अंकुरित हो गए थे वो फले फूले। मजबूत वृक्ष की भांति वो एक जगह पर खड़ी रहीं, अटूट आस्था के साथ। उनके कदम डगमगाए नहीं। न उन्होंने आशा त्यागी। व्यक्तिगत और सामाजिक राजनैतिक तत्व उनके जीवन में घुल मिलकर एक हो गए थे। परंपरा से अलग उनकी अनोखी सोच इस द्विस्तरीय संदर्भ में ही समझी जा सकती है।

जग्गी से मिलने के बाद मुझे मालूम था कि इनके बारे में मैं लिखूंगी— जरूर लिखूंगी। किंतु चाहती थी उनसे एक बार और मिलना— कुछ प्रश्नों को आगे टटोलना। परंतु मेरी जिंदगी में ऐसी घटनाएं घटीं कि अगले तीन वर्षों के दौरान मैं उनसे न मिल पाई। जो पत्र लिखे उनका जवाब नहीं मिला, संभवतः उन तक पत्र पहुंचे ही नहीं। अंततः जब कुछ भरोसेमंद सूत्रों द्वारा प्रतापगढ़ से उनकी जानकारी उपलब्ध हुई, तब ज्ञात हुआ कि वे इस दुनिया से चल बसी हैं। उनकी मृत्यु थी महीन धागे का कट जाना— पक्का धागा, घरेलू चरखे में काता हुआ— धागा जिसने हमें एक रोमांचक इतिहास से जोड़े रखा था।

दणितु %bfrgkl dsbnfxnl

प्रतापगढ़ में उन्हें 'जग्गी माता' नाम से संबोधित किया जाता था। सब जानते थे उनको; गरीब किसान से लेकर ऊंची कुर्सीवाले जिलाधीश व राजनैतिक नेता तक। यदि स्थानीय तौर पर वो इतनी जानीमानी व लोकप्रिय थीं, तो व्यापक स्तर पर उनकी उपेक्षा क्यों? क्या उनका महत्त्व केवल एक इलाके के दायरों तक ही सीमित था?

'भारतीय' इतिहास में शामिल होना चाहिए जग्गी देवी जैसे इन्सानों का इतिहास, और उस आंदोलन का इतिहास जिनमें उन्होंने भागीदारी निभाई। ये इतिहास स्थानीय इलाकों के लोगों की धरोहर भी है। जग्गी को कभी कभी दुख होता था सबसे कीमती धरोहर खो देने पर। आजादी की लड़ाई से संबंधित कागज व दस्तावेजों के ढेर। उन दस्तावेजों के संरक्षक की भूमिका उन्होंने कई वर्षों तक निभाई। उन पुराने दस्तावेजों के सहारे उन्हें पुराने आंदोलन के दिनों से एक ठोस जुड़ाव महसूस होता था। जब दस्तावेज उनकी हिफाजत से दिल्ली चले गए, तब उनकी जगह सिर्फ यादें रह गईं। इतिहासकारों को वो दस्तावेज दे दिए उन्होंने, भरोसा करके कि दिल्ली में कोई न कोई उन आंदोलनों का सही इतिहास लिख डालेगा।

वो दस्तावेज उनके सामने से ओझल हो गए, और न ही कोई लिखा लिखाया इतिहास उनके पास आया। जीती जागती याददाश्त के प्रतीक उनके पास रहे ही नहीं। उन्हें चाहिए था अपने हाथ में अपना व पूरे आंदोलन का लिखित इतिहास; जिसे आसपास के लोगों के साथ बांट पाएं। ऐसी पुस्तक जो उनकी भाषा में हो, उनके संदर्भ व संघर्ष समझकर औरों तक पहुंचाए। उनसे संबंधित दस्तावेज दूर 'वातानुकूलित' जगह रखे गए जहां आम लोगों की पहुंच ही नहीं होती। जग्गी कई बार नाराज होतीं क्योंकि उनके लिए यह भी एक और दर्द का विषय था। इस तरह के दस्तावेज व इनपर आधारित इतिहास असल में स्थानीय इलाके में भी उपलब्ध होने चाहिए, जिससे साधारण लोगों की ऐतिहासिक समझ व्यापक और गहरी बन पाए, चूंकि व्यापक इतिहास में शामिल हैं जगह जगह पर स्थित अनेक व्यक्तियों के अलग अलग, अपने अपने इतिहास।

जग्गी देवी को धन्यवाद! उन्होंने मुझसे जो बांटा वही आधार है इस पुस्तक का। इतिहास व इन्सान के बारे में कीमती सीख दी थी उन्होंने। याद करती हूँ चमकती आंखों वाली जग्गी के बोल— “बाबा कलम द्वारा लड़े थे।” लेखन की ओर मुझे खींचती हैं जग्गी— “तुम्हारे पास ज्ञान है। तुम सारी दुनिया के बच्चे हो।”

गुरमिलन व लल्ली ने दाउदपुर कुंडा में, और दिव्या व आलोक भारती ने प्रतापगढ़ शहर में मुझे प्यार से रखा— घर से दूर एक घर की तरह जग्गी के बारे में जानने का मेरा मकसद समझते हुए, जी जान से मुझे सहयोग दिया।

प्रतापगढ़ जिले में घूमते हुए सुंदरा देवी मिलीं। और मिले राम अकबाल, राम अवध, राम बहादुर सिंह, बुधनी देवी, केदार व अन्य कई ग्रामीण साथी। सभी ने बेहद सहृदयता से अपनी बातें व यादें बांटीं, दिल खोलकर सहयोग किया। प्रतापगढ़ के जिलाधीश व पट्टी के तहसीलदार ने भी अपना समय व विचार बांटे। इन सभी की शुक्रगुजार हूँ मैं।

प्रवीण कुमार ने कई तस्वीरें लीं, जब एक मर्तबा मेरे साथ वो जग्गी के गांव आए। इन तस्वीरों के लिए धन्यवाद। ये तस्वीरें कुछ खास हैं, क्योंकि कुछ हद तक जग्गी का जादू इनमें से झलकता है।

धन्यवाद बेटी सुनंदिता को, व मां प्रीतवंती मेहरोत्रा और पिताजी राम नारायण मेहरोत्रा को। मां पिता ने ही पहले पहल सिखाया मुझे शब्दों, लेखन, पुस्तकों, व इन्सानों का महत्व आंकना। जग्गी तक मैं पहुंची कुछ आजाद, कुछ जिद्दी स्वभाव लेकर— इस कारण जग्गी देवी जैसी आजाद आत्मा से संबंध जोड़ना संभव हो पाया।

, d jktk Fkk tks | hrkQy | sMjrk Fkk

i dh.k dϕkj

dgrs हैं कि उस राजा के नगर जैसा नगर दसों दिशा, आठों कोण और चौदहों भुवन में कहीं नहीं था। उस राजा के शासन में रातभर धूप खिली रहती थी। रात में धूप इतनी खिली रहती कि छाया का नामोनिशान नहीं मिलता। दिन के उजाले में कभी कोई छाया दिख भी जाती पर रात में तो वह ढूँढ़े भी नहीं मिलती। लोग हमेशा ही काम करते हुए मिलते। जिसका जो भी पेशा रहता वह उसमें अथक जुनून से डूबा रहता। तमाम तरह की दुकानें आठों पहर खुली रहतीं। बहुत दूर दूर के व्यापारी व्यापार करने आते और बेशकीमती चीजें खरीदते बेचते। यहां तक कि जिन्हें अजीबोगरीब चीजों की खरीद फरोख्त करनी होती वे भी चुपचाप अपना काम बड़ी शालीनता से कर जाते, कभी कोई शोरगुल नहीं सुना गया। बाजार हमेशा गुलजार रहता था। व्यापारियों के साथ साथ देश विदेश के जादूगर, नर्तक, कलाकार, करतबबाज, आतिशबाज और मसखरे आते और लोगों का भरपूर मनोरंजन करते रहते। आतिशबाजियां अक्सर औचक होती रहतीं। उस राज्य में कला और संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ था। लोग उस दौर को कला और संगीत का स्वर्णयुग कहते। सितारवादन का तो चरम विकास हुआ था। नगर के किसी भी सितारवादक से कोई भी बाहरी मुकाबला नहीं कर सकता था। घर घर में सितार था। गंधर्व कुमार इस नगर के सबसे बड़े सितारवादक थे। यह उन्हीं की ख्याति का परिणाम था कि सितार एक उद्योग में तब्दील हो गया था। बहुत दूर दूर के सौदागर इसे खरीदने आते। प्रजा खूब मनोरंजन प्रिय थी। लोग कहते हैं कि उस नगर की प्रजा के सुख का मुकाबला समस्त भूमंडल की सभ्यताएं एक साथ मिलकर भी नहीं कर सकती थीं।

क्योंकि राजा भी मन से प्रजाप्रिय थे, और हों भी क्यों न? कई दशकों से वे इस नगर पर निष्कंट शासन करते आए थे। राजा ने प्रजा का और प्रजा ने राजा का कई कई बार अग्नि

परीक्षाओं में साथ दिया था। आज यह नगर जिस ऐश्वर्य से जगमग कर रहा था उसके पीछे राजा का ही अथक परिश्रम रहा जिसकी साक्षी खुद प्रजा थी। नहीं तो विरासत में राजा को मिला ही क्या था? एक टूटाफूटा जर्जर और असुरक्षित राज्य!! राजा ने अपनी जवानी में सत्ता संभालते ही आमूलचूल परिवर्तन शुरू कर दिया था। उन्होंने कई साल तक दिनरात मेहनत की और देखते ही देखते यह समूचा 'राज्य' एक आलीशान 'नगर' में बदल गया। कालांतर में 'राज्य' जैसे धिसेपिटे शब्द को शब्दकोश से बाहर फेंक दिया गया और उसके समांतर 'नगर' जैसे चमकदार और जोशीले शब्द ने जगह बना ली। अब इस राज्य को कोई राज्य नहीं कहता, सब इसे नगर कहते हैं। इस नगर का पुराना नाम वर्तुल था।

वर्तुल के इस राजा की अथक मेहनत और प्रजाप्रियता के किस्से दूर दूर तक यश फैला रहे थे। हाल ही में राजा ने 'प्रजाप्रिय' की उपाधि धारण की थी। समूचे नगर में डुगडुगी पिटवा कर यह राजकीय घोषणा कर दी गई थी कि अब भविष्य में राजा जी को केवल 'प्रजाप्रिय' के नाम से पुकारा जाएगा। घोषणा में इस बात की ताकीद भी की गई कि जो भी प्रजाप्रिय को राजा, महाराजा, राजाधिराज, भूमिपति, अधिपति या अन्य किसी नाम से पुकारेगा वह महादंड का भागी बनेगा। उस राज्य में बस एक ही चीज कठोर थी— महादंड। सामान्य दंडों का वहां कोई प्रावधान न था। किसी भी प्रकार के अपराध का एकमात्र दंड बस यही था। न्यायप्रिय राजा औचक नगर भ्रमण किया करते। ऐसा वे कई दशकों से करते आ रहे थे। राजा के बारे में यह बात सरेआम थी कि वह ना थकते हैं और ना सोते हैं। प्रायः प्रजा राजा के औचक नगर भ्रमण की बाट जोहती थी। बाट जोहने की एक और बड़ी वजह थी। वैसे यह वजह बहुत जानी हुई और राजा की युवा अवस्था से चली आ रही थी।

इसकी भी एक कहानी है। तब नगर के हालात आज की तरह रोशन ना थे। कई वर्षों का अकाल पड़ा था, देखते देखते एक बड़ी आबादी को काल निगल गया। खाद्यान्न का संकट गहराता गया, कर्मचारियों की तनखाह महीनों रुकी रही, नागरिकों तक में भ्रष्ट आचरण इतना बलवान हो गया कि आज कोई उसकी चर्चा भी नहीं करना चाहेगा। और ऐसे कठिन समय में पुराने राजा का हृदयाघात हो गया। तब प्रजाप्रिय ने गद्दी संभाली। उन्होंने खूब मेहनत की। कुछ अरसा बीता तो तमाम तरह के संकटों को झेलते हुए राज्य की गाड़ी कुछ पटरी पर लौटने लगी। पर हालात पूरी तरह नहीं सुधरे। प्रजा की दरिद्रता सुरसा का मुंह बनी हुई थी। इसी बीच दूर दूर के व्यापारी जत्थे के जत्थे राजा से मिलते रहते। कई कई पहर तक मंत्रणा चलती। कुछ बड़े व्यापारियों और श्रेष्ठियों ने राजा की व्यक्तिगत मदद की। कुछ ने राजकोषीय घाटा कम करने में सहयोग दिया। बदले में राजा ने उनमें से चुनिंदा व्यापारियों के लिए 'राज्य' का पश्चिमी द्वार आंशिक रूप से मामूली कराधान के साथ खोल दिया। तब भी राज्य 'नगर' का रूप नहीं ले रहा था। आखिरकार प्रजाप्रिय ने एक दिन बड़े बड़े देशी विदेशी व्यापारियों की एक महा बैठक की घोषणा की। बैठक एक मास तक चली। इसी दौरान प्रजाप्रिय दो बार दूर देश की यात्रा भी कर आए और फिर बैठक की। वह बैठक भी कई दिनों तक चली। उस मंत्रणा के बारे में आजतक कोई कुछ भी नहीं जान पाया। प्रजा को इस दौरान बस यही बताया जा रहा था कि कुछ ऐसा बदलेगा जो इतिहास में कभी संभव नहीं हुआ था। इससे ज्यादा प्रजा कुछ नहीं जान पाई सिवाय इसके कि उस मंत्रणा के तुरत बाद राजमहल में सूर्य उपासना के लिए इक्कीस दिन का अनुष्ठान किया गया और बाईसवें दिन सूर्य को राष्ट्र देवता घोषित करते हुए उसकी पूजा प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य कर दी गई।

इसी बीच प्रजा ने अचानक एक दिन सैकड़ों डुगडुगियों की आवाज सुनी, आवाज

राजमहल के मुख्य द्वार से आ रही थी— “सुनो सुनो सुनो...प्रजाप्रिय ने एक सपना देखा है.. सुनो सुनो सुनो!!” उस घोषणा में राजा द्वारा देखे गए स्वप्न और उस स्वप्न पर कुलगुरु वादीक की व्याख्या अब तो प्रजा को जुबानी याद है। कहा जाता है कि राजा ने सपने में एक बहुत ही काले आदमी को देखा जिसके हाथ में वज्र था और वह राजा के सीने पर पांव रखकर बार बार चीख रहा था ‘तीन द्वार...तीन द्वार...तीन द्वार’। जब राजा घबराकर स्वप्न से जगे तो तुरत कुलगुरु वादीक को बुलाया और सपने का रहस्य पूछा। कुलगुरु ने बहुत सोचने के बाद बताया कि इस राज्य पर शनि का प्रकोप था। शनि ने यहां सात साल राज किया है, बस अब छः माह बच गए हैं। साढ़ेसाती पूरी होने वाली है, अतः शनि अब राज्य छोड़ना चाहते हैं। लेकिन जिन दरवाजों से उन्हें जाना है वह बंद पड़ा है, इसलिए राज्य के शेष तीनों सिंहद्वार भी खोलने होंगे। देखते देखते पूर्व, उत्तर और दक्षिण तीनों दिशाओं के दरवाजे पूर्णतः खोल दिए गए। पश्चिमी द्वार आंशिक रूप से बहुत पहले ही खुल गया था, अब वह पूर्णतः खोल दिया गया। लोगों का मानना है कि जाते जाते शनि ने फिर राजा को स्वप्न दिखाया— “जा! तू और तेरी प्रजा दिन और रात के भेद से मुक्त होंगे, सूर्य अनुष्ठान कर!!”

फिर वह इक्कीस दिन वाला अनुष्ठान हुआ था जिसका रहस्य नागरिक बाद में जान पाए और उन्होंने मन ही मन राजा के दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया। इधर स्वप्न की बहुत सारी बातें धीरे धीरे सच सिद्ध होने लगीं। चारों सिंहद्वारों के खुल जाने से एक और फायदा हुआ— वहां से जत्थे के जत्थे व्यापारी आने लगे। वे इधर व्यापार करते और उधर से निकल जाते। उनकी रोकटोक की मनाही थी। ऐसे में बस नगर की सुरक्षा के लिए प्रहरियों की संख्या दुगुनी कर दी गई। देखते देखते राज्य रंगबिरंगे सामान और व्यापारियों से भरने लगा। हाट बाजारों की रोशनी से नगर जगमग करने लगा। फिर भी राजा को ये रोशनियां संतुष्ट ना कर पाईं। आधी रात होते होते शहर की सारी रोशनियां मंद पड़ जातीं और नगर थककर सो जाता। पूरी रात प्रहरियों के सिवाय केवल प्रजाप्रिय जगे रहते। उनके बेचैन पैरों की आहट रात के सन्नाटे में पूरे राजमहल में सुनी जाती। वैसे तो वे कभी नहीं थकते सोते थे पर रात के सन्नाटे में उनकी बेचैन पदचापों की ध्वनियां हालफिलहाल में बहुत बढ़ गई थीं। उन्हें किसी चीज का बेसब्री से इंतजार था। वह घड़ी बहुत पास आती जा रही थी। वे उस क्षण के इंतजार में थे जब पूरा नगर ही नहीं ब्रह्मांड हतप्रभ होने वाला था। कई महीनों तक चली उनकी साधना सफल होनेवाली थी, बस नागरिक मन से सूर्य उपासना करते रहें। शनि का दिया हुआ वरदान खाली नहीं जा सकता था।

ipkx eafLFkr | wZ

और एक रात सैकड़ों शंखनादों के बीच हजारों सूरज वर्तुल के आसमान पर उग आए। प्रजाप्रिय की साधना सफल हुई। कहते हैं कि उन रोशनियों से यम, देवता, दानव, मानव, राक्षस, किन्नर और पशु पक्षी सब के सब चकित हो गए। प्रजाप्रिय ने एक जयघोष के साथ खुद उन सूर्यों की सांकेतिक परिक्रमा की। रोशनियों ने दिन और रात के सारे भेद मिटा डाले। घर घर में शनि और सूर्य की मूर्तियां स्थापित होने लगीं, उनके नाम पर यज्ञ होने लगे। अब नगर की प्रजा अंधेरे के मातहत नहीं थी। व्यापार चौगुनी गति से फलने लगा। दूर दूर के व्यापारी अपने अपने राज्यों से दिन में चलते या रात में, इस नगर में वे हमेशा उजाला पाते थे। इस दौरान बस एक ही दुखद घटना घटी— कुलगुरु वादीक नहीं रहे। प्रजा के कल्याण हेतु उन्होंने शनि को अपने

प्राणों की बलि चढ़ा दी। कहते हैं कि राजा नहीं चाहते थे कि कुलगुरु यह काम करें। प्रजाप्रिय ने बहुत मिन्नत भी की थी पर कुलगुरु नहीं माने। बोले कि 'बलि के लिए शुद्धता चाहिए, नहीं तो शनि लौट भी सकते हैं।' प्रजा के कल्याण हेतु एक महात्मा ने खुद की बलि दे दी। प्रजा ने वादीक को प्रजा पिता का दर्जा दिया। शोकाकुल प्रजाप्रिय ने इक्कीस दिन का उपवास रख लिया।

फिर भी प्रजाप्रिय की परीक्षा थी कि खत्म होने का नाम ही नहीं ले रही थी। भाग्यदेवी ने उनके हिस्से में नींद पहले ही नहीं लिख रखी थी ऊपर से नगर में नित नई समस्याएं उठ जातीं। कहते हैं कि जब नगर में रात और दिन का भेद खत्म हुआ तो प्रजा में खुशी की लहर दौड़ गई। पर कई बार कुछ मूर्ख नागरिकों ने दिन को रात और रात को दिन कहना शुरू कर दिया। प्रजाप्रिय ने महादंड के भय का उपयोग किए बिना ही इस विपत्ति का नाश तो करवा दिया पर असली चुनौती प्रकृति से थी। इसकी वजह से सोने और जागने का एक संकट अब भी बना हुआ था। पशु और पक्षी अपनी नैसर्गिक हरकतों से रात और दिन का भेद बनाये रहते थे। इससे व्यापार में बाधा आती। कुछ दुकानें बंद हो जातीं तो कुछ खुली रहतीं। बाहर के कई व्यापारी जल्दी में होते और बंद दुकानों से निराश होकर लौट जाते। प्रजाप्रिय ने एक राजकीय निर्देश जारी कर दुकानों को हमेशा के लिए खुला रखने का आदेश दे डाला। यह बात सभी जानते थे कि प्रजाप्रिय ना थकते थे और ना सोते थे। इस बात का एक हल्का नैतिक दबाव प्रजा के सिर पर हमेशा बना रहता था इसलिए प्रजा ने इस निर्देश को सहर्ष स्वीकार किया। वर्तुल में सोने की मनाही नहीं थी, जब जिसे जहां नींद आती वह रोशनीयों के बीच कहीं भी आंख पर पट्टी बांधकर सो जाता था। वैसे भी यहां की प्रजा अब कम ही सोती थी, उसे जब नींद आती थी तब वह मनोरंजन में शामिल हो जाती थी या मेला चली जाती थी जहां जादूगरी और करतबबाजी जैसी चीजें होती रहती थीं। उनके विशेष आकर्षण का केंद्र मसखरे और भांड होते। प्रजा मनोरंजन करती और जगी रहती। आराम को उस नगर में अब थोड़ी हिंकारत की नजर से देखा जाने लगा था। यहां तक कि यहां आनेवाले व्यापारी भी आराम करने और सोने से भरसक परहेज करते। लेकिन नैसर्गिक आदतें जल्दी नहीं बदलतीं। दिन और रात के भेद से पशु रंभाने लगते और पक्षियों के चहचह से आसमान गूंज उठता। इसका असर निःसंदेह प्रजा और व्यापार पर पड़ता रहता। तब प्रजाप्रिय ने जन कल्याण हेतु हृदय कठोर करके दो बड़ी घोषणाएं कीं। इन घोषणाओं के पहले राजमहल में एक दिव्य शांति अनुष्ठान किया गया और दसों विकारों की काल्पनिक बलि दी गई। कहते हैं कि इस बलि के अगले पहर दूर देश के सैकड़ों व्यापारी जत्थे के जत्थे नगर में प्रवेश कर गए।

njvly हुआ यह था कि व्यापारियों और श्रेष्ठियों ने प्रजाप्रिय के आग्रह पर दूर देश से कुछ ऐसी औषधियां मंगवाई जिन्हें पिलाने से पशुओं की आवाज ही खत्म हो जाती थी। औषधि महंगी थी परंतु प्रजा कल्याण जहां लक्ष्य हो वहां राजकोपीय घाटा नहीं देखा जाता और फिर देखते ही देखते नगर के सभी पशुओं की जिह्वा पर वह औषधि विदेशी व्यापारियों ने मल दी। इस पूरी प्रक्रिया को महामंत्री के संरक्षण में पूरा किया गया। वैसे भी उन पशुओं की आवाज का कोई वाणिज्यिक मूल्य नहीं था। हालांकि इससे पहले पहल तो पशुधन की कुछ क्षति हुई और कई मवेशी मरने लगे। पर इस समस्या का भी राजकीय युक्ति से हल निकाल दिया गया और करविहीन चमड़ा व्यापार के लिए राजकीय ऋण की व्यवस्था की गई। इधर नवजात पशुओं

की भी जिह्वा पर यह औषधि मली जाने लगी और देखते ही देखते नगर के वे पशु दिन और रात के भेद से कम से कम ध्वनि के स्तर पर मुक्त होकर अनुकूलित हो गए। फिर ऐसे तमाम आवारा पशुओं को नगरबंदर कर दिया गया जिनका किसी भी हाल में कोई उपयोग न था। राज्य से नगर बनने के क्रम में जंगलों को पहले ही प्रजा कल्याण हेतु हाटों में बदल दिया गया था अतः जंगली जानवरों की कोई समस्या ना थी। केवल गिलहरी, सांप, चूहे और नेवले जैसे अनेक छोटे जीव ही बच गए थे जिनकी ध्वनियों का रातदिन से कोई वास्ता ना था। मेंढकों को छोड़ दिया गया क्योंकि उनकी धरपकड़ किसी भी सूरत में संभव न थी; वैसे भी वे केवल बरसात के आगमन की सूचना देते थे।

पर राजकीय आदेश को सबसे ज्यादा चुनौती पक्षियों के प्रातः कलरव से मिल रही थी। सबसे पहले तो नगर में कुक्कुट पालन प्रतिबंधित किया गया। कुक्कुट दिन और रात के सबसे बड़े भेदिएं थे। फिर शेष पक्षियों की बारी आई। पर यह छोटा और आसान काम न था। उनकी भी बड़े पैमाने पर राजकीय नीलामी हुई। इस काम में सभी देशी विदेशी व्यापारी शामिल किए गए। यहां तक कि नगर के कई नागरिकों ने स्वेच्छा से सहयोग दिया। नगर में पक्षियों की संख्या असंख्य थी जो हजारों लाखों पेड़ों, कंदराओं, अटारियों और लोगों के घरों तक में फैले हुए थे। पर प्रजाप्रिय क्रूर ना थे। उन्होंने सख्त हिदायत दी थी कि केवल वही पक्षी पकड़े जाएं जो दिन और रात का भेद पैदा करते हुए नगर को संकट में डालते हैं। तब बहेलियों की चौरासी फौजें बनाई गईं। बहुत सारे बहेलिए बाहर देश से भी बुलाए गए जो पक्षी पकड़ने का नायाब यंत्र साथ लाए थे। चमगादड़, टिटहरी, तोता, मैना, बगुलों, गौरैया, कोयलों और कौब्यों की विशेष रूप से खोज हुई। पूरी प्रक्रिया महीनों चली। जो पक्षी पकड़ में ना आए उन्हें उड़ा उड़ाकर नगर बंदर किया गया। अब बाग बगीचों पर ही नहीं बल्कि नगर के बाहरी परकोटों और सिंहद्वारों पर भी सैकड़ों की संख्या में नायाब यंत्रों से लैस बहेलियों का कड़ा पहरा बैठाया गया। चुन चुनकर निशाना साधा गया। बैलगाड़ियों, ऊंटों, घोड़ों, खच्चरों और हाथियों तक पर लाद लादकर व्यापारी चिड़िया चुरंग ले गए। हालांकि झींगुरों की समस्या बराबर बनी रहती पर समय समय पर खेतों के बचे डंठलों में आग लगाकर उन्हें नियंत्रित भी किया जाता और पुराने और सड़ रहे पेड़ों को फौरन काट दिया गया। इन तमाम घटनाओं से वैसे तो राजा और प्रजा का मन कुछ न कुछ जरूर दुखा होगा पर नगर कल्याण हेतु बस यही उपाय था। नागरिकों की संपन्नता अधिकाधिक होती चली गई तो उनका विषाद भी जाता रहा। पक्षियों के बदले स्वर्ण मुद्राओं की चमक ने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं जाने दिया कि धीरे धीरे पक्षियों के सभी कलरव मंद पड़कर एकदम खत्म हो गए। नगर की संपत्ति में बेहिसाब वृद्धि हुई और नगर की ख्याति भूमंडल के सभी हिस्सों में फैल गई। इसी बीच प्रजाप्रिय ने अपनी निजी संपत्ति खर्च करके लाल, पीले, हरे, सुरमई अनेक टहकते रंगों के पक्षियों का जोड़ा बहुत दूर देश से मंगवाया और एक एक जोड़ा प्रत्येक घर को निःशुल्क भेंट किया। इन जोड़ों की दो बड़ी खूबियां थीं। एक तो ये जोड़े प्रजननहीन थे पर आठों पहर फुदकते रहते थे और दूसरे कि ये मल त्याग नहीं करते थे। इनकी एक विशेषता यह भी थी कि प्रजाप्रिय के आगमन के ठीक पहले ये जोर जोर से चहकने लगते थे। इनके कलरव से घर आंगन, धरती आकाश, नगर का कोना कोना गुंजायमान हो उठता था। नगर की नई संतानों को ये पक्षी बहुत पसंद थे।

समय बीतता गया पर प्रजाप्रिय इससे भी संतुष्ट ना थे। वे अफवाहों से बेहद घृणा करते थे। नगर की बढ़ती समृद्धि से कई दुश्मन देश के राजाओं की आंखों में लालच उतर आया था। नगर नए समय में प्रवेश कर चुका था और एक हल्की सी झूठी अफवाह पूरी नगर व्यवस्था

के चरमराने का खतरा पैदा कर सकती थी और ऐसे में अर्थ संकट फिर गहराने लगता। राजा और प्रजा गरीबी से बहुत घबराने थे। अब जरूरत थी कि नगर को हर मामले में शेष सृष्टि के बचे हुए सांसारिक नियमों से अलग कर दिया जाए। इसलिए प्रजाप्रिय ने सबसे पहले पुराने पंचांग की सामूहिक होली जलवाई और नया राजकीय पंचांग बनवाया। माना गया कि इस पंचांग का अनुकरण करने वाली प्रजा दरिद्रता पर हमेशा हमेशा के लिए विजय प्राप्त कर लेगी। यह पंचांग इतना बारीक और अद्वितीय बनाया गया कि भूमंडल के किसी भी पंचांग से इसका मेल नहीं था। इस नए पंचांग में सूर्योदय की कोई घड़ी निश्चित ना थी, सूर्योदय कभी भी हो सकता था। दरिद्रता नाशक इस पंचांग का जनता ने जयघोष के साथ स्वागत किया। इस पंचांग के अनुपालन के लिए प्रजाप्रिय को एक और राजकीय घोषणा करनी पड़ी। जिसमें कहा गया कि प्रजाप्रिय नगर का औचक भ्रमण करते रहेंगे, जिस भी पहर या समय उनका भ्रमण होगा उस पहर या समय को राजकीय सूर्योदय और उस पहर से शुरू होने वाले अगले सभी पहरों को राजकीय दिन समझा जाए, और तब तक समझा जाए जब तक प्रजाप्रिय दूसरा भ्रमण ना करें। उनके प्रत्येक नगर भ्रमण को प्रत्येक नए दिन की शुरुआत माना जाए। नए पंचांग की गणना में ऐसे किसी पहर का वर्णन ना था जिसमें सांझ या रात या अंधेरा जैसा कोई शब्द आए। सूर्यास्त के लिए उसमें कोई जगह ही न थी और भोर की अवधारणा एक दकियानूस शब्दावली का हिस्सा भर रह गई थी। कोई कोई दिन तीन पहर का होता तो कोई कोई दिन सात या सत्रह पहर का। प्रजाप्रिय ही सूर्य थे और उनका नगर भ्रमण ही सूर्योदय। अब यहां नए वर्ष का आगमन किसी विशेष अतिथि जैसे दूर देश के सम्राटों या अधिपतियों के आगमन के साथ माना जाता। प्रजा प्रत्येक पहर में भरपूर जीवन जीने लगी और तीन सौ पैसठ दिनवाले उस पुराने पंचांग पर हंसती। प्रजा अब दिन रात में नहीं पहरों में अमर थी। धीरे धीरे नगर के हाट बाजार की रोशनी ने पुराने सभी त्योहारों को गलाकर उन्हें शाश्वत उजाले की लड़ियों में पिरो लिया। कालांतर में प्रजा दिन और रात या भोर और सांझ के नैसर्गिक नियम से बिलकुल आजाद हो गई। वह केवल रोशनी की उपासक थी और रोशनी का कुदरत से अब कोई नाता नहीं था। बहुतायत आबादी तो खुश थी।

प्रजापति तो अब ऋतुचक्रों पर अनुसंधान करवा रहे थे। अत्यधिक गर्मी या शीत से कई नागरिक कालकवलित हो जाते। प्रजाप्रिय का हृदय इन मौतों पर जार जार होता। उनकी चलती तो प्रत्येक नागरिक को अमर जड़ी ढूंढकर पिला देते। इसी चिंता में प्रजाप्रिय ना थकते थे ना सोते थे। प्रजाप्रिय जानते थे कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःख झेलती है वह राजा मरने के बाद नरक का भागी बनता है। अतः औचक नगर भ्रमण कई दशकों से वे बदस्तूर करते आ रहे थे। प्रजापति के आने के ठीक पहले रंग बिरंगे पक्षियों का जोड़ा घरों दुकानों में चहकने लगता। सारा नगर उनके कलरव से गूंज जाता। राजा की सवारी के आगे पीछे कई तमाशबीन, मदारी, भांड, नर्तक, गायक और संगीतकारों का जुलूस चलता। आतिशबाजियों से सफेद धुला हुआ आसमान लाल हो जाता। प्रजाप्रिय जिस राह से निकलते वह ढोल नगाड़ों, झाल मंजीरों और दुंदुभियों से झनझना उठता। पूरा माहौल इतना उत्तेजक और रोमांच से भर जाता कि मरी हुई देह तक में जान आ जाती। ऐसे में सोना तो दूर आराम के बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था।

तो यह एक ऐसे राजा और प्रजा की कहानी है जिनका ऐश्वर्य ऐसा था कि दसों दिशा, चारों कोण और चौदहों भुवन में उनका कोई सानी न था। कहते हैं कि तब भी प्रजाप्रिय संतुष्ट न थे।

only dk [kcjh

प्रजाप्रिय से कोई भी कभी भी आकर मिल सकता था। उनका राजमहल नगर के बिलकुल मध्य में ऊंची पहाड़ी पर स्थित था। उस राजमहल तक जाने के लिए लगभग तीन कोस तक ऊंची सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता था। उन सीढ़ियों को चांदी के पत्तों से मढ़वाया गया था। राजमहल ऊंचा जरूर था पर पारदर्शी था। हर चीज पारदर्शी थी और परदों की मनाही थी। राजमहल ही नहीं नगर की अन्य सभी इमारतों की दीवारें और दरवाजे भी पारदर्शी थे। बस स्नानागार और शौचगृह कमर तक अपारदर्शी थे। राजा का मानना था कि पारदर्शी इमारतें— चाहे राजमहल हो या साधारण घर, दुकान हो या बैठकखाना— पारदर्शी हृदय और व्यक्तित्व का मानक होती हैं। नगर चारों ओर से जिन परकोटों से घिरा था वह भी पारदर्शी बनाया गया। पुराने सिंहद्वार तोड़कर उन्हें पुनः इस विधि से बनाया गया कि वह पारदर्शी होने के साथ साथ बेहद मजबूत हों।

राजमहल आठों पहर रोशनी से इतना जगमग करता कि लगातार चार पहरों तक नीचे से राजमहल निहारने वाले नागरिकों को वह लपटती आग के भव्य गोले जैसा दिखता जिसकी तीन कोस लंबी चमकती हुई एक चांदी की पूंछ थी। प्रजाप्रिय भी जब अपने राजमहल की मुंडेरों से नीचे वर्तुल को देखते तो लगता कि किसी बड़े ज्वालामुखी का लावा चारों ओर पसरा हुआ है। अद्भुत चमक होती थी उस लावे की रोशनियों में। प्रजाप्रिय की आंखें चौंधिया जातीं और खुशी के मारे उनमें आंसू भर आते।

ऐसे प्रजाप्रिय के राज में किसी पहर एक ऐतिहासिक हादसा हुआ। किसी ने खबरी की हत्या कर दी। ऐसा नहीं था कि उस नगर में कोई मरता नहीं था। नए पंचांग के बावजूद लोग जानते थे कि नियति क्रूर होती है और वह एक दिन सबको ले जाती है। पर हत्या जैसा जघन्य अपराध दशकों से सुनने में नहीं आया, कम से कम इस नए राजा के शासन में तो बिलकुल नहीं। और हत्या हुई भी तो किसकी? खबरी की? वही खबरी? अपना मसखरा खबरी? प्रजाप्रिय के प्रिय खबरी की? किसने की होगी? वह खबरी तो महल की सूचनाएं देता था, खूब मनोरंजक खबरें!!

उस खबरी का वैसे तो मुख्य पेशा नाई का था और वह राजा के अतिरिक्त किसी की सेवा नहीं करता था, महामंत्री की भी नहीं, क्योंकि वह प्रजाप्रिय का मुंहलगा था। खबरी प्रजा के बीच प्रजाप्रिय के गठीले बदन और बदन में कैद बिजली की चमक की बातें बतलाता, उनके वृषभनुमा कंधों और मजबूत मांसपेशियों की तुलना इंद्र के वज्र से करता। खबरी के मुख से प्रजाप्रिय के घुंघुराले काले बाल, सुनहले नाखूनों और चौड़े सीने का वर्णन सुनकर नगर की कुंवारी लड़कियां आहें भरतीं। वह कहता कि प्रजाप्रिय पर उम्र का कोई असर नहीं, दशकों पहले युवराज जब राजा बने थे अभी भी वैसे ही हैं, बाल बराबर अंतर नहीं आया था। प्रजाप्रिय चरित्रवान भी थे। खबरी कहता कि राजमहल में एक से बढ़कर एक सुंदरियां और दासियां हैं जो हमेशा प्रजाप्रिय के लिए चंवर डुलाती रहती हैं, पर प्रजाप्रिय राजकाज में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे उन सुंदरियों को आंख उठाकर भी नहीं देख पाते। यहां तक कि प्रजाप्रिय रनिवास में भी जाना भूल गए हैं। रानियां ही कभी कभी उनका हालचाल लेने आ जाती हैं। इस पर प्रजाप्रिय नाराज भी होते हैं पर वे क्रूर नहीं। पटरानियों को उचित मान देते हैं। पटरानियां भी जानती थीं कि प्रजाप्रिय ना थकते थे ना सोते थे। ये सारी बातें खबरी के ही मार्फत वर्तुल के नागरिक जान पाए थे। कोई चतुर नागरिक खबरी से कोई कूटनीतिक प्रश्न पूछता तो खबरी

टाल जाता। मसखरा तो था ही, महल की और और बातें करने लगता, फिर भी जनता में उसका बहुत मान था, वह लगे हाथों कुछ बड़ी राजकीय घोषणाओं का इशारा भी कर देता। अक्सर यह होता कि खबरी की इशारेवाली सूचना के तुरत बाद राजकीय डुगडुगी की आवाज सुनी जाती और उसके ठीक अगले पहर प्रजाप्रिय की झांकी निकलती। यह क्रम इतना सधा हुआ था कि लोग खबरी का बेसत्री से इंतजार करते। खबरी चुने हुए लोगों के बीच ही बैठता था पर एक पहर के भीतर उसकी खबरें पूरे नगर में जंगल की आग की तरह फैल जातीं। उसी खबरी की हत्या हो गई?

प्रजाप्रिय शोक संतप्त थे, पूरे राजमहल में सन्नाटा पसरा था। ऐसा इन दशकों में पहली बार हुआ है। वैसे दो दशक पहले भी किसी ने राजा के नाई की हत्या करने की कोशिश जरूर की थी, पर राजा इतने विचलित ना हुए थे, ऐसा विचलन तो बस एक बार ही हुआ था वह भी बहुत पहले, जब नए पंचांग के अनुरूप चलने में वर्तुल के कुछ नागरिक असमर्थ हुए थे। उनमें से कुछ कालकवलित हो गए या कुछ ने स्वेच्छा से नगर छोड़ दिया। प्रजाप्रिय स्वतंत्रताप्रिय तो थे ही, उन्होंने उन नागरिकों को नगर त्याग से नहीं रोका बल्कि जाते हुए कुछ शगुन भी दिया। नगर की प्रजा साक्षी है कि उन नागरिकों की विदाई के बाद प्रजाप्रिय बहुत फूट फूटकर रोये थे। ठीक वैसी रुलाई खबरी की हत्या पर राजमहल में सुनी गई। राजमहल भीतर से हिला हुआ था।

महामंत्री, सेनापति, अंगरक्षक, गुप्तचर और तमाम कोतवाल यहां तक कि राजमहल के नर्तक, संगीतकार और भांड उस रुलाई को सुन रहे थे और डर के मारे पत्थर हुए जा रहे थे। ऐसा लगता था कि प्रजाप्रिय का क्रोध और दुख दोनों दिखाई नहीं देते थे, बस असर करते थे। बूढ़े महामंत्री अमात्यश्री दो बार मूर्छित होते होते बचे। बहुत पहले अमात्य ने एक बात कही थी कि राजा की शक्तियां अमूर्तन के वर्चस्व जैसी होनी चाहिए जो दिखाई न दें पर अपने अस्तित्व का असर बनाए रहें। अमात्यश्री उसी वजूद को आज महसूस कर रहे थे और उदार प्रजाप्रिय के सामने बेवजह कांप भी रहे थे। अमात्य ही क्या सेनापति तक की दाईं कनपटी से एक हल्की पानी की लकीर लगातार नीचे बह रही थी जिसे देखकर वहां उपस्थित नगर के सभी कोतवालों की दोनों कनपटियां रह रहकर चूने लगीं। राजा की दारुण अवस्था देखकर अरसे बाद राजभवन के समस्त कर्मचारी एकसाथ पसीने में लथपथ हुए थे। ऐसे में प्रजाप्रिय को पसीना नहीं आता था बस आंखों का रंग बैल के ताजा खून की तरह लाल हो जाता था। यह भी विधि का क्रूर विधान ही था कि प्रजाप्रिय की आंखें जन्मना लाल थीं, फिर धीरे धीरे वे सामान्य भी हो गईं, अब केवल दुःख या क्रोध के समय में वे लाल हो जाती हैं जबकि प्रजाप्रिय का व्यवहार सदा से विनीत रहा। शायद ही किसी ने प्रजाप्रिय को क्रोध में देखा हो। निश्चित रूप से यह दुःख ही था। दुखी प्रजाप्रिय ने बस एक बार अपने निचले होंठ को ऊपर के दांतों से दबाया और अमात्य की ओर अपनी लाल आंखों से देख लिया। सभा विसर्जित हो गई।

कई दर्जन पहरो तक राज्य के असंख्य भेदिए खबरी की हत्या के विषय में छानबीन करते रहे पर किसी को कुछ हाथ नहीं लगा। महादंड के अलावा कोई दंडविधान था नहीं पर महादंड का भागी मानें किसे? नगर की प्रजा तो सहयोग ही कर रही थी। तभी राज्यदेश पर अचानक नगर के सारे भेदियों को दूसरे और तीसरे काम में लगा दिया गया और निर्देशित किया गया कि खबरी की हत्या के सिलसिले में अब कोई गुप्तचरी न हो, जिस भी भेदिए के पास हत्या से संबंधित अब तक जो भी प्रमाण मिले हैं उन्हें सेनापति के हाथों सौंपकर भुला देने की जरूरत है। दरअसल इस आदेश की वजह एक पीपल का पेड़ था शायद। भेदियों को बस इतना पता

था कि खबरी शापित हो गया था। वह जहां शापित हुआ वहां एक बूढ़ा पीपल का पेड़ है। उन्हें यह भी खबर थी कि इन दिनों उस पेड़ के नीचे एक बूढ़ा संत भी बैठने लगा था। शायद खबरी उससे उलझकर शापित गया हो?

वैसे संपन्न नगरों की एक खूबी होती है कि वह हादसों को जल्दी भुला देते हैं, वर्तुल अब संपन्न नगर था, अत्यधिक संपन्न। पर प्रजाप्रिय की बेचैन पदचापें नगर के कानों में आती रहती थीं। प्रजाप्रिय ने कई गुप्त बैठकें कीं और खबरी के संबंध में जो कहानी निकलकर आई वह बेहद उत्तेजक थी। सबसे विश्वासी भेदिए सुंग की बात पर प्रजाप्रिय भला कैसे न भरोसा करते!! सुंग ने बताया कि खबरी जब प्रजाप्रिय के कहने पर पश्चिमी द्वार का जायजा लेकर लौट रहा था तब बूढ़े पीपल की छांह में एक संत को सोते हुए देखा। संत के कंधे पर निश्चिंत भाव से बैठी एक गिलहरी शायद सीताफल के दाने कुतर रही थी। सोये हुए संत के पैर पगडंडियों के बीचोंबीच पसरे हुए थे। खबरी बड़बोला होने के साथ साथ थोड़ा दुष्ट भी था। उसने सोये संत के पैर जानबूझकर कुचल दिए और हंसते हुए माफी मांगी— “क्षमा करें महात्मन, आपका पैर दिखा नहीं।” संत औचक जग गए पर कोई प्रतिवाद नहीं किया, उल्टे मुस्कुराकर जवाब दिया— “कोई बात नहीं बच्चे, रात में अक्सर कुछ दिखाई नहीं देता।” खबरी जवाब सुनकर ठिठक गया— “रात? तुम परदेशी हो क्या? कहां रात है? क्या तुम नहीं जानते महात्मन कि इस नगर में रात और दिन का भेद नहीं, क्या आसमान में उगे हुए ये सैकड़ों हजारों सूर्य तुम्हें दिखाई नहीं दे रहे?” सुंग ने राजा को बताया कि यही संवाद बाद में तीखी बहस में तब्दील हो गया और संत बार बार बके जा रहा था कि यह रात है रात, कि बचे हुए पक्षी शोर नहीं कर रहे, कि बेआवाज पशु हिलडुल नहीं रहे, कि तितलियां, भैंरे और सारे फूल शांत हैं, कि चींटियां बिलों में जा चुकी हैं और सर्प निकल आए हैं, कि सैकड़ों तथाकथित सूर्यों के बीच एक मद्धम रोशनी का जो गोला दिख रहा है चांद है, कि देखो पीपल से झींगुरों की आवाज आ रही है और यहां तक कि संत के कंधे पर बैठी हुई गिलहरी सीताफल के दाने हाथ में लिए हुए है, पर वस्तुतः दांत गड़ाए ऊंघ रही है। खबरी को ये सारे तर्क राजाज्ञा के विरुद्ध लगे और उसने आवाज देकर सिपाहियों को बुला लिया। खबरी और प्रजाप्रिय के रिश्ते किसी से छुपे न थे और खबरी के कहने पर सिपाहियों ने संत को ठोकरें मार मारकर लहलुहान कर दिया। क्रोधित संत ने खबरी को शाप दे दिया ‘हे मूर्खः युष्माकं बुद्धिः लोभखंजरे समाविष्टः’। सुंग ने यह भी बताया कि उस संत ने और भी कुछ शाप दिए और शाप चूँकि वैदिक भाषा में दिए गए थे इसलिए गंवार सिपाहियों को वह याद नहीं, उन्हें जितना याद था वह बताया जा चुका है।

प्रजाप्रिय सब कुछ निःसंग भाव से सुनते रहे, पर प्रजाप्रिय की भीतरी चिंता केवल इतनी भर ना थी। सुंग ने सौगंध खाकर कहा कि इस घटना के सत्रहवें पहर ही खबरी मरा था और जिस पहर वह मरा था उसके डेढ़ पहर पहले वह बूढ़े अमात्य से मिला भी था। प्रजाप्रिय इसी बात से थोड़े विचलित हुए पर किसी को पता न चला। फिर बूढ़े अमात्य को बुलाया गया। बूढ़े अमात्य अब हाथ बांधे प्रजाप्रिय के सामने खड़े रहे। प्रजाप्रिय बिना किसी संवाद के एक पहर तक राजमहल के परकोटे पर टहलते रहे और अमात्य वहीं परकोटे पर एक पहर तक खड़े रहे, उन्हें पता था कि प्रजाप्रिय न थकते हैं और न सोते हैं। फिर प्रजाप्रिय अचानक ठिठक गए। क्षणभर बाद धीरे से मुस्कराते हुए महामंत्री को संबोधित किया— “अमात्य श्री! आप मेरे जन्म से लेकर अब तक का सब कुछ जानते हैं, राज्य के किसी भी भेदिए से ज्यादा मुझे आप पर विश्वास है। मुझे यह सूचना मिली है कि खबरी अंतिम बार आपसे मिला था।”

अमात्य संभवतः इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही आए थे, वैसी ही जड़ मुद्रा में उत्तर

दिया— “जी प्रजाप्रिय, वह आया था, मैं आपको सूचित करने ही वाला था कि यह हादसा हो गया। वह आया था प्रजाप्रिय, वात, कफ और पित्त से जर्जर देह लेकर। उसने कहा कि वह शापित हो चुका है और शाप यह था कि कोई ऐसा सत्य जिसे वह जानता हो और जिसे वह किसी को भी बताने से डरता हो, वही सत्य उसकी आंत को तब तक छेदता रहेगा जब तक वह किसी ऐसे को वह सत्य ना बता दे जो उस सत्य को नहीं जानता।” प्रजाप्रिय की आंखें अमात्य पर टिकी रहीं, अमात्य बोलते गए, पर थोड़ी धीमी आवाज से— “मैंने उसे कहा कि मैं राजधर्म से बंधा हूँ, कोई ऐसा सत्य ना कहो जिसे सुनकर तुम और मैं महादंड के भागी बनें। फिर मैंने उससे कहा कि हो सके तो उस शाप देने वाले संत से क्षमा मांगो। संभवतः कोई निदान हो— कुल इतना ही संवाद हुआ था प्रजाप्रिय, आप विश्वास करें।” इस बार प्रजाप्रिय पहले से ज्यादा मुस्कराए और अपने मन का बोझ हल्का करते हुए अमात्य को निश्चित भाव से विदा कर दिया। वे पुनः टहलने लगे।

इस नगर में संतों को सजा देने का कोई प्रावधान न था जबकि कई भेदियों का मानना था कि पीपल वाला संत कोई विदेशी भेदिया ही है, पर इसकी पुष्टि न हो पाई थी। वर्तुल के नागरिकों में यह बात फैल गई थी कि खबरी की मृत्यु की वजह संतनुमा वह अजनबी है और खबरी के चाहने वालों में इस बाबत रोष भी था। पर प्रजाप्रिय के हाथ नियमों से बंधे थे, महादंड के लिए अपराध की पुष्टि होनी चाहिए। सबसे बड़ी बात कि कोई साक्ष्य चाहिए था और वह मिल नहीं रहा था। इस घटना के बाद संत भी गुमसुम रहने लगे थे। इसकी एक वजह यह भी थी कि नागरिकों ने उस संत को भीख देना बंद कर दिया था और संत कई दिनों से भूखा चल रहा। यहां तक कि एक बुढ़िया और उसका बच्चा जो गाहेबगाहे संत के लिए भोजन लेकर आते थे, डर के मारे यहां आना जाना बंद कर चुके थे। कई पहरों के बाद किसी एक पहर संत पानी पानी की रट लगाने लगा पर किसी ने उसे पानी नहीं पिलाया, अगले कई पहरों तक तड़पने के बाद संत के रुंधे हुए गले और सूखे हुए होंठों से फिर एक श्लोक फूटा— ‘गच्छत! गच्छत!! यद्गीतं खबरी गास्यति तदेव युष्माकं भविष्यति! गच्छत! गच्छत!’ जाओ! जो गति खबरी की हुई वही गति तुम लोगों की भी होगी।

लेकिन संत की मृत्यु में प्रजाप्रिय का क्या दोष? वे तो देवता और विधि दोनों के सत्ताए हुए पहले से ही हैं। प्रजा कल्याण के लिए उन्होंने अपना सब कुछ त्याग दिया था, नींद चैन तक और इधर कुछ धृष्ट नागरिकों की लामबंदी से एक संत मर गया। उन कुछ ‘धृष्ट’ नागरिकों की पहचान भी तो मुश्किल थी, अब उनकी कीमत समूचा नगर और उसकी प्रजा तो चुकाएगी नहीं। प्रजाप्रिय की करुणा से भला कौन परिचित नहीं था। नगर के ऐश्वर्य को बनाये रखने के लिए प्रजाप्रिय फिर अथक परिश्रम करना चाहते थे, इसलिए जरूरी था कि खबरी प्रकरण का पूरी तरह से पटाक्षेप हो जाए परंतु यह मामला तूल पकड़ता जा रहा था। कुछ भेदियों ने सूचना दी कि पीपल के कोटर से एक अजीब आवाज आ रही है। प्रजाप्रिय ने तुरत सुंग को तलब किया। सुंग कुछ ही पहर बाद आ धमका, उसके पीतवर्णी चेहरे पर जैसे राख गिरी थी। वह प्रजाप्रिय को एकांत में ले गया और बताया कि यह सत्य है कि पीपल के कोटर से आवाज आ रही है, पर वह केवल अबूझ आवाज है, शायद कोई ध्वनि है जो किसी शब्द की बार बार आकार देना चाह रही है। सुंग ने इन ध्वनियों को स्वयं सुना था। इतना सुनते ही प्रजाप्रिय का चेहरा कस गया। आंखों का रंग कुछ गुलाबी भी हो गया। प्रजाप्रिय ने सुंग की छोटी आंखों को घूरते हुए संयत भाव से पूछा— “सुंग, उन ध्वनियों को यदि शांत मन से सावधानीपूर्वक जोड़ा जाए तो कौन कौन से शब्द बनते हैं? बता सकते हो?” सुंग जड़वत ही रहा पर उसकी

सासों फूल चुकी थीं, उसने हाथ जोड़कर कहा— “हे प्रजाप्रिय, मैंने बहुत जोड़ा पर कोई शब्द आकार नहीं ले रहा था, बस सिंग सिंग सिंग, धिन्न धिन्न जैसे शब्द बने जिनका कोई अर्थ ही नहीं।” इतना सुनते ही प्रजाप्रिय लड़खड़ा गए। सुंग ने उन्हें संभाला जरूर पर अधिपति की आंखों का बदला हुआ रंग देखकर सुंग जैसे साहसी गुप्तचर का भी कलेजा दहल गया। उसे विश्वासी भेदिया बने अभी दिन ही कितने हुए थे। इधर प्रजाप्रिय की आंखें एकदम लाल हो चुकी थीं जैसे उनमें किसी बैल का ताजा खून हिलोर मार रहा हो। दहशत में डूबा हुआ सुंग अपने राजा से कुछ और कहना चाह रहा था पर प्रजाप्रिय अपना चेहरा घुमाकर परकोटे से बाहर आसमान निहारने लगे। थोड़े संयत होकर उन्होंने उसी मुद्रा में सुंग को संबोधित किया— “कुछ और कहना है सुंग?”

“जी प्रजाप्रिय।”

“कहो।”

“उस संत के संपर्क में एक गरीब बुढ़िया और उसका बालक रहते थे। वे ही संत को कभी कभार भोजन इत्यादि देते थे। गहरी छानबीन के बाद मैंने बुढ़िया से कुछ सूचनाएं प्राप्त कीं।”

“क्या मुझसे संबंधित?”

“नहीं प्रजाप्रिय, खबरी से संबंधित...उस रात खबरी अमात्यश्री से मिलने के बाद वहां संत के पास गया। बुढ़िया और उसका पुत्र दोनों वहीं पर संत को भोजन करा रहे थे। खबरी आते ही संत के चरणों में लोट गया और क्षमा मांगने लगा। वह पेट दर्द से कराह रहा था और एक पहर तक शापमुक्ति की मिन्नतें करता रहा। संत पहले मुस्कराए फिर थोड़े गंभीर होकर बोले कि जो सत्य तुम जानते हो और जिसे दुनिया नहीं जानती है उसे किसी को कह डालो। इस पर खबरी दहाड़ मारकर रो पड़ा। वह बोला कि उस सत्य के खुलासे के बाद उसका समूल नाश हो जाएगा। तब संत ने कहा तो जाओ, इस पीपल के पीछे एक कोटर है, उस कोटर में मुंह डालकर वह सत्य कह दो। बुढ़िया का कहना है कि खबरी ने कोटर में मुंह डालकर कुछ अस्पष्ट ध्वनियां निकालीं जिसे किसी ने नहीं सुना, संत ने भी नहीं और कुछ ही देर बाद खबरी पीड़ा से मुक्त होकर शांत हो गया। उसके चेहरे पर वही शरारती मुस्कान लौट आई थी। उसने संत की चरण वंदना की और नगर की ओर चला गया प्रजाप्रिय।”

“फिर क्या हुआ?” प्रजाप्रिय ने बड़ी कठोरता से पूछा।

सुंग चौंक गया— “जी प्रजाप्रिय?”

“अरे फिर क्या हुआ...”

“जी प्रजाप्रिय...।”

“सुंग तुम होश में तो हो? फिर क्या हुआ मैं पूछ रहा हूं “

“जी।”

“क्या हुआ फिर वहां?”

“जी प्रजाप्रिय...आप...का।”

सुंग के उत्तर के बीच में ही प्रजाप्रिय जबड़ा पीसकर चीख पड़े— “मैं उस बुढ़िया के बारे में पूछ रहा हूं मूर्ख?”

अब जाकर सुंग की आवाज ठीक से निकली— “जी प्रजाप्रिय...बुढ़िया बहुत डरी हुई थी प्रजाप्रिय। मैंने उसे आश्वासन दिया कि यदि वह सत्य की राह पर है तो प्रजाप्रिय उसे इनाम देंगे। गरीब बुढ़िया जब निश्चिंत हुई तो बताने लगी कि खबरी के जाने के एक ही पहर बाद

वह पीपल का पेड़ आपदमस्तक तीन बार जोर जोर से हिला और उसमें से उसी तरह की ध्वनियां आने लगीं जैसी ध्वनि खबरी ने कोटर में मुंह करके निकाली थी।” यह सुनते ही प्रजाप्रिय किसी प्रस्तर की मूर्ति जैसे स्थिर हो गए। बस उनका अंगवस्त्र तेज हवा के झोंके से फड़फड़ाता रहा। पहरों वे वैसे ही जड़वत खड़े रहे और सुंग हाथ बांधे नतमस्तक उनके पीछे देर तक खड़ा रहा।

राजमहल से लौटता हुआ सुंग अब भी कांप रहा था। प्रजाप्रिय ने कठोर हिदायत दी थी कि उस बुढ़िया और उसके बच्चे की विशेष देखभाल हो और उनके साथ किसी तरह की अनहोनी ना हो। प्रजाप्रिय संभवतः कुछ जागीरें भी दें उन्हें। प्रजाप्रिय मानते थे कि नगर के प्रत्येक छोटे बड़े नागरिक में देवता का वास है। नागरिकों को कष्ट देना देवता को कष्ट देने के बराबर है। सुंग ने अपने अंगवस्त्र से माथे का ढेरों पसीना पोंछा और तीन कोस तक फैली चांदी की सीढ़ियों को नापता हुआ नगर में गुम हो गया।

इधर उसी पीपल के कोटर में गिलहरी के तीनों बच्चे उधमकूद मचाये हुए थे। उनकी मां थी नहीं सो उनकी लापरवाह धमाचौकड़ी अपने उफान पर थी। गिलहरी का चौथा बच्चा अपंग था, उसके पिछले दोनों पैर किसी सूखे हुए तिनके जैसे थे पर उसके कान बहुत तेज थे। वह अपने भाइयों की बंदरकूद से अलग कोटर के एक कोने में चुपचाप सीताफल के दाने कुतर रहा था। तभी उसने कोटर के बाहर से कुछ आवाजें आती हुई सुनीं पर भाइयों की उछलकूद के बीच वे आवाजें मंद पड़ गईं। शायद उसे भ्रम ही हुआ होगा। अपंग बच्चे ने सीताफल का दूसरा दाना उठाया जो एकदम ताजा और रससिक्त था। सीताफल के दानों को शायद उनकी मां ने कई दिनों के अथक परिश्रम से संग्रह करके रखा था। उस बच्चे ने अभी सीताफल के दाने में अपने नन्हें दांत गड़ाए ही थे कि पीपल की जड़ों से तड़ तड़ की आवाजें आने लगीं और देखते ही देखते कोटर लाल धुएं से भर गया। इससे पहले कि सारे बच्चे कुछ सोच पाते कोटर आग की लपटों से घिर गया। तीनों फुर्तीले भाइयों ने कोटर से छलांग लगा दी पर चौथा चींचीं किटकिट चीखता हुआ आग की लपटों से घिर गया। बच्चा देर तक चीखता रहा और ऐसे में उसकी मां गिलहरी प्रकट हुई। वह बड़ी फुर्ती से अधजले बच्चे को अपने जबड़े में दबा कर कोटर से बाहर फांद गई, उस बच्चे के हाथ में अभी भी सीताफल के वे दाने थे जिसे वह थोड़ा सा कुतर गया था।

जलते पीपल से दूर किसी खेत में मां गिलहरी ने अपने अधजले बच्चे को लिटाया और उसे नींद से जगाने की भरसक कोशिश करने लगी। मां ने बार बार प्यार से उस बच्चे में दांत गड़ाया, बच्चे की देह को उलटा पलटा पर बच्चा जगा ही नहीं, सीताफल के दाने को अपने दोनों हाथों से अपनी गोद में छिपाए वह ऐसे सो रहा था जैसे उसके छिन जाने का डर हो। थककर गिलहरी जारजार रोने लगी। उसके आंसुओं से बच्चे की सारी देह भींग गई पर बच्चा जगा नहीं। वह तब तक रोती रही जब तक बारिश ना होने लगी। पानी की तेज बौछारों ने बच्चे की देह को धीरे धीरे माटी में मिलाना शुरू कर दिया और देखते ही देखते बच्चा सीताफल के दाने अपनी गोद में छुपाए धरती में समा गया।

orly ea l hrkQy

वर्तुल नगर के खेतिहर कहीं से भी किसान नहीं लगते थे यह बात सभी सभ्यताएं जानती थीं। नदी का पानी नहरों से होता हुआ खेतों को सैकड़ों हजारों पहर उपलब्ध रहता था। जो किसान कुछ विशिष्ट किस्मों के अनाज या फल सब्जियां उगाते थे उन्हें प्रजाप्रिय सामूहिक रूप से

पुरस्कृत करते थे। हल चलाते हुए किसी किसान को एक अजीब सा सुनहरे रंग का पत्ता उसके खेत में दिखा जो ठीक जले हुए पीपल से आधे कोस की दूरी पर था। किसान ने हल रोककर उस पौधे को छुआ और छूते ही वह पौधा थोड़ा और बड़ा हो गया, हैरत से किसान की आंखें चमक गईं—क्या यह सोने का कोई जादुई पौधा है? उसने बहुत सहेजकर उस पौधे को धरती से निकाला और मटके में रख दिया। मटके में रखने के साथ ही वह पौधा थोड़ा और बड़ा हो गया। अब किसान रहस्य, रोमांच और डर से भर गया—क्या बला है यह? किसान जब तक अपने घर पहुंचा वह पौधा मटका तोड़ते हुए बाहर आ गया था। पौधे में से अब सुनहले रंग का एक फूल निकल आया था—‘अरे ये तो सीताफल का पौधा है। पर इतना सुनहला कैसे?’ किसान यह सोचकर खुश हुआ कि उसके अच्छे दिन आ गए। राजभवन से पुरस्कृत होने का सपना लिए उसने आठवें पहर तीन कोस ऊंची चमकती पूंछ पर अपने कदम रख दिए।

अब वह सीधे राजभवन में था। प्रजाप्रिय सभा बुलाए बैठे थे। रास्ते भर लोग उस किसान को हैरत से देख रहे थे जिसके हाथ में एक बहुत बड़ा सोने का सीताफल था। उत्साह और हड़बड़ाहट में किसान बिना इजाजत सीताफल लिए सीधे सभा के बीचोंबीच जा पहुंचा और सभासदों का ध्यान राजकीय विमर्श से हटकर उस सोने के सीताफल पर जा टिका। प्रजाप्रिय भी सीताफल को ध्यान से देखने लगे तो किसान ने सीताफल को उन्हीं के सिंहासन के सामने जाकर रख दिया और प्रार्थना की मुद्रा में खड़ा हो गया।

प्रश्न अमात्यश्री ने ही किया—“क्या यह सोने का है खेतिहर?”

“जी नहीं महामंत्री जी, मैं भी हैरान हूं। यह चमकता तो बिलकुल सोने की तरह है, पर है यह असली सीताफल। पर यह मैंने नहीं उगाया है प्रभु, यह स्वयंभू है।” किसान कैसा भी हो उसमें सच की मात्रा ज्यादा होती है। किसान प्रजाप्रिय की ओर मुड़ा—“किंतु हे प्रजाप्रिय! मैं डरा हुआ हूं, यह पौधा कल ही धरती फोड़कर उगा था और आठ पहर के भीतर इसमें से इतना बड़ा फल निकल आया। यह बहुत तेजी से बढ़ता है और इसे जितनी बार छुआ जाए उतनी बार बढ़ता है। इसका स्थान परिवर्तित करने पर तो यह दूनी गति से बढ़ता है।”

“इतनी तीव्र गति से...?” प्रजाप्रिय चकित थे।

प्रजाप्रिय के हैरान होते ही राजवैद्य समेत कई औषधि विज्ञानियों ने तुरत उसका निरीक्षण शुरू कर दिया। कुछ क्षण के बाद राजवैद्य ने प्रजाप्रिय को आश्वस्त किया कि कहीं कोई बीमारी नहीं है इसमें, किंतु यह भी कहा कि इस सीताफल को एक बार बीचोंबीच काटकर इसके बीजों के अनुसंधान की आवश्यकता है।

काफी देर से सितार वादक गंधर्व कुमार यह सब देख रहे थे। उनकी आंखें चमक रही थीं और मन उस सीताफल को देखते ही पाने के लिए लालायित हो गया था, उनसे रहा न गया और वे अपनी जगह से उठकर प्रजाप्रिय के सामने आ खड़े हुए—“हे प्रजाप्रिय! आपसे एक आग्रह है, इस सीताफल को अनुसंधान के लिए मेरे घर पर ही मेरे हिसाब से काटा जाए। मैं इस सीताफल से अपने नए सितार के लिए तुंबा बनाना चाहता हूं। इस सीताफल का आकार वही है जैसा मैं कई सौ पहर से खोज रहा था पर आज तक मिला नहीं था। प्रजाप्रिय की अनुमति से मैं चाहूंगा कि राजवैद्य और समस्त औषधि विज्ञानी अपने तमाम अनुसंधान मेरे घर में अतिथि बनकर तब तक करें जब तक उनका काम पूरा न हो।”

महामंत्री अमात्यश्री से सलाह मशवरे के बाद प्रजाप्रिय ने इसकी आज्ञा तो दे दी किंतु अगले कुछ पहरों में इस सीताफल पर अंतिम अनुसंधानिक निष्कर्ष प्रस्तुत करने के लिए भी कहा। सीताफल के वजन के बराबर स्वर्ण मुद्राएं लेकर किसान भी विदा हुआ। यही तो विशेषता

थी प्रजाप्रिय की, उनका प्रत्येक कार्य जनता में चर्चा का विषय बना रहता था। प्रजाप्रिय दीर्घायु हों।

गंधर्व कुमार के आतिथ्य से समस्त विज्ञानी और राजवैद्य प्रसन्न थे, अनुसंधान जारी रहा। हालांकि सीताफल के सुनहले बीजों का जादुई रहस्य अब भी बना हुआ था फिर भी राजवैद्य यह पता करने में सफल रहे कि सीताफल जहरीला नहीं है। चूहों, गिलहरियों और बकरियों को सबसे पहले सीताफल चखाया गया फिर गायों, उनके बछड़ों और भैंसों को। कई पहर तक उनका सूक्ष्म निरीक्षण हुआ और वे सामान्य पाए गए, उनके गोबरों में भी किसी प्रकार का संक्रमण नहीं पाया गया था अलबत्ता उनके गोबर जरूर हल्के सुनहरे रंग के हो गए थे जिनमें से सुगंध फूट रही थी। राजवैद्य का फिलहाल तो यह मानना था कि यह सीताफल तमाम औषधीय गुणों से भरा है लेकिन इस मत का कोई तार्किक साक्ष्य उन्हें नहीं मिल पा रहा था। एक औषधि विज्ञानी ने अपने निजी शोधपत्र में यह टिप्पणी जरूर लिख दी थी कि जिन जीव जंतुओं को इसे खिलाया गया था उन पर तत्काल कोई बुरा असर नहीं दिख रहा है, लेकिन इसके शायद कोई दूरगामी परिणाम दिखें जैसे कि सत्य के दिखते हैं, पर क्या, यह शोध का विषय है। वह विज्ञानी सबसे युवा था और उसके विशेष आग्रह पर प्रजाप्रिय ने निरीक्षण कार्य की अवधि कुछ पहर और बढ़ा दी।

इधर सीताफल का आधा हिस्सा गंधर्व कुमार को दे दिया गया कि वे अपने नए सितार का तुंबा बना लें। वैसे भी सितारवादक कुमार इसे पाने के लिए कुछ ज्यादा ही व्यग्र हो गए थे और आठ पहरों की कड़ी मेहनत के बाद एक सुनहला सितार तैयार हो गया। पर राजवैद्य और उनकी मंडली अभी तक सीताफल के संदर्भ में कोई विशेष जानकारी इकट्ठी नहीं कर पायी थी। विज्ञानियों ने तय किया कि इन बीजों को सभी विज्ञानी अपने अपने घरों के आंगन में अब रोपें और अगले आठ पहर तक इसकी गतिविधियों पर नजर बनाये रखें, फिर सब उस पर अपने स्वतंत्र प्रयोग करें एवं अपनी अपनी टिप्पणी तैयार करके राजभवन में अंततः प्रस्तुत हों। निरीक्षण कार्य की बढ़ी हुई अवधि अगले आठवें पहर को समाप्त हो रही थी।

राजभवन को उस पहर विशेष ढंग से सजाया गया। असंख्य रोशनियों की झालरों से राजदरबार दैदीप्यमान हो उठा। राजमहल में रोशनी इतनी थी कि चींटियों तक को दूर से चलते हुए देखा जा सकता था। प्रजाप्रिय अभी अभी नगर भ्रमण कर के लौटे थे और यह पहर सूर्योदय का पहर माना गया था। प्रसन्न प्रजाप्रिय सिंहासन पर बैठे और राजवैद्य ने सभी विज्ञानियों को प्रस्तुत किया। सबके हाथों में रंग बिरंगे सीताफल थे, ज्यादातर के पास सुनहले रंग का सीताफल था। सब ने सीताफल को लेकर अपने अपने तर्क दिए— कि सीताफल के बीज पर यदि इत्र डालकर रोपा जाए तो फल पूरी तरह इत्र जैसा सुगंधित हो जाता है और इसके अर्क की बिक्री से निश्चित रूप से व्यापार में वृद्धि होगी, कि जिस रंग में मिलाकर इसके बीज को रोपा जाए सीताफल उसी रंग का हो जाता है। एक ने कहा कि हमने सीताफल को एक पहर मदिरा में डुबाकर रोपा और आठवें पहर जो सीताफल निकला उसमें मदिरा ही मदिरा भरी हुई पाई। एक स्तर पर यह एक बनी बनाई मदिरा थी, बस इसे निचोड़ने की जरूरत थी। प्रजाप्रिय ने स्वयं उस विज्ञानी के गुलाबी सीताफल को सूंघा जिससे स्वादिष्ट मदिरा की खुशबू आ रही थी। एक ने सीताफल के दानों को सेब के अर्क में डुबाया था और उन दानों को बीच से फाड़कर उसमें सेब के दाने डाल दिए थे। जब वह बीज फल बना तो सेब का फल बना जिसका आकार हुबहू सीताफल जितना ही बड़ा था किंतु उससे सीताफल की नहीं सेब की खुशबू आ रही थी। राजभवन ने ही नहीं बल्कि स्वयं प्रजाप्रिय ने सीताफल जितना बड़ा सेब जीवन में पहली बार

देखा था। सारी सभा हैरान थी...लगभग दो दर्जन विज्ञानियों ने अपने अपने प्रयोग बताए। एक से बढ़कर एक खोज सामने आती गई। नगर श्रेष्ठियों के तो चेहरे खुशी के मारे सेब की तरह लाल हो गए थे। इन महान खोजों से होने वाली व्यापारिक उपलब्धियों के बारे में सोचकर उनकी आंखें हीरे की तरह चमक गई थीं। उस सभा में जो जहां भी उपस्थित था वह मौन भाव से 'साधु साधु' कह रहा था। लेकिन प्रजाप्रिय अब भी गंभीर ही थे। उन्होंने राजवैद्य से प्रश्न किया— "मात्र आठ पहर में बीज से फल बन जाने वाले इस पौधे का रहस्य बताएं राजवैद्य?"

सभा एकदम सन्न हो गई। राजवैद्य बस इसी रहस्य को नहीं सुलझा पाए थे। वे हाथ बांधे नतमस्तक खड़े रहे। प्रजाप्रिय समझ गए। सभा में सन्नाटा पसर गया। सन्नाटा तब तक पसरा रहा जब तक प्रजाप्रिय मुस्कराए नहीं। एक हल्की मुस्कान के साथ प्रजाप्रिय ने राजवैद्य को संबोधित किया— "हमें विश्वास है राजवैद्य कि आप और आपके वैज्ञानिक साथी इस रहस्य को जरूर उजागर करेंगे। आप पूरा समय लें। वैसे भी आपकी और आपके साथियों की शोध उपलब्धियां कम नहीं। नगर के व्यापारिक उत्थान में आप लोगों का यह सहयोग इस पहर स्वर्णिम अक्षरों में दर्ज हुआ।" सभा में उपस्थित श्रेष्ठियों के कंठ सामूहिक रूप से फूटे, 'साधु साधु।' फिर पूरी सभा प्रजाप्रिय को बधाइयां देने लगी। तमाम विज्ञानी खुशी के मारे दोहरे हो गए।

ऐसे में गंधर्व कुमार कहां शांत बैठने वाले थे। वे ना जाने कब से अपने सुनहले रंग का सितार किसी नवजात शिशु की तरह गोद में दबाए बैठे थे। वे हाथ जोड़कर बड़ी शालीनता से खड़े हुए। प्रजाप्रिय ने आंखों से अनुमति दे दी। देखते ही देखते स्वर्ण चौकी दरबार में लाई गई जिस पर मयूरपंखों की चादर बिछी थी। मयूरपंखी चादर पर गुलाब की पंखुड़ियों को पान के पत्ते के आकार में सजाया गया था। गंधर्व कुमार ने सर्वप्रथम प्रजाप्रिय को प्रणाम किया, फिर शेष सभा को और सितार लेकर उस आसन पर विराजमान हो गए। सभा में एक आध्यात्मिक शांति फैल गई।

गंधर्व कुमार ने सितार के तार कसे। हाथ जोड़कर कला की देवी की वंदना की और अपने गुरु का भी स्मरण किया। दोनों हाथ की उंगलियों ने सितार को ऊपर और नीचे से छेड़ना शुरू किया। किंतु कोई ध्वनि नहीं फूटी। यह क्रम कुछ क्षणों तक चलता रहा परंतु ध्वनियों का आगमन नहीं हुआ।

कभी इतनी देरी तो नहीं की थी कुमार ने! कुमार थोड़े परेशान भी हो गए। महामंत्री के चेहरे पर कुछ शिकन आ गई। इधर गंधर्व कुमार ने सितार पर थोड़ी कठोरता बरती तो सितार ने अचानक ध्वनि फेंकी— 'सिंग्ग'। काफी तीखी ध्वनि निकली, उस ध्वनि को राजमहल के तीन कोस लंबी सीढ़ियों पर तैनात प्रहरियों तक ने सुना। गंधर्व कुमार खुद चकित थे, उन्होंने फिर जोर लगाया। सितार ने फिर ध्वनि छोड़ी— 'सिंग्ग सिंग्ग सिंग्ग।' महामंत्री ने तत्काल डपटा— "क्या हुआ कुमार, कहीं तुम्हारे ऐश्वर्य ने तुम्हारी कला को गला तो नहीं दिया?" किंतु यह हस्तक्षेप प्रजाप्रिय को अच्छा नहीं लगा, उन्होंने महामंत्री को चुप कराया— "नहीं अमात्यश्री नहीं, कला के क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप ठीक नहीं। कुमार बहुत पुराने कला साधक हैं, उनकी साधना में विघ्न न डालें।" समूची सभा देख रही थी, बूढ़े महामंत्री कसमसाकर बैठ गए। गंधर्व कुमार फिर साधनारत हुए। इस बार फिर जोर लगाया। सितार से एक तेज स्वरलहरी उठी, बहुत ऊंची 'सिंग्ग सिंग्ग सिंग्ग धिन्न धिन्न धिन्न'। कुमार ने एक बार फिर उन ध्वनियों को साधना चाहा किंतु 'सिंग्ग सिंग्ग सिंग्ग'। अमात्य का चेहरा स्याह होता चला गया। तब सभा में उपस्थित सुंग की सीधी भृकुटियों में भी मरोड़ आ गया। सितार से निकलने वाली उन अजीब

ध्वनियों को रूपांतरित करके सुरबद्ध करने का एक और कठोर प्रयत्न किया गंधर्व कुमार ने और सितार से 'सिंग्ग सिंग्ग सिंग्ग' की इतनी तीखी आवाज निकली कि प्रहरियों तक ने तलवारें फेंककर अपने कान ढक लिए। अचानक महामंत्री सितार वादक कुमार पर बहुत व्यग्रता से चिल्लाए— "बंदकर इन घृणित ध्वनियों को। बंदकर मूर्ख बंद कर।"

सेनापति, विशिष्ट मंत्री, सामान्य मंत्रियों और अधिकारियों का समूह, श्रेष्ठी, गणमान्य अतिथि, गुप्तचर, देशी विदेशी भांड, नर्तक, संगीतकार, नगर के मुख्य कोतवाल और सम्मानित नागरिक समूह सब के सब सदमे में थे। ये क्या हो गया है कुमार और सितार को? गंधर्व कुमार की देह से पसीना और आंखों से आंसू मूसलाधार निकल रहे थे। प्रजाप्रिय इस पूरे प्रकरण में कुछ भी नहीं बोले। एकदम मौन। बस उनकी लाल आंखें उस भरी सभा में अपने सिंहासन की सबसे अंतिम सीढ़ी पर टिकी हुई थीं। शायद उनके कान में बहुत तेज दर्द हो रहा था। महामंत्री के आदेश पर सभा प्रबंधक ने शंख फूंक दिया। सभा समाप्त हुई।

कुछ ही पहर बाद महामंत्री ने अपने निवास से सेनापति और सुंग को बुलावा भेजा। क्षण भर में दोनों उपस्थित थे। सेनापति हैरान था कि स्वयं प्रजाप्रिय महामंत्री के घर पधारे हुए थे। यह पहली बार हुआ कि कोई अधिपति अपने मातहत के घर आया हो। पर सेनापति बहुत गूढ़ बातें नहीं समझ पाता था। वह केवल आदेश लेता था और उसका अक्षरशः पालन करता था। महामंत्री ने सेनापति को संबोधित किया— "नगर श्रेष्ठियों को तुरत आदेश दो कि समूचे नगर को रंगने के लिए पिसी हुई हल्दी का भंडारण करें, रातोंरात।" आदेश सुनकर सेनापति प्रजाप्रिय के इशारे की प्रतीक्षा करने लगा। जहां प्रजाप्रिय स्वयं उपस्थित हों वहां महामंत्री के आदेश का कोई मोल नहीं होता है, वह यह जानता था। प्रजाप्रिय ने मद्धम स्वर में बात दुहरा दी जिसका आशय था कि जैसा अमात्यश्री कह रहे हैं वैसा करो और अगले आदेश की प्रतीक्षा भी। बहुत जल्दी ही बहुत सारे कार्य करने होंगे, सेना को तैयार रखो पर ध्यान रहे प्रिय प्रजा को एक हल्की खरोंच न आए।

सेनापति की विदाई के बाद शांति पसर गई, कुछ क्षण ठहरकर सुंग ने अपनी शंका जाहिर की— "महामंत्री! मैं समझ नहीं पा रहा कि पीपल के पेड़ वाली ध्वनि सितार से कैसे उठी?"

"ध्वनि सितार से नहीं बल्कि सीताफल से बने सितार के उस तुंबे से उठी थी सुंग।"

सुंग चकराया— "किंतु सीताफल में वह कैसे प्रवेश कर गई प्रभु।"

महामंत्री के केश केवल धूप में सफेद नहीं हुए थे। उनके राजकीय अनुभव के आगे इस राज्य या कहीं समस्त नगर के सभी कर्मचारी बालक थे, यहां तक कि प्रजाप्रिय भी। महामंत्री ने अपनी कल्पना शक्ति से विस्तारपूर्वक सुंग को उन सारी संभावनाओं के बारे में बता डाला जो तर्क की कसौटी पर भी खरी उतर रही थीं। सीताफल के बीज संभवतः पीपल की जड़ों या कोटर में किसी पक्षी या चूहे ने संरक्षित किए होंगे। जो ध्वनियां पीपल से निकल रही होंगी उनका उन बीजों पर भी असर हुआ होगा। बहुत संभव है कि किसी पक्षी या चूहे ने उन बीजों को इधर उधर ले जाकर खाया होगा। उनमें से ही कुछ दाने खेतों में बिखर गए होंगे। सुंग सुनता रहा। उसने फिर अपनी अगली शंका जाहिर— "परंतु उन ध्वनियों में ऐसा क्या है महामंत्री?" यह प्रश्न सुंग के ओहदे से ऊपर का था लेकिन ऐसे विश्वस्त भेदिए को यह बात बताई जा सकती थी। प्रजाप्रिय ने अपनी गर्दन सुंग के विपरीत खड़े अमात्य की ओर घुमा दी तो अमात्य ने शंका का निवारण किया— "यह विरोधी राष्ट्रों के भयानक कूटनीतिक प्रयासों का फल है सुंग। वो ध्वनियां एक शाप को ढो रही हैं, ध्वनियां जैसे जैसे नगर में फैलेंगी शापछाया इस नगर के समस्त ऐश्वर्य का नाश करती जाएगी। हमें इस बात के साक्ष्य मिले

हैं कि वह संत एक तांत्रिक था जिसने शत्रु राष्ट्रों के कहने पर यह सारा काम किया।”

राष्ट्रभक्त सुंग की भुजाएं फड़कने लगीं— “उनकी इतनी धृष्टता प्रभु?”

पर महामंत्री की चिंता केवल यहीं तक नहीं थी। वे जानते थे कि सीताफल के हजारों पौधे अब तक पूरे नगर में उग गए होंगे। उनसे निकलने वाले सीताफलों को ना जाने कितने पशुओं और बचे हुए पक्षियों ने कहां कहां फैलाया होगा। जिन जिन जानवरों और पक्षियों ने उसे खाया होगा उनसे वही ध्वनियां निकलनी शुरू हो चुकी होंगी, उनके मलों के माध्यम से ना जाने कितने बीज इधर उधर पुनः फैल गए होंगे। बहुत संभव है कि नगर के किसी नागरिक ने भी कोई सीताफल चखा हो। महामंत्री इसकी कल्पना कर सिहर उठे। पूरे नगर पर पिशाच छाया मंडराने लगी। उन फलों को अगले आठ पहरों में यदि नियंत्रित नहीं किया गया तो इस स्वर्ण नगरी का विनाश निश्चित था।

I hrkQy dk vāre vk[KV

एक बार फिर नगर और उसके नागरिकों की अग्निपरीक्षा की घड़ी आ गई थी। राजसभा में मंत्रिपरिषद् ने एक स्वर में सीताफल को शत्रु राष्ट्रों के सामूहिक षड्यंत्र का घृणित हथियार घोषित किया गया। मंत्री परिषद् के दबाव में और राजवैद्य सहित समस्त वैज्ञानियों के आग्रह पर प्रजाप्रिय ने भी इस घोषणा पर अपनी अंतिम मुहर लगा दी। नगर के समस्त प्रतिनिधि नागरिकों की सहमति लेते हुए फिर चार बड़ी घोषणाएं की गईं।

पहली घोषणा के अनुरूप देखते ही देखते समूचे राजमहल और उसके तीन कोस लंबी सीढ़ियों को हल्दी के लेप से पाट दिया गया। नगर के प्रत्येक घर, दरवाजे, सड़क, पगडंडी और सीढ़ियों को भी नगर के डरे हुए नागरिकों ने हल्दी से रंग दिया। यह सब पूर्णतः राजकोपीय सहयोग से ही संभव हुआ। राजवैद्य ने नागरिकों के लिए एक पत्र जारी किया था कि हल्दी के लेप से इस शापछाया का कोई असर न होगा। नागरिक सदैव हल्दी की गांठ कमर में कसकर चलें।

दूसरी घोषणा के मुताबिक सीताफल अब एक राष्ट्रद्रोही फल था। प्रजा इस खतरे को जान गई, उसे ज्ञात था कि किस तरह पिछले पहर ही गंधर्व कुमार, राजवैद्य और समस्त विज्ञानियों से सीताफल देखते ही देखते तत्काल जब्त कर लिया गया था। और उनके घरों, आंगनों और घर के पिछवाड़े तक को खोदकर सेनापति सारे बीज और पौधे ले गए थे। यहां तक कि उनके घरों के समस्त पेड़ और पशु अब राजकीय नियंत्रण में जा चुके थे। दूसरी घोषणा के अनुसार उस शापग्रस्त फल या उसके बीज या उसके पौधे को यदि किसी नागरिक के पास पाया गया तो वह महादंड का भागी होगा। हां, उस फल या उसके पौधों या बीजों को जो भी नागरिक नगर प्रशासन को तत्काल भेंट करेगा उसको स्वर्ण मुद्राएं और प्रशस्तिपत्र दिए जाएंगे। बस इसकी अवधि केवल अगले आठ पहर तक निश्चित की गई थी। देखते ही देखते नागरिक सीताफल की खोज में दौड़ पड़े। अगले तीन पहर तक नगर कोलाहल से भरा रहा। जिसे जहां भी सीताफल दिखा वह उसे वहां से उखाड़कर सीधे नगर प्रशासक तक पहुंचाने लगा। आठवें पहर की समाप्ति से बहुत पहले शासन, प्रशासन और प्रजा के सामूहिक प्रयासों से सीताफल के पौधे, फल और दाने अपनी धरती से उखड़कर राजकीय भंडारगृह में ठूस दिए गए और जल्दी ही उसमें आग लगा दी गई। आग की लपटें जब ऊंची उठीं तो नगर के नागरिकों ने एक स्वर में प्रजाप्रिय का जयघोष किया। प्रजाप्रिय ने भी तत्काल अपनी शोभायात्रा निकाली और नगर

भ्रमण किया। इस तरह सूर्योदय की घोषणा के साथ साथ नगर का पहला पहर शुरू हुआ।

प्रजा जानती थी कि प्रजाप्रिय ना थकते हैं न सोते हैं। यह राजा न होता तो पता नहीं प्रजा को क्या क्या दुःख झेलने पड़ते। नगर के वृद्ध नागरिक अभी तक नहीं भूले कि इस राज्य ने दरिद्रता के दौर में क्या क्या दुःख नहीं झेले, दाने दाने को लोग तरस गए थे। हालफिलहाल में प्रजाप्रिय ने बड़ी मुश्किल से शनि को नगरबंदर किया गया था। भावुक प्रजा ने प्रजाप्रिय को उनकी इस बार की शोभायात्रा में जयजयकार के साथ घेर लिया। नागरिक उनके रथ के आगे पीछे हाथ जोड़े खड़े हो गए। प्रजाप्रिय रथ से नीचे उतरे और उपस्थित नागरिकों में एक सबसे वृद्ध नागरिक का हाथ बड़े प्यार से अपने हाथ में थाम लिया। खुशी के मारे उस वृद्ध की रुलाई छूट गई। नागरिकों ने एक बार फिर प्रजाप्रिय का जयघोष किया। प्रजाप्रिय ने प्रजा को शांत रहने का इशारा किया और उस वृद्ध नागरिक का हाथ थामे संबोधित किया— “बाबा! मुझे आपके आंसुओं की नहीं आशीर्वाद की जरूरत है। मुझे आशीर्वाद दो कि मैं सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलूँ।” इतना कहकर राजा रथ पर सवार हुए और आगे बढ़ गए।

शाकाहार अब राष्ट्रीय भोजन बन गया था। सब्जियों में सीताफल और उसकी प्रजाति की तमाम सब्जियों को अखाद्य और स्वास्थ्य विरोधी माना गया। तीसरी राजकीय घोषणा के अनुसार पशुवध को अपराध घोषित किया गया। किसी भी पशु को मारना, खाना और उसके चमड़े का व्यापार करना निषिद्ध हो गया। चमड़े से बनने वाली तमाम चीजें भी निषिद्ध कर दी गईं यहां तक कि ढोलक भी। अहिंसा के मार्ग में चलने में मांसाहार सबसे बड़ी बाधा थी यह अब जाकर समझ में आया। ऐसा माना गया कि पशुवध करते ही उसमें शापछाया बैठ सकती है और उस मृत चर्म से बनने वाली हर चीज में घुसकर हमारे जीवनराग को खराब कर सकती है।

इसी मान्यता पर चलते हुए सीताफल से बननेवाले तमाम यंत्रों पर पाबंदी लग चुकी थी। यहां तक कि लकड़ी से बनने वाले तमाम वाद्ययंत्रों पर फिलहाल रोक लगा दी गई, बांसुरी तक पर भी। वर्तुल के नागरिकों से प्रजाप्रिय ने विशेष आग्रह किया था कि जहां कहीं से और जिस किसी से भी अर्थात् पशु पक्षी छोटे बड़े जीव जंतु, पेड़ फल फूल लकड़ी— मानव दानव देवता वानर, धरती आकाश से कोई भी अजीब ध्वनि उठे तो वह जरूर ही शापित ध्वनि होगी; जिसकी सूचना अविलंब राजमहल को दी जाए। प्रजाप्रिय का यह भी मानना था कि इस शाप से निदान लंबे समय के संगठित संघर्ष से ही संभव है। राष्ट्र को हमेशा से ही एक ईमानदार संघर्ष की जरूरत रहती है। जिस राज्य के नागरिक और प्रशासक चौकन्ने हों वहां का राजा समस्त भूमंडल की आसुरी शक्तियों से लोहा ले सकता है।

चौथी राजकीय घोषणा ने तो समस्त प्रजा का हृदय ही जीत लिया। यह घोषणा थी निःशुल्क और अनिवार्य स्वास्थ्य निरीक्षण की। नगर के सभी नागरिकों यथा बूढ़े, बीमार, युवा, नर, नारी, बच्चे और पशुओं तक का निःशुल्क और अनिवार्य परीक्षण शुरू हुआ और ‘आरोग्य पत्र’ भी दिए गए। जानवरों की लीद तक इकट्ठी की गई जहां तत्काल प्रहरियों की तैनाती हो गई। नगर के दस खाली मैदानों को लीद संग्रह का केंद्र बनाया गया और अगले कई पहरों तक उनका सघन निरीक्षण किया गया। लीद में सीताफल के दानों के होने की प्रबल संभावना थी। एक विशेष औषधि के छिड़काव के बाद समस्त लीद जला दी गई। नगर के जितने भी चिड़िया चरुंग बच गए थे उन्हें बहेलियों के कौशल पर छोड़ दिया गया। हालांकि संगठित रूप से उनका कभी भी आखेट नहीं हुआ लेकिन वे धीरे धीरे लुप्त हो गए। इधर राजवैद्य को यह डर सता रहा था कि सीताफल वाली बीमारी से कहीं कोई नागरिक संक्रमित न हो। पर ईश्वर

इस बार वर्तुल के साथ था। शनि के आशीर्वाद से पूरे राज्य में केवल इक्कीस ऐसे नागरिक पाए गए जिनमें वह संक्रमण था। महामंत्री की विशेष देखरेख में उन्हें नगर से बहुत दूर दक्षिणी द्वार से थोड़ा हटकर बिलकुल एकांत में औषधि वैज्ञानियों के निरीक्षण में रखवाया गया था। भारी राजकोषीय सहयोग से वहां उन रोगियों के लंबे समय तक स्वास्थ्य लाभ लेने की व्यवस्था की गई। कुल मिलकर पुनः प्रजाप्रिय ने नगर को शापित होने से बचा लिया था।

लोग कहते हैं कि उस घटना के बाद वर्तुल नगर में धीरे धीरे सब सामान्य हो गया। व्यापार अब भी बड़ी तेजी से फलफूल रहा था। किंतु प्रजा का संगीत से कुछ मोहभंग हो गया था। हां, स्थापत्य कला ने कारीगरी की नई मीनारें छू ली थीं। इधर भांडों, नटों, नर्तकियों और मसखरों की संख्या नगर में और बढ़ गई थी, वे हर नए पहर कुछ नया लेकर आते। जैसे भी उनको अब करमुक्त नागरिकों की श्रेणी में रखा गया था। मसखरों को तो लोग लहालोट होकर सुनते और देखते। कहते हैं कि इस नगर के भांडों, मसखरों और नर्तकियों की चर्चा दूर दूर के देश में होने लगी थी। कुछ भांड और नर्तकियां अक्सर देश विदेश का भ्रमण करते रहते।

यह ठीक है कि प्रजा कुछ निश्चिंत हो गई थी लेकिन प्रजाप्रिय नहीं। वे ना थकते थे ना सोते थे। उनके आदेश से अब भी परकोटों और सिंहद्वारों पर बहेलिए तैनात थे, नगरों में कई भेदिए अब भी उस ध्वनि की टोह लेते रहते। अब यह नगर एक ईमानदार और चौकस प्रशासनिक गतिविधि की मिसाल बन गया था। इधर नगर के भी कुछ कम कमाने वाले नागरिक खाली समय में सीताफल के बीज ढूंढते रहते। राजकाज से थोड़ी फुर्सत पाते ही प्रजाप्रिय फिर अपने राजमहल के परकोटों पर टहलते हुए देखे जाने लगे। एक बार तीसरे पहर जब वे टहल रहे थे तो दक्षिणी परकोटे के कोने की दीवार में लगे आईने के सामने ठहर गए। प्रजाप्रिय ने अपने प्रिय खबरी की मृत्यु के बाद केश संवारना छोड़ दिया था। उनकी दाढ़ी भी बहुत बढ़ गई थी। प्रजाप्रिय ने आहिस्ते से अपना मुकुट उतारा तो उनके लंबे केश उनके कंधे पर झूल गए। पता नहीं क्यों उनके सिर का पिछला हिस्सा अब ज्यादा टीस रहा था। उन्होंने उंगलियों से उस हिस्से को सहलाया। वहां दो छोटे छोटे नुकीले उभार थे। वे उभार ही टीस मार रहे थे। प्रजाप्रिय ने आईने के सामने अपना सर झुकाकर गौर से देखा तो वे दोनों उभार अब और बड़े हो चले थे। उन्हें याद आया कि खबरी शुरू शुरू में उनका केश संवारते समय इन्हें नुकीले उभारों को देखकर डर गया था। तब प्रजाप्रिय को उसकी मूर्खता पर हंसी आ गई थी। प्रजाप्रिय ने हंसते हुए ही उससे कहा था— “डर मत खबरी, यह जन्मना है। बस याद रख कि राजा और नाई का रिश्ता बहुत भरोसे का होता है, गोपनीयता ही इसकी कुंजी है।” तब खबरी ने हामी भरी थी। बहुत प्रिय था वह खबरी उन्हें।

हालांकि सुंग के कुछ प्रतिद्वंद्वी गुताचरों ने यह हवा फैला रखी थी कि खबरी की हत्या सुंग ने ही की थी, जब खबरी उस पहर संत का मान मनौव्वल और याचना करके लौट रहा था। पर प्रजाप्रिय को इन झूठी हवाओं पर भरोसा न हुआ। प्रजाप्रिय को इन अफवाहों से चिढ़ थी। खबरी की शरारती मुस्कान वाला चेहरा प्रजाप्रिय की आंखों के सामने नाच गया। प्रजाप्रिय की आंखें डबडबा गईं और उन्होंने अपने हाथ के नाखून अपने जबड़ों के मध्य कस लिए। प्रजाप्रिय ने महसूस किया कि इतने दिनों में उनके नाखून भी बहुत बढ़ गए हैं। जल्दी ही किसी नए नाई की व्यवस्था न हुई तो प्रजाप्रिय के नखशिख सौंदर्य की चर्चाएं मंद पड़ जाएंगी। बूढ़े महामंत्री को उन्होंने इसी काम के लिए बुलाया था कि किसी नये हज्जाम की नियुक्ति हो जाए। बशर्तें वह विश्वसनीय और हंसमुख हो। प्रजाप्रिय महामंत्री के इंतजार में फिर टहलने लगे। वे टहलते हुए बीच बीच में परकोटे से नीचे वर्तुल को झांक भी लेते। परकोटों के नीचे पूरा का

पूरा वर्तुल जगमग कर रहा था। वही वर्तुल जिसकी सुंदरता के आगे इंद्र और कुबेर के साम्राज्य फीके थे।

लोग कहते हैं कि तब भी राजा संतुष्ट नहीं था। वह ना थकता था और ना सोता था। बड़ा प्रतापी राजा था वह।

लगल वलज वारे खगक

प्रजाप्रिय को प्रजा देवतुल्य तो मानती ही थी किंतु प्रजाप्रिय अपनी असाधारण क्षमताओं के बावजूद थे तो एक मनुष्य ही—मनुष्य योनि का एक असाधारण मनुष्य जिसने अपने नगर और नागरिकों के उत्थान के लिए प्रकृति से लड़कर रात दिन का भेद खत्म किया। जिसने नागरिकों के ऐश्वर्य के लिए सोना और थकना छोड़ दिया। जिसने अपनी कामनाओं का जर्जर प्रजा कल्याण के लिए होम कर दिया। किंतु प्रजाप्रिय त्रिकाल को वश में करने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सके। उनकी साधना में अभी कई रोड़े थे और यह प्रकृति भी तो मूलतः उनकी विरोधी ही थी; न जाने क्यों वह राग के साथ द्वेष को, महानता के साथ क्षुद्रता को, उजाले के साथ अंधेरे को और सत्य के साथ असत्य को जनमती है? राग को धारण करने वाले और महानता की प्रतिमूर्ति प्रजाप्रिय के बारे में सभी जानते थे कि उनके सारे कर्म सत्य से संचालित होते हैं। किंतु द्वेष, क्षुद्रता और असत्य जैसी अमानवीय प्राकृतिक संरचना का क्या ही उपाय है जिसका सामना आए दिन प्रजाप्रिय को करना पड़ता था। अभी उजाले और क्रूर अंधेरे के बीच की निर्णायक लड़ाई बाकी थी। कहते हैं कि प्रजाप्रिय धवलता के साक्षात् प्रतिरूप थे। परंतु उसी प्रकृति ने राजा के साथ साथ प्रजा को भी जनमा था।

ऊपर से देखने पर वर्तुल का जीवन सहज रूप से जैसे ही था— दिव्य और प्रभावशाली। तिल बराबर भी उसके ऐश्वर्य और आनंद में कमी न आई थी बल्कि अब तो कुछ नागरिक कहने लगे थे कि 'ये स्वर्ग क्या होता है? जो है बस वर्तुल है।' यह सब सुनकर प्रजाप्रिय का सीना चौड़ा हो जाता है। किंतु कुछ ऐसा घट रहा था वर्तुल में जो साफ दिख नहीं रहा था पर वह था जरूर।

इधर प्रजाप्रिय अब पहले से ज्यादा कांतिमान दिखने लगे थे, उनके यौवन के तो क्या कहने। नए खबरी की नियुक्ति हो चुकी थी और वह प्रजाप्रिय की देह को माणिक जैसा चमका रहा था। बस पहले वाले खबरी से उसकी स्थिति थोड़ी भिन्न थी। उसका नाम कंधक था और कोई उसे खबरी नाम से नहीं पुकारता था। केवल राजमहल में ही रहता था। उसे तमाम सुविधाएं थीं लेकिन प्रजाप्रिय ने प्रेमवश उसे महल के बाहर जाने की मनाही कर रखी थी। उन्हें डर था कि कहीं इसके साथ भी कुछ बुरा न हो जाए। प्रजाप्रिय ने प्रण कर लिया था कि राजमहल हो या नगर, अपने किसी भी नागरिक को खरोंच भी लगने नहीं देंगे। इसीलिए प्रजाप्रिय ने उस बुढ़िया और उसके किशोर वय के पुत्र को नगर में विशेष संरक्षण दे रखा था। सुरक्षा कारणों से एकाध सेवकों के अलावा केवल सुंग ही उनसे मिल सकता था। नहीं तो कोई नहीं। शेष प्रजा उस बुढ़िया और उसके बच्चे के अहोभाग्य पर जलती भुनती रहती।

सुंग इस बार भी बुढ़िया से मिलने आया तो देखा कि बुढ़िया और उसका बालक बहुत उल्लास में नहीं थे। सुंग को हैरानी होती कि तमाम ऐश्वर्य और सुख सुविधा भोगने के बाद भी कोई ऐसे कैसे रह सकता है? उसने बहुत दुलार से फिर जानना चाहा कि उन्हें कोई परेशानी तो नहीं। पर ऐसी कोई बात निकल नहीं रही थी। शायद बुढ़िया कुछ कहना चाह रही थी पर

कुछ सोचकर कहते कहते रह जा रही थी। सुंग निराश भाव से लौट गया। भेदिए की जिंदगी चौआई हवा की तरह होती है— कभी पूरब तो कभी पश्चिम तो कभी चारों दिशाओं में। विगत सौ पहरों में नगर के तमाम गुप्तचरों की सक्रियता बहुत बढ़ गई थी, सुंग को फुर्सत कहां थी।

इस सक्रियता का परिणाम भी जल्दी सामने आ गया। आखिरकार सुंग ने एक नागरिक को रंगे हाथों पकड़ा। उसने औचक ही अंदाजा लगाया था कि यह नागरिक कुछ ज्यादा ही प्रसन्न दीखता था और पहले चार पहर के बाद दूसरे चार पहर गायब रहता था। कहीं खोजो पर नामोनिशान नहीं मिलता, फिर अचानक से अगले चार पहर तक चहकते हुए मिलता। एक दिन सुंग चुपचाप उसके घर के पिछवाड़े से उसके स्नानगृह में जा छुपा जो कमर तक अपारदर्शी था। वहां एक बहुत बड़ी और गोल तांबे की थाली दिखी तो उसे संदेह हुआ, उसने जैसे ही थाली हटाई एक सुरंग दिखी। वह उसमें प्रवेश कर गया। भीतर बहुत ठंड थी और घुप्प अंधेरा। सुंग ने अपनी चोरबत्ती से रोशनी की तो पाया कि वह एक छोटा सा कमरा था जिसमें एक चारपाई और चादर तकिया पड़ा हुआ था। बाहर का कोई शोर कोई कोलाहल यहां नहीं आ रहा था, एक अजीब सी शांति थी। वह देर तक निरीक्षण करता रहा पर एक पानी भरी सुराही के अलावा कुछ भी नहीं था वहां। धीरे धीरे उस अजीब सी शांति और शीतलता का प्रभाव सुंग पर बहुत साफ पड़ने लगा और उसकी आंखें भारी होने लगीं। किसी शापछाया ने मानो अचानक ही उसकी मति मार, उसे नींद के हवाले कर दिया। सहस्त्र पहरों का थका हुआ सुंग न चाहते हुए भी उसके आगोश में चला गया।

अभी एक पहर गुजरा ही था कि थाली हटाने की आवाज से सुंग की नींद खुली और वह झट से कोने में जा छिपा। उसने देखा कि वह नागरिक जो चार चार पहरों तक गायब रहता था, आया और चुपके से खाट को अंदाजे में टटोलने लगा, फिर उसने जोर की उबासियां लीं और खाट पर चादर तानकर सो गया। सुंग ने तुरत चोरबत्ती जला दी। नागरिक उचककर बैठ गया, नागरिक की धड़कनें उसका सीना फोड़कर बाहर आने लगीं। सुंग ने अपनी छोटी आंखों से घूरते हुए कहा— “इस राज्य में सोने की मनाही नहीं नागरिक, लेकिन गुप्तगृह बनाना अवश्य दंडनीय है।” नागरिक जानता था कि इस राज्य में बस एक ही दंड है। वह सुंग के पैरों में गिरकर बिलखने लगा— “क्षमा प्रभु क्षमा! आगे से कभी नहीं होगा प्रभु क्षमा करें।” गुप्तचर राज्यादेश के मारे होते हैं भावनाओं के नहीं, सुंग पर कोई असर नहीं पड़ा, उसने नागरिक को ठोकर मारते हुए कहा— “यह प्रलाप प्रजाप्रिय के सामने करना मूर्ख, तूने वर्तुल के उत्थान में व्यवधान डाला है। तेरी इस शैतानी युक्ति का अंत जरूरी है।” नागरिक ने उखड़ती हुई सांसों से फिर गुहार लगाई— “अब कभी नहीं सोऊंगा यहां इस अंधेरे में, बस इस बार माफ कर दें...मेरे प्रभु...बस एक बार। रोशनियों और शोर के बीच मुझे नींद नहीं आने की बीमारी है प्रभु, बस अच्छी नींद के लिए ये सब किया था प्रभु, मुझे माफ करें। बस एक अवसर दें। मुझे माफ करें।” उसने सुंग के पैर जकड़ लिए पर सुंग सुंग था, वह सब कुछ बर्दाश्त कर सकता था पर राजद्रोह नहीं। उसने अपराधी को बालों से खींचकर खड़ा किया तो बेबस अपराधी ने अंतिम गुहार लगाई— “प्रभु मैं अंतिम नहीं प्रभु, मैं अंतिम नहीं...मैं अकेला तो नहीं जो ऐसा करता हो।” नागरिक के इस अंतिम वाक्य से सुंग टिठक गया— “क्या? क्या कहा तूने? क्या औरों ने भी ऐसे गर्भगृह बना रखे हैं?”

नागरिक थोड़ा चेता— “यह बात सभी जानते हैं प्रभु, केवल मैं ही नहीं।”

“कौन कौन हैं, नाम बता अपराधी, नाम बता उनके।”

नागरिक फफककर रो पड़ा— “कितनों के नाम बताऊं प्रभु, कितनों के नाम बताऊं?”

सुंग सन्न रह गया। इतनी चौकसी के बाद भी इतने बड़े पैमाने पर यह अनहोनी हो रही है और उसे पता ही नहीं। अचानक से उसे नगर के सारे भेदियों से नफरत हो आई। सारा नगर जानता है कि सुंग ही इस नगर का अब प्रधान गुप्तचर था और सारे भेदिए उसके मातहत। वह प्रजाप्रिय को क्या जवाब देगा? भय और क्रोध से उसकी देह कांपने लगी। उसने एक मजबूत ठोकर उस नागरिक के चेहरे पर मार दी और उस गर्भगृह से बाहर निकल आया। वह जाते जाते उस विकास विरोधी नागरिक को आदेश देकर निकला कि चुपके से बिना किसी को पता चले अगले दस पहर में यह गर्भगृह भूसे से भर जाना चाहिए।

सुंग जान गया था कि नगर में गर्भगृहों के निर्माण बड़े पैमाने पर हो चुके थे। उसने अंदाजा लगाया कि जरूर इस निर्माण प्रक्रिया की सूचना 'कुछ' गुप्तचरों और कोतवालों को होगी। बस उन्हीं 'कुछ' का पता करना था। प्रजाप्रिय इधर चारों सिंहद्वारों का निरीक्षण करने निकले थे। उन्हें यह खबर जल्दी से जल्दी न दी गई तो अनहोनी होकर रहेगी। सुंग प्रजाप्रिय का पीछा अगले दो पहरों तक करता रहा। उसे पता चला कि प्रजाप्रिय अभी दक्षिणी द्वार पर हैं और तीसरे पहर उसने प्रजाप्रिय को पा लिया। उसने उनके कान में क्षणभर कुछ कहा और प्रजाप्रिय ने तुरत महल चलने का आदेश दिया। उनकी भृकुटि सुंग पर तन गई थीं। पता नहीं क्या होगा आज सुंग का?

महल के पश्चिमी परकोटे पर प्रजाप्रिय समेत केवल चार लोग थे। प्रजाप्रिय लगातार टहल रहे थे और अमात्य श्री, सेनापति और सुंग हाथ बांधे खड़े थे। करुणानिधान ने अमात्य श्री के कहने पर सुंग को अभयदान दे दिया था लेकिन उनकी बेचैनी बता रही थी कि नगर अद्वितीय संकट से घिर आया था। उन्हें भरोसा ही नहीं हो रहा था— कि ऐसा हो गया। टहलते हुए प्रजाप्रिय अचानक रुके और सुंग की ओर मुड़े, कहा— “यह तो ध्यान ही रहे सुंग कि इस नगर में किसी भी नागरिक को सोने की मनाही नहीं किंतु प्रजा यह कैसे भूल सकती है कि जहां जहां अंधेरा होगा वहां वहां शापछाया के प्रवेश की आशंका है।” शापछाया का नाम सुनते ही सुंग के रोंगटे खड़े हो गए। उसे वह अंधेरा गर्भगृह याद आ गया जिसकी शापित शीतलता और शांति ने किस तरह सुंग की देह को सहला सहलाकर सुला दिया था। किंतु सुंग ने प्रजाप्रिय को यह बात नहीं बतलाई। इधर सेनापति का मत था कि सामूहिक महादंड ही इसका एकमात्र उपाय है किंतु अमात्य श्री और प्रजाप्रिय इसके पक्ष में ना थे— “हम उन मुट्ठी भर दुष्ट नागरिकों पर भी महादंड लगाने के पक्ष में नहीं हैं...पर समाधान तो निकालना ही होगा सेनापति।”

पहरों मंत्रणा के बाद तय हुआ कि सूर्य के आकार की एक एक आहत स्वर्णमुद्रा नगर के प्रत्येक नागरिक को राजकीय खर्च पर भेंट स्वरूप दी जाए और नई राजकीय घोषणा के द्वारा हर चौथे पहर उसकी आरती को अनिवार्य बनाया जाए। तय यह भी हुआ कि उन 'कुछ' भ्रष्ट नागरिकों और अधिकारियों की पहचान के लिए नए नए प्रतिबद्ध गुप्तचर लगाये जाएं जो गुप्तचरी की पाठशाला से अभी अभी निष्णात होकर निकले हैं। साथ ही साथ नगर के तमाम राज अधिकारियों के वेतन में दोगुनी वृद्धि करने की सहमति भी बनी। नगर के सभी पुरोहितों की आमदनी को करमुक्त कर दिया गया और यज्ञ की सभी सामग्रियों की खरीद को आधा अवमूल्यित कर दिया गया। चीजें जब सस्ती होती हैं तो प्रजा की असहमतियां ज्यादा देर टिकती नहीं। मंत्रणा की समाप्ति पर अमात्य ने सुंग को बुलाकर कहा— “सुंग, यह हमेशा याद रखना कि 'कुछ' ही लोग दुष्ट हैं सारी प्रजा नहीं। अतः बहुत सोच विचारकर काम करना है, हर दूसरे पहर मुझसे मिला करो।” सुंग सीढ़ियां नापते उतर गया। उसे इस

बात पर बेहद कष्ट था कि अमात्य श्री को अब जनविद्रोह का डर सता रहा था। सुंग के होते हुए भला यह संभव है?

सारी घोषणाएं अगले पहर लागू कर दी गईं और प्रजाप्रिय का नगर भ्रमण भी लगातार होने लगा। वही ढोल मंजीरे वही चमकधमक वही जयघोष। कहीं से नहीं लग रहा था कि इन दिनों कुछ अवांछित हुआ है। प्रजाप्रिय को भी थोड़ा संतोष हुआ। वे अब नगर के प्रत्येक चौराहे पर उतरकर नागरिकों का अभिवादन लेते और हालचाल पूछते। प्रजा तो उनकी इस प्रजाप्रियता से बावली होती जा रही थी। ओ प्रजाप्रिय आप दीर्घायु हों।

पर यह निष्ठुर प्रकृति? इसकी कुंडली में ही हादसा लिखा हुआ है। हुआ कुछ विशेष न था। वर्तुल का ही एक बच्चा खुले मैदान में पतंग उड़ा रहा था। उसकी डोर अप्रत्याशित ढंग से लंबी थी। उसकी पतंग आसमान में बहुत ऊपर खिंची चली गई और सूरज के एक गोले में जा अटकी। बच्चे ने धागे को जरा जोर से खींचा तो वह सूरज धरती की ओर थोड़ा सरक आया। बालक को हैरानी हुई। वैसे नागरिकों ने ध्यान नहीं दिया था कि सूरज का यह गोला पिछले कुछ पहरों से बाकी सूरज के गोलों से थोड़ा नीचे सरक आया था। पतंगें तो पहले भी उड़ाई जाती थीं, बहुत ऊंची ऊंची। लेकिन यह गोला इधर कुछ ज्यादा ही सरक आया था और अब वह बच्चे की पतंग से जा अटका। बच्चे ने नासमझी में अपने धागे को कुछ और जोर से खींचा तो वह गोला बिलकुल लुढ़कता हुआ जमीन पर आ गिरा और एक भीषण ध्वनि के साथ विस्फोट हुआ। एक सूरज धरती पर चकनाचूर पड़ा था। मैदान में अंधेरा छा गया। कहते हैं कि यहीं से वर्तुल में शापछाया का प्रवेश हो गया। लोग यह भी कहते हैं कि उस मैदान में अंधेरा छाते ही झींगुरों का शोर इस कदर बढ़ गया जैसा पहले कभी नहीं सुना गया था। झींगुर अजीब किस्म की ध्वनियां निकाल रहे थे।

इधर सुंग अब हर पहर राजमहल जाने लगा किंतु समाधान लेकर नहीं, समस्याएं लेकर। नगर को शापछाया ने धीरे धीरे निगलना शुरू कर दिया था। नगर के पूर्वी हिस्से में कुछ गर्भगृहों की पहचान के बाद उनमें ताले जड़ दिए गए थे और उनके मालिकों को नए राजकीय आवास भी उपलब्ध करवाए गए थे। लेकिन कहते हैं कि इसके तीसरे पहर ही उसी इलाके में कौयों का एक जोड़ा विचित्र प्रकार की ध्वनि निकालते हुए सुना गया। क्या यह किसी क्रिया की प्रतिक्रिया थी? कुछ जानवरों में फिर से सीताफल खाने के बाद के लक्षण दिखने की सूचना बार बार राजमहल को दी जाने लगी। किंतु सीताफल कहीं मिला न था। हो सकता है किसी दुष्ट नागरिक ने यह अफवाह फैलाई हो किंतु इसी बीच उस पतंगवाले बालक की घटना घट गई। कुलगुरु वादीक की जगह आए नए कुलगुरु ने तुरत ही उस मैदान का भ्रमण किया और सूर्य उपासना की। शापछाया से मुक्ति के लिए वहां हजारों मशालें जलाई गईं। कुलगुरु को इस बात की ज्यादा हैरानी थी कि प्रजा को इस अंधेरे का कोई डर शायद सता नहीं रहा था बल्कि उनकी आंखें अन्यमनस्क भाव से कुलगुरु के सारे कर्मकांड को देख रही थीं। क्या पूर्वी छोर को सचमुच शापछाया ने ग्रस लिया है, पूरी तरह? फिर भी नगर के हालात इतने बिगड़े न थे, प्रशासन पहले से ज्यादा मुस्तैद था और घोषणा की गई कि किसी भी तरह की अफवाह को फैलाने पर महादंड का सामना करना पड़ेगा।

नगर की इस उठापटक से परे वह बुढ़िया और उसका बालक गुमसुम अपने छोटे से राजकीय आवास में बैठे थे। बुढ़िया की उम्र बहुत ज्यादा ढल गई थी और बच्चा कुछ और बड़ा हो रहा था। वह अक्सर गिलहरियों के झुंड से घिरा रहता, उसने सैकड़ों गिलहरियों को अपना मित्र बना रखा था। उनमें वह गिलहरी और उसके तीनों बच्चे भी शामिल थे जो पीपल

के पेड़ के समय से बालक को जानते थे। वे अक्सर बालक के कपड़े के भीतर घुसकर ऊँघते रहते। सेवकों को आश्चर्य होता? तभी बालक ने एक सेवक से कहा कि इन गिलहरियों को खाने के लिए कुछ दाने दे दे, लेकिन सेवक ने बेरुखी दिखाई। वह सेवक नहीं भेदिया था यह बात बस बुढ़िया जानती थी। बालक को पता नहीं क्या याद आया और वह अपने शयनकक्ष से एक पुरानी पोटली ले आया। पोटली खोलते ही सारी गिलहरियां उस पोटली पर टूट पड़ीं और देखते ही देखते सैकड़ों सीताफल के दाने वहां उपस्थित दर्जनों गिलहरियां चट कर गईं। यह वही दाने थे जो कभी पीपल के कोटर में से बालक ने निकाले थे।

अगले ही कुछ पहरों में समूचे नगर में हाहाकार मच गया। सीताफल के सैकड़ों पौधे पूरे वर्तुल में पुनः उग आए थे। वही सुनहला रंग और वही उत्थान और तेजी। प्रशासन जब तक चेतता तब तक कई पशु पक्षी उस फल को अपना चारा बना चुके थे। नगर 'सिंग सिंग सिंग' के अजीब शोर को चुपचाप सुनता रहा। कुछ पढ़े लिखे विद्रोही किस्म के नागरिक तो उन ध्वनियों का अर्थसंधान करने में लग गए थे। सुंग ने जब यह सारी सूचना दी तो प्रजाप्रिय उसी पर भड़क उठे— "तो नागरिकों में ऐलान करवाओ कि एक एक सीताफल के बदले उसके वजन के बराबर स्वर्ण मुद्राएं दी जाएंगी।"

सुंग अब कैसे समझाता कि इस ऐलान के बावजूद भी 'कुछ' को छोड़ बाकी नागरिक कोई पहल नहीं कर रहे हैं। वह प्रजाप्रिय को यह भी नहीं बतला पाया कि शापछाया को लेकर वर्तुल के नागरिक तरह तरह की अफवाहों के शिकार हो चुके हैं। वे एक भयानक भ्रम में हैं और सीताफल को उखाड़ने से डरने लगे हैं। सुंग ने यह भी अफवाह सुन रखी थी कि कुछ नागरिक यह भरोसा करने लगे हैं कि वह संत जी उठा है और उसकी सफेद छाया कई जगह देखी गई है। इधर पूर्वी छोर के कुछ नागरिकों ने उस जादुई सीताफल को चख लिया था और उनके मुंह से 'सिंग सिंग' की ध्वनियां फूट रही थीं। इससे पहले स्थिति कुछ और बिगड़ती, अमात्य श्री ने आपातकाल की घोषणा कर दी और समस्त सेना और कर्मचारियों को शस्त्र धारण करवा दिए। किंतु नगर के अनुपात में समस्त राज कर्मचारी बहुत थोड़े से थे। जनता के सहयोग के बिना यह लड़ाई जीतनी मुश्किल हो रही थी। बड़े व्यापारियों, श्रेष्ठियों और सम्मानित नागरिक समूहों से प्रजाप्रिय व्यक्तिगत रूप से मिले। कुछ विश्वासी नागरिकों की भी फौजें बनाई गईं।

प्रजाप्रिय एक निर्णायक लड़ाई लड़ने ही जा रहे थे कि पता चला कि सुंग ने आत्महत्या कर ली। समूचा राजमहल स्तब्ध हो गया। ऐसी अनहोनी कैसे हो गई? वह भी ऐसे मौके पर? प्रजाप्रिय की आंखें छलछला कर रह गईं। सबसे पहले उन्होंने इस घटनाक्रम को साफ साफ समझने के लिए अमात्य को भेजा। एक पहर बाद ही अमात्य ने जो सूचना दी उसने प्रजाप्रिय का सारा मनोबल तोड़ दिया। अमात्य ने बताया कि सुंग को गुप्तचरों के हवाले यह पता चला था कि सीताफल के दाने उस बुढ़िया के बच्चे ने ही गिलहरियों को खिलाए थे। राष्ट्रभक्त सुंग की भुजाएं फड़क उठीं। उसने सैकड़ों सिपाहियों के साथ सीधे बुढ़िया के घर पर धावा मारा। वह बच्चा उस समय भी गिलहरियों के साथ खेल रहा था। सुंग के क्रोध की कोई सीमा न रही। उसने तुरत उस बच्चे पर भाला चला दिया। भाला बच्चे की छाती चीरकर पार हो गया। बुढ़िया चीखते हुए बच्चे की ओर दौड़ी— "अरे सुंग...अरे सुंग...ये क्या कर दिया सुंग...। अरे सुंग ये क्या कर दिया।..." बुढ़िया जार जार रोने लगी। उसके आंसुओं से दर्द से छटपटाते बच्चे का चेहरा भीग गया। बच्चा बेहद हल्की हल्की सांसें ले रहा था। ये उसकी अंतिम सांसें थीं। बच्चे के गुलाबी होंठ सुखकर कर्त्थई हो चले थे और पुतलियां तिरछी होकर पलट गई थीं।

बूढ़ी मां का रुदन सुनकर उस बच्चे ने धीरे से आंख खोलने का जतन किया और अपनी रोती हुई मां को पुकारा— “मां मां !” बुढ़िया बच्चे को चूमने लगी तो बच्चे ने बहुत गीली आवाज में कहा— “मां...खबरी ने पीपल के कोटर में जो बात कही थी वो मैंने सुनी थी मां !” बूढ़ी मां और फफककर रोने लगी— “मत बोल मेरे बच्चे मत बोल...तेरी शक्ति क्षीण हो रही है...कोई मेरे बच्चे को बचाओ...कोई...” बुढ़िया होश खोने लगी पर सुंग होश में था। वह अपनी पत्थर हो चुकी छोटी आंखों से बच्चे को अपलक निहारे जा रहा था। किसी ने बच्चे को पानी पिलाया तो बालक के कंठ फिर फूटे। उसके होंठ के कोर से रक्त की एक पतली धारा निकल रही थी, वह उससे बेपरवाह सुंग की ओर पलटा— “सुंग...सुंग...खबरी ने कोटर में कहा था कि...” उसकी सांस अब उखड़ रही थी। अब वह धीरे धीरे फुसफुसा रह था— “कि...कि...कि प्रजाप्रिय के सर पर सींग है सींग...सुंग...सींग है...सुंग, सींग है...वे मानव नहीं...” और बच्चे ने एक कारुणिक हिचकी के साथ अपनी देह छोड़ दी। बात आधी रह गई पर समझा सबने।

सैकड़ों सिपाहियों ने देखा कि इस घटना के बाद बुढ़िया दहाड़ मारकर रोई— “अरे सुंग पहले मुझे मारते...अरे, अरे सुंग पहले मुझे मारते...हे सुंग !” उसकी चीख और ऊंची होती चली गई। चीखते चीखते उसने अपने बच्चे को एक अंतिम पुकार दी। बहुत ऊंची पुकार और बूढ़ी बेबस मां ने अपने प्राण त्याग दिए। सिपाहियों और प्रजा ने देखा कि सुंग कुछ क्षण पत्थर बन गया। एकदम प्रस्तर मूर्ति। फिर अचानक ही बिलख बिलखकर रोने लगा— “ये मैंने क्या किया...ये मैंने क्या किया...ओह वर्तुल...ओह वर्तुल...ये मुझसे क्या हो गया !” उसकी सारी देह में कंपकंपी उठ गई। मृत बुढ़िया और उसके किशोर होते बच्चे के चेहरे के बीच खबरी का चेहरा सुंग की आंखों में बिजली की तरह कौंध गया। प्रजा और प्रजाप्रिय के बारे में क्या नहीं जानता था सुंग। हर बात। हर हरकत। पर इस सच्चाई को छोड़कर। ‘सिंग सिंग’ की उस रहस्यमयी ध्वनि का रहस्य खुल चुका था। एक भीतरी पीड़ा से सुंग की देह ऐंठने लगी— “ओह! ओह वर्तुल! मैं किसके लिए लड़ रहा था?” और देखते ही देखते सुंग ने अपनी कमर से चमकती हुई कटार निकालकर एक जोर की चीख मारी— “प्रजाप्रिय मनुष्य नहीं है। हमारा राजा मानव नहीं, दान...” बस इतना कहकर उसने अपने सीने में वह कटार उतार ली। वहां उपस्थित सैकड़ों सिपाही स्तब्ध हो गए और कुछ मूर्छित। अमात्य का कहा सुनकर प्रजाप्रिय की आंखों में खून उतर आया। अब किससे लड़ेंगे प्रजाप्रिय? एक कमजोर और मंदबुद्धि गुप्तचर ने नगर को संकट में डाल दिया था। ओह शापछाया, तुम वर्तुल का नाश करके ही मानोगी!!

अब शापित वर्तुल से लोमहर्षक ध्वनियां उठ उठकर राजमहल में आने लगी थीं। प्रजाप्रिय की आंखों में वही लाल रंग उतर आया और वे शोर सुनकर राजमहल के परकोटे पर आ धमके। अमात्य श्री और सेनापति भी साथ में थे। उन्होंने देखा कि समूचे वर्तुल में कोलाहल हो रहा है। नगर के कुछ हिस्सों में अंधेरा अपना पैर फैला रहा है। लगता है कि प्रजा रोशनियों की तमाम झालरें नोच नोचकर फेंक रही है। उधर वर्तुल के सैकड़ों हजारों सूर्यों पर तीर भाले और पत्थर फेंके जा रहे हैं तो इधर राजमहल से तीन कोस नीचे चांदी की अंतिम सीढ़ियों पर कुछ शापग्रस्त नागरिक सिक्के जैसी कोई चीज उछालकर फेंक रहे हैं, कहीं ये नई आहत स्वर्ण मुद्राएं तो नहीं? क्या ये सचमुच झूठी अफवाहों पर भरोसा करने लगे?

प्रजाप्रिय का मन घृणा से भर गया। देखते ही देखते उनकी आंखों के सामने प्रजा अंधेरे की उपासक हो रही थी। क्या नहीं किया था उन्होंने इस प्रजा के लिए। समस्त भूमंडल जानता है कि वो ना थकते हैं ना सोते हैं, उन्होंने अपनी नींद और थकान तक की बलि चढ़ा दी लेकिन उन्हें मिला क्या...ये अंधेरे के उपासक? उन्होंने महसूस किया कि परकोटे से नीचे दिखने वाला

वह लावा अब दागदार काले धब्बे में बदल रहा है। वर्तुल में चलने वाली आंधी से धूल का गुबार उठकर वर्तुल के सारे सूर्यो पर ग्रहण लगा रहा है। उन सूर्यो की रोशनियां मंद पड़ रही थीं। वे शायद जल्दी ही बुझा दी जाएं। उजाले और अंधेरे की निर्णायक लड़ाई में वर्तुल की प्रजा अंधेरे के साथ थी? 'ओह! ये क्या देख रहा हूं मैं?' प्रजाप्रिय ने अपने निचले होंठ पर अपने ऊपर के दांत गड़ा दिए और लाल आंखों से सेनापति को घूरा। सबने देखा कि प्रजाप्रिय ने बेहद मजबूती से अपना दाहिना पैर परकोटे की गज भर दीवार पर रख दिया और वर्तुल को अंतिम बार झांकते हुए अपना राजमुकुट हवा में उछाल दिया।

xqjs tekus dk 'kgj&III

eerk dkfy; k

df0 रुचि भल्ला की ताजा कविता है—

जो नाम लेती हूं इलाहाबाद
पत्थर का वह शहर
एक शख्स हो आता है।
शहर वहीं रह जाता फिर
धड़कने लगता है उसका सीना।

रहती वह फलटन, महाराष्ट्र में हैं, लेकिन इलाहाबाद उसके अंदर कुछ इस कदर घूमता है कि वह कह जाती हैं—

जब तक जीती हूं
इलाहाबाद हुई जाती हूं
जब नहीं रहूंगी
इलाहाबाद हो जाऊंगी मैं

कवि वही जो अपने साथ साथ मेरे मन के करीब की भी बात कहे। तुकांत हो, अतुकांत हो, उमाकांत हो, रविकांत हो, वह यादों में बस जाता है। ताज्जुब नहीं कि जब हम शहर में जी रहे होते हैं तब उसकी खूबी हमें पता नहीं चलती लेकिन जब वहां से बोरिया बिस्तर उठ जाता है तब वह हमारे मन में बस जाता है खुशबू की तरह। उसका नाम लेते ही यादों के रोशनदान खुल जाते हैं।

देखा जाए तो यह एक तरह की बेईमानी है कि मैं गाजियाबाद में रहते हुए भी यहां की नहीं गिनती अपनेआप को। मेरी चेतना यहां से 640 किलोमीटर दूर मंडराती रहती है। हालांकि

अब वहां मेरा कोई पता ठिकाना नहीं बचा, बैंक खाता बंद हो गया और कई प्रियजन, परिजन रुखसत हो गए। कायदे से वहां की यादों के फाटक पर ताला डालकर चैन से अपने इस चौदह साला तड़ीपार को तर्पण मान लेना चाहिए। जिसे हमारा नया घर कहा जाता है, चार साल तो इसमें रहते हो गए। वक्त की चट्टान के बड़े बड़े टुकड़े मेरे चारों ओर जमा होते जा रहे हैं मगर दिमाग का वह हाल है कि टैक्सी में बैठते ही ड्राइवर से कह उठती हूं, 'जरा सिविल लाइंस लेना पहले।' ड्राइवर भौंचक ताकता है और वाकई उत्तरी दिल्ली की तरफ चल पड़ता है जहां यूनिवर्सिटी की तरफ सिविल लाइंस नामक इलाका है। हाइवे 24 की निर्माणाधीन चौड़ी सड़कें देखकर दिमाग वर्तमान में लौटता है और मैं संशोधन करती हूं, 'मुझे कनॉट प्लेस जाना है।' अकेले जीने की सबसे अलबेली अदा यही है कि हम खूब गलतियां करते रहते हैं, अपने दांतों तले अपनी जीभ काटते रहते हैं पर किसी को भनक तक नहीं लगती कि हम कितने बेवकूफ हैं। ऐसा ही तो उस दिन भी हुआ—

झटके से आंख खुली। दीवारघड़ी की तरफ देखा। पहले लगा ग्यारह बजे हैं। थोड़ी देर टकटकी लगाकर देखा।

नहीं एक बजकर दस मिनट लिखा है।

जी धक् से रह गया।

यह क्या कि रात बीती, सुबह बीती, दिन चढ़ गया और अब 1:10 बजे हैं।

बिस्तर पर चश्मा ढूंढा। कहां गया? रात पढ़ते पढ़ते यहीं छोड़ा था किताब पर। किताब से नीचे गिरा पड़ा था।

फिर घड़ी देखी। आठ तारीख है।

अच्छी तरह याद है। कल कई बार घड़ी देखी। वह छह तारीख थी। 6 को कूरियर से दो किताबें आई थीं। बिस्तर पर पड़ी थीं। एक चेक भी स्पीड पोस्ट से आया था। तक्रिए के नीचे रखा था।

हां मिल गया। चेक पर 31 मार्च की तारीख है पर मुझे 6 को मिला।

यारो यह बीच का एक दिन कहां गया?

इसका मतलब मैं एक की जगह दो दिन सोती रही। कल और आज के अखबार देखे जाएं। दरवाजा खोलकर देखा।

वाकई दो दिनों के अखबार बाहर फड़फड़ा रहे थे। जल्दी से उन्हें अंदर किया। कमरों में धूल भर गई थी। रेत की आंधी चली होगी। खिड़कियां खुली थीं।

कल और आज दोनों सेविकाएं घंटी बजाकर चली गई होंगी। दूधवाला भी लौट गया होगा। इन सबसे यह नहीं हुआ कि एक फोन कर लेते। उन्हें मुफ्त की छुट्टी जो मिल गई।

सवाल तंग करता रहा। सात तारीख कहां चली गई?

सवाल तंग करता रहा। सात तारीख कहां चली गई?

क्या मैं 36 घंटे बाद उठी हूं। इतना लंबा दिन, आंधी तूफान की आफत के साथ, धूप, धूल और गरमी के साथ सर से निकल गया।

शरीर किसी जरूरत पर न हिला न डुला। कोई तलब नहीं हुई न भूख न प्यास।

ऐसे कैसे जिंदगी का एक दिन गायब हो गया! बिना मेरी उपस्थिति के। शाम को जिन साथियों के साथ अहाते में बैठती हूं, उन्हें भी मेरा खयाल नहीं आया। एक मिस्ट कॉल तो कर ही सकती थीं वे। मैं लुटी हुई सी बैठी रह गई।

बाहर धूप थी। चुनौकी की तरह चटकदार, चुभती हुई, चौकन्नी। अंदर घूसर रंग की

धूल थी और सन्नाटा।

में लेटी लेटी सोचने लगी अभी उठूंगी। पहले मटके में से पानी निकलकर आंखों पर ठंडे छींटे डालूंगी। गैस पर चाय चढ़ाऊंगी, डब्बे में से बिस्कुट निकालूंगी। टी पॉट भरकर चाय बनाऊंगी।

हिंश, नहीं करनी अपने को इतनी मशक्कत। यह क्या कि चाय पीनी है तो खुद बनाओ। ट्रे में सजाओ और अपनेआप को पेश करो, 'उठिए मैडम चाय हाजिर है।'

अरे वे हरे चने कहां चले गए ताजगी से भरे। आसपास आंखें फाड़ फाड़कर देखा। यहीं तो रखे हुए थे, मैं तोड़कर, छीलकर खा रही थी। धत् तेरे की। लगता है नींद ही नींद में इलाहाबाद की सैर कर आई। वहीं मिला करती थीं हरे चने की डालियां। उसके बाद 'कामधेनु' की काजूकतली भी तो खाई थी। एक दो कतली नहीं, डब्बा भरकर। किसी ने नहीं टोका, 'एक मिलेगी बस और नहीं।' इलाहाबाद मेरे लिए युटोपिया में तब्दील होता जा रहा है। वह गड्डों दुचकों भरा ढंकर दूँ शहर जहां ढंग की कोई जीविका तक नहीं जुटा पाए हम, आज मुझे अपने स्पर्श, रूप, रस, गंध और स्वाद में सराबोर कर रहा है। कितने गोलगप्पे खाए होंगे वहां और कितनी कुल्फी। कितनी बार सिविल लाइंस गए होंगे। कितनी बार रिक्शे की सवारी की होगी? बेशुमार, बेहिसाब। आज बैरहना में सचान नर्सिंग होम के पीछे चाटवाले के पास चलना है—चलो। आज लोकनाथ में देसी घी वाली आलू टिक्की खानी है—चलो। बच्चों को पैलेस टॉकीज के सामने क्वालिटी के सॉफ्टी कॉर्नर से सॉफ्टी खानी है, वहीं चलो।

शाम होते ही हम इलाहाबादियों के पंख उग आते और हम उड़ चलते। चालीस, पचास रुपए में कुल ऐय्याशी कर वापस आ जाते। कभी रवि अलग से पचास रुपए थमाकर कहते—“लौटते हुए चुन्नीलाल के ढाबे से राजमा और कोफ्ते पैक करवा लाना।” अपनी तो ईद मन जाती। घर पहुंचकर सिर्फ चपाती बनानी रहती।

बच्चे इसी भोजन पर पले बढ़े थे।

चुन्नीलाल भी एक शख्सीयत था। पैलेस टॉकीज के पीछे 'ऑनेस्टी शॉप' नाम से उसका ढाबा चलता। सड़क पार एक शॉप और थी उसकी जहां हर समय चाय समोसे और छोले भटूरे बिकते। किफायती दाम पर गरम, ताजा खाना मिलने का यह अच्छा ठिकाना था। उसके तीनों बेटे साथ लगे रहते। विद्यार्थी, दूरदराज से आए मुक्किल, मरीजों के तीमारदार, खस्ताहाल वकील, सबका भोजनालय था चुन्नीलाल का ढाबा। रात के ठीक साढ़े नौ बजे अपनी कलाईघड़ी आंख के पास लाकर चुन्नीलाल घोषणा कर देता, 'नाइन थर्टी।' यह इशारा होता कि ढाबा बंद होने वाला है। बची हुई सब्जी, कढ़ी और दाल के पतीले ढाबे के बाहर रख दिए जाते। बर्तनों में सीधे मुंह डालकर गायें अपना भोजन ग्रहण करतीं।

लोग कहते—“खुला खेल फर्रखाबादी है चुन्नीलाल का। किसी को ठंडा बासी नहीं खिलाता, सब गौमाता को अर्पण कर देता है।”

चुन्नीलाल के चेहरे पर हरदम मुस्कान रहती। लोगों को भोजन कराते हुए वह स्वयं तृप्त होता जाता। सिर्फ एक बार हमने उसे फिक्रमंद देखा। उन दिनों चुन्नीलाल के ढाबे के सामने एक विशाल होटल निर्मित हो रहा था, कान्हाश्याम नाम से। शायद चार सितारा होटल था वह।

चुन्नीलाल ने कहा—“देखो जी हमारा बिजनेस बिगाड़ेंगे ये बड़े लोग। कहीं और खड़ा कर लेते अपना होटल। यह क्या कि 'ऑनेस्टी शॉप' के ऐन सामने बना लिया?”

रवि ने कहा—“चिंता न करो चुन्नीलाल। वहां के लोग भी तुम्हारे यहां आकर खाया करेंगे।”

बात सच निकली। कान्हाश्याम में ठहरने वाले मेहमानों को उनके स्थानीय मेजबान ताजे गरम भोजन के लिए चुन्नीलाल के ढाबे पर ही लेकर आते। बड़े होटल के बेस्वाद, बेनूर खाने के मुकाबले ढाबे का ताजा, गरम और सुस्वादु भोजन सबको पसंद आता। कांटे छुरी की नखरेबाजी से निजात मिलती। यहां बोलने पर कोई पाबंदी नहीं थी, चाहे जितनी जोर से बोलो, खांसो, हंसो या हंसाओ। ढाबे के कर्मचारी एक प्लेट दाल से रोटी खाने वाले को भी उतनी ही चुस्ती से खिलाते जितनी चार सब्जी, दाल खाने वाले को। बल्कि अगर किसी की दाल कम पड़ जाती तो कर्मचारी, ग्राहक को, दुबारा दाल परोस देता, वह भी निःशुल्क।

शहर में इस तरह का धर्मखाता या दरियादिली बहुतों के अंदर था। लोग बिना जताए, बिना बताए, जरूरतमंदों की झोली भरते रहते। इतने फ्री लांसर इस शहर में शरण पाये हुए थे। कुछ अपनी छोटी मोटी पत्रिका निकालते। कुछ अखबारों के भरोसे जिंदा रहते। एक रेडियो प्रोग्राम मिलने से मनोबल में उछाल आ जाता। रेडियो से मिले मानदेय के चेक को लेखक हफ्तों अपने कुरते की जेब में तहाकर रखता और सुखी संपन्न महसूस करता। कड़की के एक दिन वह लोकभारती प्रकाशन पहुंच, चेक के पीछे हस्ताक्षर कर उसे प्रकाशक के नाम इन्डोर्स करता और नगद राशि लेकर चला आता।

इलाहाबाद से साहित्यिक पत्रिकाएं तकरीबन डेढ़ सौ साल से निकलती रही हैं। हिंदी के विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान रहा। सन् 1877 में बालकृष्ण भट्ट के संपादन में 'हिंदी प्रदीप' यहीं से आरंभ हुआ। अपने जमाने की मशहूर पत्रिका 'सरस्वती' यों तो सन् 1900 में काशी से प्रकाशित हुई लेकिन सन् 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में इलाहाबाद में जम गई। 'सरस्वती' के प्रारंभिक अंक देखकर अंदाजा होता है कि द्विवेदी जी को रचनाकारों से खड़ी बोली हिंदी में लिखवाने के लिए कितना जतन करना पड़ता था। बड़े से बड़े नेता और लेखक पत्रिकाओं पर मेहनत करने में संकोच न करते। महामना मदन मोहन मालवीय 'अभ्युदय' समाचारपत्र तथा कृष्णकांत मालवीय 'मर्यादा' पत्रिका के संपादक थे। बाद में प्रेमचंद के संपादन में 'मर्यादा' हर माह प्रकाशित होती रही। सबसे लंबी पारी 'सरस्वती' की रही क्योंकि उसमें दो विभूतियों का खून पसीना शामिल रहा—द्विवेदी जी और चिंतामणि घोष का। कहने को घोष मोशाय केवल मुद्रक थे किंतु उनके सरोकार हमेशा राष्ट्र और भाषा के हित में रहे। पहला अंक 1 जनवरी सन् 1900 को बाजार में आया और फिर नियम से प्रकाशित होता रहा। बहुत से साहित्यकारों के विकास और वर्चस्व में सरस्वती की भूमिका रही।

इलाहाबाद की जलवायु में जलवा और जोश घुलामिला है। जिस भी गोशे में निकल जाओ, हिंदी के इतिहास का कोई पन्ना फड़फड़ाता हुआ हाथ में आ जाता है। दाएं हाथ को इंडियन प्रेस चौराहा है तो बाएं हाथ ड्रमंड रोड जिसके छह नंबर बंगले से अज्ञेय जी ने 'प्रतीक' द्वैमासिक पत्रिका का संपादन किया। हालांकि यह एक सम्मिलित प्रयास था जिसमें नेमिचंद्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल और अज्ञेय जी की साधना लगी थी। साधन जुटाये प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपत राय ने जिन्होंने अरसे बाद 'कहानी' पत्रिका का संपादन व प्रकाशन कर हिंदी कहानी को शीर्ष पर पहुंचा दिया। यही पत्रिका 'नई कहानी' आंदोलन की रीढ़ बनी। श्रीपत जी ने शुरू तो सन् 1938 में की लेकिन दूसरे महायुद्ध के छिड़ने पर कागज की कीमतों में इतना उछाल आ गया कि इसे बंद करना पड़ा था।

वक्त ने हमें भी लेखन और मुद्रण से जोड़ रखा था इसलिए हमें साहित्य से जुड़ी हर जानकारी मूल्यवान लगती। हम रहते भी ऐसे इलाके में थे जिसका जर्जर हिंदी का इतिहास बयान करता।

जीरो रोड पर हंस प्रकाशन का दफ्तर था जहां से 'हंस' पत्रिका निकलती। हंस के साथ प्रेमचंद का नाम तो नत्थी था ही हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी चिंतन का इतिहास भी नत्थी था। आज यह सोचकर बेहद गर्व होता है कि कथासम्राट प्रेमचंद के दोनों पुत्रों के साथ हमारा संपर्क रहा। श्रीपत राय और अमृत राय में कुछ बातें समान तो कुछ एकदम भिन्न थीं। दोनों गौर वर्ण सुंदर और सृजनशील थे। दोनों ने अपने पिता प्रेमचंद की पुस्तकों को निहायत कम मूल्य पर प्रकाशित कर घर घर प्रेमचंद साहित्य पहुंचाया। दोनों को पत्रिका निकालने का जुनून था। हालात ने उन्हें निजी धक्के बहुत दिए पर उन्होंने हार नहीं मानी।

एक बार हम सुमित्रानंदन पंत जी के यहां बैठे हुए थे तभी अमृतराय और उनकी पत्नी सुधा राय वहां आए। वे पड़ोस में रहते थे। अमृत जी ने पंत जी की भानजी डा. शांता जोशी को चिढ़ाना शुरू किया। शांता जोशी बार बार मामा से अपील करतीं कि वे अमृत जी को टोकें। पंत जी और सुधा राय मंद मंद मुस्कराते रहे। यही अमृतराय गोष्ठियों में एकदम मौन रहते। सुधा राय अपनी मां सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रतिछवि थीं। एक बार वे हिंदुतानी अकादमी में मंचासीन थीं। संयोग से उनका स्थान ठीक सुभद्रा कुमारी चौहान की तस्वीर के नीचे था। ऐसा लगा मानो तस्वीर दीवार से उतरकर मंच पर आसीन हो गई। मुझे याद पड़ता है शहर के प्रसिद्ध छायाकार संजय बनौधा ने यह चित्र कैमरे में कैद किया था।

जो हंस कथा मासिक प्रेमचंद ने सन् 1930 में आरंभ किया, सन् 1936 तक उससे वे जुड़े रहे। उनके निधन के पश्चात अमृतराय ने उसे एक मिशन की तरह जारी रखा। इलाहाबाद में प्रगतिशील कैंप की व्यापकता में 'हंस' और 'कहानी' पत्रिकाओं का बड़ा योगदान है। हंस के संपादक शिवदान सिंह चौहान थे जिनका नाम शहर में बड़े अनुराग से लिया जाता है। सन् 1942 में शिवदान जी गिरफ्तार हो गए और तीन साल जेल में बंद रहे। कुछ समय के लिए जैनेंद्र कुमार ने भी हंस का काम संभाला लेकिन उनका मन उखड़ा रहता। आखिरकार वे दिल्ली लौट गए।

'हंस' और 'कहानी' पत्रिकाओं को जमाने में अमृतराय और श्रीपतराय दोनों भाइयों को बहुत संघर्ष करना पड़ा। प्रेमचंद के सुसंपादन ने एक मानक निर्मित कर दिया था जिस तक पहुंचना कठिन था। इलाहाबाद में मानकों की कमी नहीं रही। महादेवी वर्मा व आचार्य चतुरसेन 'चांद' पत्रिका की धाक जमा चुके थे। संक्षेप में यही कहूं कि अपने नगर की आभा शोभा साहित्य और संस्कृति से ही थी। थी नहीं है। अपने समय को प्रतिबिंबित करती पत्रिकाएं तब भी निकल रही थीं जब हम वहां पहुंचे। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सत्यप्रकाश के संपादन में 'माध्यम' पुनर्जीवित किया। डा. राजेंद्र कुमार 'अभिप्राय' निकाल रहे थे। श्रीप्रकाश मिश्र 'उन्नयन' नियम से संपादित, प्रकाशित करते। 'कथ्यरूप' को नियमित चलाने के लिए उसके संपादक लेखक अनिल श्रीवास्तव अपनी भविष्यनिधि से धनराशि निकलाते रहते। पत्रिका चलाना, वह भी नियमित, कोई आसान काम नहीं। हमारे इलाहाबाद प्रेस में अनेक साहित्यिक पत्रिकाएं छपा करतीं। छपने के बाद वे जिल्द बंधने के लिए दफ्तरी के पास जातीं। पत्रिकाएं महीनों दफ्तरी के यहां पड़ी रहतीं क्योंकि संपादक उसके आर्थिक इंतजाम में भागदौड़ कर रहा होता।

एक समय इलाहाबाद से अज्ञेय जी की पत्रिका 'प्रतीक' की भी खूब धूम चमी। 'नई कविता' नाम से अर्द्धवार्षिक पत्रिका रामस्वरूप चतुर्वेदी और जगदीश गुप्त ने संपादित की। धर्मवीर भारती की पत्रिका 'निकष' अच्छे संसाधनों से निकली। कुछ अंक 'बहाव' पत्रिका के भी निकले अमरकांत के संपादन में। छात्र हो या अध्यापक, सरकारी कर्मचारी हो या फ्रीलांसर,

इलाहाबाद में हर व्यक्ति का सपना होता था कि अपनी पत्रिका निकाले। सपने में यह कल्पना शामिल रहती कि एक अंक निकलते ही हिंदी जगत में धूम मच जाएगी। मार्कण्डेय की पत्रिका 'कथा' और विभूति नारायण राय की पत्रिका 'वर्तमान साहित्य' दोनों का संपादन, प्रकाशन, वितरण, बरसों इलाहाबाद से हुआ। सन् 1991 में प्रकाशित हुआ 'वर्तमान साहित्य' का महाविशेषांक कई कारणों से चर्चित रहा। पहला कारण तो इसका पृथुल आकार था जो एक अंक में अंत नहीं रहा था जिसकी वजह से उसे दो अंकों में विभाजित किया गया। दूसरी वजह थी इसमें छपी कहानियां। यों इसके प्रधान संपादक विभूति नारायण राय थे लेकिन उन्होंने महाविशेषांक का संपादन रवींद्र कालिया को सौंप दिया था। इसके चलते कई रचनाकार बने तो कई बिगड़े। कुछ खुश हुए तो कुछ रुठे।

वर्तमान साहित्य के महाविशेषांक के लोकार्पण की भी अजब दास्तान हुई। दोस्तों ने संपादकों को उकसाया कि इतने विशाल विशेषांक का लोकार्पण विधिवत होना चाहिए। रवि लोकार्पण के प्रचलित स्वरूप से भड़कते थे। इस आयोजन के सूत्रधार विभूति जी ने एक मित्र अजय कुमार का घर चुना। श्री अजय कुमार भी भारतीय पुलिस सेवा में अधिकारी थे। उन दिनों उनकी पत्नी, बच्चों सहित अपने मैके गई हुई थीं। सूरज डूबने पर अजय कुमार के घर की छत पर ये कुछ मित्र इकट्ठे हुए— मार्कण्डेय जी, भैरव प्रसाद गुप्त, नीलकांत, विद्याधर शुक्ल, अमरकांत जी, दूधनाथ सिंह, सतीश जमाली व सत्य प्रकाश।

विभूति नारायण राय और रवींद्र कालिया को तो होना ही था वहां।

तय हुआ कि एक रचनाकार अपने सिर पर महाविशेषांक के दोनों खंड रखकर बीच की मेज पर बैठ जाए और बाकी लेखकमित्र गोल घेरे में घूमकर प्रदक्षिणा करें। दूधनाथ ने विशेषांक को सिर पर धारण किया। उन्हें शंकर का अवतार मानकर सबने अपने अपने ग्लास से व्हिस्की की बूंदें छिड़ककर उनका अभिषेक किया। उसके बाद जमकर गप्पें चलीं, जाम टकराए गए और देर रात बुलंद इरादों के साथ सबने अपने घरों की राह ली। मैं इस आयोजन में शरीक नहीं हुई क्योंकि मैं संपादक से नाराज थी। इसी विशेषांक में उपेंद्रनाथ अशक जी ने स्त्री लेखकों पर एक लंबा लेख लिखा था जिसे पढ़कर सभी लेखिकाएं उनसे नाराज हो गईं। कृष्णा सोबती जी के अलावा, इस विशेषांक ने सभी स्त्री रचनाकारों के प्रति अन्याय किया।

शैलेश मटियानी अपनी पत्रिका 'विकल्प' इलाहाबाद से निकालते। भरी दोपहरी, वे प्रकट होते, भारी भरकम देह, ऊंचा डील डौल, गोरा रंग और चेहरे पर मुस्कान। अक्सर उनके साथ कहानीकार अमर गोस्वामी होते। मटियानी जी के हाथ में पुरानी चाल का कपड़े का झोला होता जिसमें उनकी पत्रिका की ताजा सामग्री होती। वे पिछले दिन के छपे हुए पर्व देखते। अमर अगले प्रूफ पढ़ने में लग जाते। मटियानी जी जीवन के बेढब तजुबों से लबरेज रहते। हम सुनकर हैरान होते, इतने विकट हालात में वे बड़े से परिवार की गाड़ी चला रहे हैं।

चाय के बाद मटियानी जी कहते— "चलूँ जरा एक चक्कर जीरो रोड का लगा आऊँ।"

चौक की तरह जीरो रोड भी शहर का हृदयस्थल था। यहां कपड़े, किताबों के थोक व्यापारियों की दुकानें थीं, पाठ्यपुस्तकों के अमीर प्रकाशक थे; दवाइयों, मिठाइयों के प्रतिष्ठान थे। चौड़ी, लंबी सड़क से अंदर पतली गलियां फूटतीं— चाहचंद, पानदरीबा, त्रिपोलिया, खोयामंडी। हर जिंस का थोक व्यापारी यहां होता। बहुत से किफायती होटल भी जीरो रोड पर पनप गए थे। मटियानी जी का उसूल था वे बिना विज्ञापन लिए किसी भी दुकान से न उतरते। वे प्रतिष्ठान में पहुंचकर गल्ले के सामने बैठे बुजुर्ग को 'विकल्प' के पिछले अंक की प्रति दिखाते। पीछे छपे हुए विज्ञापन पृष्ठ दिखाते और घोषित करते, 'इस बार आपके विज्ञापन के बिना अंक

नहीं निकलेगा यह मेरा वादा है।’

मटियानी जी विज्ञापन को बिज्ञापन बोलते और ‘विकल्प’ को ‘बिकल्प’। इस उच्चारण से वे व्यापारी वर्ग के मन में अपनी जगह बना लेते।

हर दुकान से उन्हें बीस, पचीस या कभी कभी पचास रुपए का विज्ञापन मिल जाता। दो एक कंजूस व्यापारी पांच रुपए का नोट देकर हाथ जोड़ लेते।

मटियानी जी उनके नाम की भी एक बारीक पट्टी ‘विकल्प’ में जरूर छाप देते। कई बार रचनाओं से ज्यादा विज्ञापन हो जाते। मटियानी जी दफ्तरी के पास बैठकर दो तरह से अपनी पत्रिका की जिल्द बंधवाते। एक सेट ‘विकल्प’ की विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं का होता। दूसरा रचनाओं सहित विज्ञापनों का होता। अंक तैयार हो जाने पर मटियानी जी स्वयं, सबके यहां अंक पहुंचाने जाते। साहित्यिक पत्रकारिता का यह एकपात्री अभियान था। ‘विकल्प’ में यादगार रचनाएं छपीं जिनकी धमक आज भी सुनाई पड़ जाती है। विकल्प में गिरिराज किशोर की कहानी ‘विकल्प’, विनोद कुमार शुक्ल की ‘झुंड’ और रवींद्र कालिया की कहानी ‘काला रजिस्टर’ और ‘चाल’ यादों में है। विकल्प में ही रामकमल चौधरी के निधन पर उन पर दूधनाथ सिंह का संस्मरण प्रकाशित हुआ था जिस पर व्यापक क्षोभ प्रकट किया गया। प्रथम पुरुष में लिखे इस संस्मरण का आरंभिक हिस्सा कुछ यों था— ‘तुम मुझे किस तरह अपमानित करते रहे जबकि तुम इतने सभ्य दिखते हो।’ मेरा ख्याल है यह दूधनाथजी के किसी पत्र का अंश रहा होगा। संत्रास और मोहभंग की यह स्थिति दूधनाथ सिंह की कहानियों की भी प्रमुख थीम रही है। बेरोजगारी के दिनों में झेले गए अपमानबोध से दूधनाथ सिंह ताजिदगी उभर नहीं पाए। उनके लेखन में प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद पहलू बदल बदल कर आते रहे।

इलाहाबाद ने अपने समय की बहुत सी प्रतिभाओं को पस्त और अस्त होते हुए देखा है। खुद मटियानीजी, अपने युवा पुत्र मनीष की अकालमृत्यु से इस कदर हिल गए कि मानसिक संतुलन खो बैठे। निजी त्रासदी का सामना करने के लिए लेखक के पास कवच कुंडल नहीं होते। उसकी संवाद व सृजन की संपदाएं ऐसे में लुट जाती हैं। काल के थपेड़े उसे कटखना बना डालते हैं। मटियानीजी घनघोर आर्थिक संघर्ष से इतना नहीं टूटे जितना अपने नौजवान बेटे मनीष की हत्या से। सन् 1992 था। दिन भर पढ़ने के बाद मनीष शाम के समय युनिवर्सिटी की सड़क किनारे बनी बैंच पर बैठा था। यकायक एक बम उसकी पीठ पर आकर लगा। वार इतना जबरदस्त था कि मनीष की जान चली गई। जाते जाते दोस्तों से उसके आखिरी शब्द थे— ‘मेरे घर पर बता देना, पापा फिकर करते होंगे।’ विडंबना यह थी कि बम मारने वाला किसी और शिकार की तलाश में निकला था। वह अपना लक्ष्य ठीक से पहचान नहीं पाया और मनीष मटियानी बेगुनाह मारा गया। प्रतिभाशाली बेटा था वह। सिविल सेवा की लिखित परीक्षा पास कर चुका था। इंटरव्यू की तैयारी में लगा हुआ था। मटियानी परिवार के अच्छे दिनों की उम्मीद उसी पर टिकी हुई थी। यह दुर्घटना परिवार के ऊपर भूकंप की तरह आई।

जब हम मटियानीजी के घर संवेदना प्रकट करने गए, उनकी आंखों से अवरिल अश्रु बह रहे थे। वे आंखें बंदकर बार बार कह रहे थे— ‘मनु बेटे मुझे माफ करना, मैं अभी भी जीवित हूं।’ कर्नलगंज वाले इसी घर में न जाने कितनी बार देखा था, मटियानी जी को बच्चों के साथ कैरम खेलते, बच्चों को तबला बजाना सिखाते। नीला भाभी अंदर के कमरे में अचेत पड़ी थीं।

इसी बिंदु से मटियानीजी का मानसिक विचलन आरंभ हुआ जो धीरे धीरे घनघोर नकारात्मकता में बदल गया। विवादप्रियता बढ़ती गई, अड़ियलपन उत्पात मचाने लगा, तर्क की जगह तुनकमिजाजी ने ले ली। उनकी विचारधारा कभी क्रांतिकारी तो कभी प्रतिगामी होती गई।

पहाड़ की कठोरता से घबराकर वे मैदान में आए थे, लेकिन समतल राहें उन्हें नहीं मिलीं। पहाड़, जीवनभर उनपर दूटता ही रहा। 'इब्बू मलंग', 'गोपुली गफूरन', 'चिट्ठीरसैन' और 'अद्धागिनी' जैसी बेजोड़ कहानियों का सिरजनहार इसी इलाहाबाद में धीरे धीरे पस्त हुआ और वापस हल्दानी कूचकर गया। 'विकल्प' जो उनका संकल्प था, कल्प बनकर ही रह गया।

एक शहर का तानाबाना जब लेखकों और बुद्धिजीवियों से ही बना हो तब किसी एक का भी जाना वहां दुखती जगह छोड़ जाता है, मुंह में टूटे दांत की तरह। डा. सत्यप्रकाश का अकाल प्रस्थान इसी तरह था। कहां तो वे देशभर के उत्तर दक्षिण पूर पश्चिम में साहित्य सम्मेलनों का संयोजन आयोजन करवाते घूमते थे, कहां यकायक दिवंगत हो गए। उनके गले में तकलीफ होनी शुरू हुई। ऐसा लगा गले की खराश है, गरम चाय पीने से ठीक हो जाएगी। रवि उन्हें होमियोपैथी दवा बता रहे थे। सत्यप्रकाशजी का मर्ज कहीं ज्यादा गंभीर निकला। तभी तो जहां वे माइक के बगैर ही बुलंद आवाज में व्याख्यान देते थे, वहां उनकी आवाज ही अवरुद्ध हो गई। ऐसा लगा जैसे शेर से उसकी दहाड़ छीन ली गई हो। बीमारी से जरा पहले वे दक्षिण भारत के दौरे से लौटे थे। प्रत्येक संस्था में उनकी पहुंच और पूछ थी। इतना सर्वमान्य व्यक्तित्व विरल विभूतियों का होता है। उन्होंने इलाहाबाद की निष्प्राण पड़ी संस्थाओं को जीवनदान दिया। उन्हें न परिमल से परहेज था न प्रगतिशील लेखक संघ से। उनका संवाद जलेस से भी था और प्रलेस से भी। किसी भी विचारधारा का विद्वान उनके कार्यक्रम में आमंत्रित हो सकता था। हर आयोजन को वे इतनी उर्जा प्रदान करते कि अतिथि और श्रोता, सब संतुष्ट लौटते। सत्यप्रकाश पैदा तो हुए सुल्तानपुर में, लेकिन पढ़ाई के सिलसिले में सन् 1961 में इलाहाबाद आए और यहीं के होकर रह गए। वे दोस्ती निभाना जानते थे, गुरुजनों का आदर करते और विद्यार्थियों का मार्गदर्शन। कुछ कमनाम पत्रिकाओं में लिखते भी थे जैसे सतीश जमाली की पत्रिका 'नई कहानी' और विद्याधर शुक्ल की 'लेखन'। उनका चर्चित लेख 'महाबली का पतन', 'नई कहानी' के दूसरे अंक में छपा था। लेकिन लेखन से ज्यादा उनकी रुचि आयोजन, संयोजन, संचालन और संवाद में थी। कुछ ऐसी जिंदादिल मौजूदगी कवि कैलाश गौतम की भी थी। नागार्जुन की परंपरा में वे सही अर्थों में जनकवि थे। कभी अवधी तो कभी हिंदी में लिखे उनके गीत ऐसे थे कि सुगमता से लोगों की जुबान पर चढ़ जाते और पढ़ने वालों को उनके सामाजिक सरोकारों का सघन स्पंदन मिलता। 'अमौसा का मेला', 'कचहरी न जाना', 'तीन चौथाई आन्हर' उनकी कालजयी रचनाएं हैं। आकाशवाणी इलाहाबाद के गोवरधन मैया के किरदार में उन्होंने खूब नाम कमाया। वे मस्ती में जीते, जमकर ठहाके लगाते और बड़ी सहजता से अपनी लंबी कविताएं भी फरटि से सुनाते। वे माघ मेले और कुंभ पर एक उपन्यास लिख रहे थे 'तंबुओं का नगर' जो उनके चटपट दिवंगत हो जाने से अधबीच छूट गया। उनके कवि पुत्र श्लेष गौतम बता सकते हैं, उसका क्या हुआ। हमारे शहर के बुद्धिजीवियों में लिखने का सुख हमेशा छपने की उत्तेजना से बढ़कर रहा। कुछ ऐसे भी कवि रहे जो लिखकर अपनी रचना दोस्तों में बांट देते, जिसकी मर्जी अपने नाम से छपवा ले। नखास कोने के नैयर आकिल ऐसी प्रतिभा थे। वे गुजर बसर के लिए दवाएं बेचते लेकिन शायरी कभी नहीं बेची। वे अपनी गजलें किसी भी कद्रदां को पकड़ा देते।

शहर की सांस्कृतिक चेतना और गंगा यमुनी तहजीब बनाने में इलाहाबाद के आम आदमी से लेकर खास आदमी तक का योगदान रहा है। साथ ही कलाकार, लेखक, शिक्षक और शिक्षार्थियों ने मिलकर यह वातावरण निर्मित किया है। इसी कारण यहां इतना विशाल कुंभ मेला निर्विघ्न संपन्न हो पाता है। वहां न कभी लाठीचार्ज होता है न भीड़ हिंसा। पुलिस और सुरक्षाबल

केवल हाथ जोड़कर, माताजी, बहनजी उद्गारों के साथ समस्त भीड़ पर काबू पाते हैं। मैंने दो तीन कुंभ तो स्वयं, कुछ समय, रहकर देखे हैं। इलाहाबाद के निवासियों के लिए यह पर्व आस्था के साथ प्रतिष्ठा का भी विषय है। छोटे छोटे दुकानदारों के लिए यह कमाई का सुनहरा मौका होता है। चौक का हरिप्रसाद वहां तुलसी कंठी और गंगाजली बेचता है तो नदीम अहमद लाई चना और मक्की के फूले। सुबह सब गंगा में डुबकी लगाकर दुकान खोलते हैं। बाहर से आए कपटी साधुओं के बारे में चरित्र प्रमाणपत्र देना जरा मुश्किल है। इलाहाबाद का लोकल बाशिंदा मेले में पुण्य कमाने या पुण्य बेचने के इरादे से जाता है। कुछ लोग मेला घूमने, भीड़ देखने और धूप सेकने भी चले जाते हैं। पंजाब से हर कुंभ में कुछ ऐसे स्नानार्थी जरूर आ जाते जो हमारे रिश्तेदार होते। दो चार दिन हमारे घर रुककर वे किसी न किसी संत के शिविर में प्रस्थान कर जाते। कनखल के महामंडलेश्वर निरंजनानंद के शिविर में समस्त सुविधाएं और सुरक्षा मिलती। इसी तरह पूर्णानंद का शिविर था। सत्या मासी और प्रसन्नी मासी के साथ मैंने भी शिविर में कुछ दिन रहकर देखा। सभी प्रौढ़ और वृद्ध महिलाएं स्वामी जी को भगवान का दर्जा देतीं। मुझे ये सभी संत आध्यात्मिक से ज्यादा अहंकारी नजर आते। समस्त भक्तिनें रोज सुबह स्वामी जी को रुपये चढ़ाकर 'मत्या टेकना' करतीं और उनके प्रवचन के दौरान हाथ जोड़े बैठी रहतीं। तब मुझे लगा कि यह कुंभ मेला इन सबके लिए तनाव दूर करने का जरिया है। पति और बाल बच्चों की चिंता से दूर ये भक्तिनें यहां के स्वामी जी के भंडारे पर भर भर धन लुटातीं, कतार में बैठे भिक्षुकों को दान देतीं और थोड़ी बहुत विचलित तभी होतीं जब इनसे कोई ठगी करके चंपत हो जाता। मोनी अमावस्या के स्नान के दिन प्रसन्नी मासी का चार तोले का सोने का कंगन किसी ने उनके हाथ से उतार लिया और उनको खबर तक न लगी। एक अन्य मासी ने अपनी सलवार के नेफे में नोट छुपाकर रखे हुए थे। स्नान करके घाट पर आईं तो देखा, सलवार का नेफा खाली पड़ा था। ठग उनके नोटों के साथ नाड़ा भी निकालकर ले भागा। वह मासी छाती पीटकर रोई, 'चंगी आई मैं मेले में। खसमखाणा मेरे नोट भी लै गया ते नाड़ा भी लै गया'।

अक्सर मौनी अमावस्या के स्नान के बाद मेला छंट जाता। आसपास के गांवों के भक्त अमौसा स्नान के बाद लौट जाते। कल्पवासी फिर भी टिके रहते। कई बार ठंड में बारिश शुरू हो जाती। सूरज के दर्शन दुर्लभ हो जाते। कड़कड़ाती ठंड और जर्जर गीले तंबुओं में कल्पवासियों के शौर्य और धैर्य की कड़ी परीक्षा हो जाती। बसंत पंचमी पर मेला मद्धिम पड़ जाता और शिवरात्रि के स्नान के साथ सभी तंबू उखड़ जाते, शिविरों के कलात्मक पंडाल ट्रकों में लदे नजर आते। पूरे मेलाक्षेत्र में ऐसी वीरानगी छा जाती जैसे अब यह कभी नहीं बसेगा।

एक बार फिर प्रयागवासी अपनी दैनिकता में दत्तचित्त हो जाते। प्रबल मनोबल वाले अगले कुंभ की प्रतीक्षा में अपनी जीवनी शक्ति संजोते। हर कुंभ उनके लिए मृत संजीवनी सुरा की भूमिका अदा करता। सन् 2001 का महाकुंभ हाइटेक इवेंट था क्योंकि इस मेले में होने वाली गतिविधियों का आंखों देखा हाल इंटरनेट पर उपलब्ध कराया गया। भूले भटक के की तलाश का काम भी कंप्यूटर के सुपुर्द किया गया। इलाहाबाद के लिए यह चमत्कार से कम नहीं था जहां यह माना जाता था कि कुंभ में खोया बालक या बूढ़ा अगले कुंभ में ही बरामद हो सकता है। सभी बड़े साहित्यकारों ने समय समय पर कुंभ पर लिखा। अज्ञेयजी, अशकजी, नरेश मेहता और निर्मल वर्मा के संस्मरण याद आ रहे हैं। हिंदी में महिला कहानी लेखन की शुरुआत भी कुंभ मेले से मानी जाए तो गलत न होगा। राजेंद्र बाला घोष उर्फ 'बंग महिला' ने अपनी पहली या दूसरी कहानी 'कुंभ में छोटी बहू' इसी अनुभव पर लिखी थी।

यानी कमाल है। एक तरफ कुंभ नगरी दूसरी तरफ कला नगरी। प्रगतिशील लेखन का गढ़। क्रांतिकारी परिवर्तनों का परिसर। इसीलिए यहां सूटबूट पहनकर, माथे पर छापतिलक लगाए युनिवर्सिटी के प्रोफेसर मिल जाएंगे, तो चप्पल चटकाते गमछाधारी फ्रीलांसर; अकडू रिकशेवाले, अक्खड़ सवारियां, बातूनी वृद्धाएं और ठग्गू पंडे। छोटा होते हुए भी इस शहर का फलक बहुत विशाल है। अगले कुंभ की तैयारी में भले ही यहां लाखों पेड़, प्रशासन ने कटवा दिए हैं, यहां के गोशे गोशे से चंपा चमेली और गुलाबों की सुगंध आती रहेगी।

vxys v d ea tkjh

vejdv d l s d l yk % ueh k i k j ckn D; k---\

f'kj h" k [kjs

शिरिष ने पत्रकारिता के सुखद और शक्तिदायी राजमार्गों को तजकर ग्रामीण पत्रकारिता की धूल धक्कड़ से भरी पगड़ियों पर चलने को चुना है। उन्होंने देश के वंचित समुदायों के पक्ष में एक हजार रिपोर्टों का दस्तावेजीकरण किया है। अनेक पुरस्कारों सम्मानों से समादृत शिरिष की पत्रकारिता में प्रायः साहित्यिक गहनता साथ रहती है।

?WV पर लोग न के बराबर थे। वहां पर शांति थी। सूरज आंखों के सामने आ रहा था। सूरज की किरणें नदी में तैर रही थीं। फिर भी मैंने चारों तरफ गर्म हवा महसूस की। मैंने बिना छुए ही जाना कि आसपास की चट्टानें हल्की हल्की तप रही थीं। और हल्की तपती चट्टानों के बीच उस दोपहर एक बूढ़ा आदमी नदी के किनारे पर ही बैठा बीड़ी सुलगा रहा था। एक पल मुझे लगा यह जलती बीड़ी नदी को किसी भी पल झुलसा देगी और उसके आसपास की बड़ी आबादी तबाह हो जाएगी! मुझे ऐसा यूं ही ही नहीं लग रहा था। यह मैंने बाद में जाना।

वर्ष 2011 की तारीख 8 मार्च! तारीख ठीक ठीक इसलिए याद है कि 8 मार्च अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के तौर पर जाना जाता है, और वर्ष इसलिए याद है कि उसी वर्ष मुझसे मेरे हकीकत और फसानों का महानगर मुंबई छूट गया था। और वह दृश्य तो मैं बिल्कुल भी नहीं भूल सकता हूं कि मुंबई महानगर से दूर हम बरमान में नर्मदा के सतधारा घाट पर बैठे थे। हम यानि मैं और ज्योति। तब हमारी शादी नहीं हुई थी और शादी से एक बरस पहले वह अकेले मुंबई से भोपाल, और फिर भोपाल से मेरे साथ मेरे गांव मदनपुर अपनी होने वाली ससुराल आई थी। उन्हीं दिनों में से एक दिन हम मदनपुर से राजमार्ग चौराहा होते हुए वहां से महज आधे घंटे दूर बरमान में नर्मदा के सतधारा घाट पर बैठे थे। जबलपुर से कोई सवा सौ

किलोमीटर दूर नरसिंहपुर जिले से बहने वाली सतधारा के साथ मेरा बचपन से रिश्ता रहा है। वजह, एक तो मेरे गांव की सिंदूरी नदी नर्मदा में मिलती है। दूसरे, बरमान के सतधारा तट पर हर साल लगने वाला मकर संक्राति का मेला मेरी यादों में बसा है।

नर्मदा का अर्थ है आनंद देने वाली। यह बात सबसे पहले मैंने स्कूल के एक पाठ में पढ़ी। मैंने उस समय ज्योति को बताया कि जब से होश संभाला है तब से देखा और जाना है कि नर्मदा यहां सबकी भूख और प्यास मिटाती आई है। यह बात उसे भली भांति समझ भी आ गई थी, क्योंकि उसका बचपन भी महाराष्ट्र के सांगली शहर में कृष्णा नदी के किनारे बीता था। लेकिन, कोई दस साल बाद जब मैं सतधारा घाट लौटा तो देखा उसमें जल अत्यधिक रीत गया था। बचपन में नर्मदा में बहुत पानी हुआ करता था, जो एक दशक बाद एक पतली धारा में बदलता दिखा। लगा, नर्मदा सतधारा पर ही जल रही है। हालत इस हद तक पतली हो चुकी थी कि ऊपर पुल से रेत में नदी दिख रही थी, जबकि मेरे लड़कपन तक इसी जगह से नदी में रेत दिखा करती थी।

यही वजह है कि अक्सर मैं अपनी जगह नहीं लौट पाता हूँ, या अक्सर मैं अपनी जगह नहीं लौटना चाहता हूँ। मैं अपने गांव, खेत, जंगल, घाट, नदी नहीं लौटना चाहता हूँ। अक्सर मैं अतीत से जुड़ी उन जगहों पर नहीं लौटना चाहता हूँ जिन्हें मैंने जिया है ज्यों का त्यों।

इसलिए, सालों से जगह जगह घूमकर भी मैं अपनी जगह लौटने से रह जाता हूँ। मुझे लगता है कि सालों बाद मैं लौटूंगा तो उस जगह गांव, खेत, जंगल, घाट, नदी तो मिलेंगे, पर ज्यों के त्यों नहीं मिलेंगे। इतने सालों में चेहरे और नक्शों के अलावा भी तो कितना कुछ बदला ही होगा! मैं जैसा छोड़कर निकला था उससे तो बहुत कुछ बदला ही होगा! और फिर यह भी एक मोर्चा है जहां मैं तो रती भर समझौते के लिए तैयार नहीं हूँ।

फिर मेरे वर्तमान में मेरा हस्तेक्षप है। इसमें किसी चीज के बार बार टूटने की प्रक्रिया से खास फर्क इसलिए नहीं पड़ता है कि मुझे यकीन है यदि मैं चाहूंगा तो आखिरी तक सब संभाल ही लूंगा। लेकिन, मेरे अतीत को तो मैंने कब से आजाद छोड़ दिया है और मुझे लगता है कि अतीत की किसी चीज के होने या न होने या टूटने की प्रक्रिया पर अब मेरा कोई बस नहीं रह गया है।

उस समय कोई दस साल बाद जब मैं सतधारा घाट लौटा था तो पुल के नीचे वर्तमान में ज्योति के साथ उतरते हुए नर्मदा के एकदम किनारे तक जा पहुंचा। वहां हम दोनों ने शीतल धारा में अपने हाथ डूबो दिए। तब धारा की आवाज के अलावा उसमें शामिल हो सकने वाली कोई दूसरी आवाज सुनाई नहीं दे रही थी, यहां तक कि आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की आवाजें भी नहीं। लेकिन, तभी हैरान कर देने वाला ऐसा दृश्य सामने था जो इसके पहले कहीं नहीं देखा। हमारे करीब ही एक बाबा ने आंखें बंद कर सतधारा में एक कान धर दिया था। मानो वह डूबकर शांत सुर में नदी की आवाज सुन रहा हो। मैंने उसे सिरफिरा जान जल्द ही वहां से ध्यान हटा भी लिया था। लेकिन, वह ताड़ चुका कि मैं उसकी हरकत से हैरान हुआ हूँ।

“तुम्हें पता है क्या कर रहा हूँ?” उसने मुझसे पूछा।

“नदी को सुन रहे हो।”

“और?” उसने पूछा

इस बार मैंने कोई जवाब नहीं दिया तो वह बोला, “नदी कहानी सुना रही है।” मुझे यकीन हो गया कि वह सिरफिरा है। मैं भी थोड़ा दार्शनिक हुआ। सोचा, नदी का सुर और संगीत हो सकता है, क्या नदी की कोई भाषा होती होगी जो वह कहानी सुनाएगी! हम वहां से चल

दिए और पीछे मुड़कर देखा तो वह धारा पर कान लगाकर वैसे ही सुनता रहा जैसे नदी सच में उसे कोई कहानी ही सुना रही हो।

फिर मुझे याद आया कि मैं भी तो बचपन में अपने गांव की सिंदूरी नदी के किनारे बैठकर नदी की आवाज सुनता था। दसवीं में मैंने अपनी कल्पना से एक कविता भी लिखी थी। उन दिनों सिंदूरी पर छोटा बांध बनाने की तैयारी चल रही थी। मैंने जब सुना तो नदी से बात की थी। कविता कुछ इस तरह से लिखी गई होगी :

सिंदूरी

तू एक नदी की सरसराहट भर नहीं है

ग्राम मदनपुर के सैकड़ों लोगों की

सहज, सुंदर अभिव्यक्तियां तुझमें शामिल हैं

कोई पठार अब तक तुझे

विचलित कर नहीं सका अपनी राह से

भला एक छोटा बांध रोक सकेगा

नर्मदा मिलन की चाह से।

वह कविता टूटी फूटी याद करते ही मेरे भीतर एक प्रेरणा आई! मैंने तुरंत ज्योति के साथ उसे साझा किया। उसे बताया कि अब तक मैंने नर्मदा को अलग अलग समय में अलग अलग घाटों से देखा है। लेकिन, अब मैं इसे एक तारतम्य में देखने और सुनने के लिए इसके प्रारंभ से कुछ सौ किलोमीटर की यात्रा करना चाहता हूं। यही पांच, छह, सात आठ सौ किलोमीटर की। इसकी वर्तमान धाराओं पर जा जाकर कहानियां सुनना और सुनाना चाहता हूं। इस बार वह नहीं समझी। पूछा, “नौकरी छोड़ेंगे! इतनी लंबी छुट्टी देगा कौन?” मैंने कहा देखेंगे! अमरकंटक से होशंगाबाद तक भी घूम पाया तो मेरा मकसद पूरा हो जाएगा। प्रेस की नौकरी से हटकर इसके लिए बीस दिन की छुट्टी भी लेनी पड़ी तो ले लूंगा।

उस दोपहर घरवालों को हमारे घर से बाहर निकलने पर भले ही अच्छा न लगा हो, लेकिन ज्योति मेरे सकारात्मक विचारों को जान खुश हुई। इसके बाद हम कार से घर लौटे। रास्ते में लौटते समय मैं सोचने लगा कि हल्की तपती दोपहरी यदि बूढ़े ने घाट पर बीड़ी न सुलगाई होती तो मुझे मेरे अनुभव और अहसास नदी की कगार पर लगी आग से सचेत नहीं कराते। और यदि वह बाबा सतधारा पर कान धर कहानी न सुन रहा होता तो मेरे मन में प्रेरणा नहीं आती। आमतौर पर प्रेरणाएं विपरीत परिस्थितियों में पैदा होती होंगी।

सतधारा, बरमान से लौटे सात साल हो गए। फिर भी वह घटना और उसके बाद नर्मदा यात्रा की पूरी स्मृति कथा मेरे भीतर इस तरह चल रही होती है मानो यह कोई आठ पंद्रह दिन पुरानी बात हो।

nks

12 मार्च, 2011 को हम यात्रा पर हैं। सुबह साढ़े छह बजे ही हम मदनपुर से करेली आए और फिर करेली से हबीबगंज, भोपाल के लिए हबीबगंज जनशताब्दी में बैठ गए हैं। असल में हबीबगंज से अगली ट्रेन पकड़कर मुझे एक अलग दिशा की ओर दिल्ली जाना था और ज्योति को भोपाल एयरपोर्ट पर फ्लाइट से एक दूसरी दिशा की ओर मुंबई उड़ जाना था...

बस की यात्रा पांच घंटे से कम रहे तो ही ठीक। ट्रेन की बात कुछ और होती है! स्कूल

के दिनों में कुछ प्राइवेट स्लो खटारा बसें गांव से बाहर निकलने का मुख्य जरिया हुआ करती थीं। वे बहुत ही ज्यादा समय खा जाती थीं। गांव से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर भोपाल पहुंचने में ही करीब छह घंटे लगा देती थीं। ट्रेन में मैं पहली बार भोपाल के हबीबगंज से इटारसी स्टेशन के लिए नौ साल की उम्र में बैठा था। दूसरी बार ठीक बीस साल की उम्र में हबीबगंज से नागपुर स्टेशन के लिए।

और उसके बाद तो जिंदगी में रह रहकर कई सुरंगों से गुजरने का दौर शुरू हुआ। कभी छोटी सुरंग तो कभी बड़ी सुरंग, एक के बाद दूसरी और तीसरी और चौथी सुरंग। खुले मैदान और मोड़ों से फिर उन्हीं सुरंगों का अंधेरा, साथ हल्की रोशनी। जैसे नदी में पानी का साम्राज्य, पहाड़ों पर पत्थरों का साम्राज्य, जंगल में वृक्षों का साम्राज्य वैसे ही सुरंगों में अंधेरे का साम्राज्य। जैसे नदी, पहाड़, जंगल में जीवन वैसे सुरंगों के भीतर अंधेरे में भी जीवन का अहसास।

और उसके बाद दिन बदले, दुनिया घूमी लेकिन बचपन की कहानियों के रहस्य रोमांच से अंधेरा नहीं छटा। रहस्य रोमांच जिज्ञासाओं को जन्म देते और जिज्ञासाएं एक जगह ठहरने कहां देती हैं! वे तो एक से दूसरे, तीसरे और चौथे पांचवे पड़ाव ले जाती हैं। हर पड़ाव अपना एक मकसद हासिल कर लेता है।

यात्रा में कुछ पहाड़ मिलते हैं तो कोई न कोई नदी भी। किसी आदमी में पर्वत होता होगा, जो उसे स्थिर बनाए रखता होगा। मुझमें शायद नदी बहती होगी, जो भीतर से बाहर नजदीक की नदियों की तरफ खींचती रहती है।

जब कभी छोटी छोटी यात्राओं के दौरान सुरंगों से बाहर निकलने का मौका मिला तो किसी नदी ने ताजगी और उत्साह से भर दिया। हालांकि, कई बार छोटी से छोटी यात्रा का ख्याल भी नीरसता पैदा कर देता है। लेकिन, मैंने जब जब छोटी से छोटी यात्रा की तब तब जाना कि एक यात्रा भी किसी नदी की तरह यात्री को सरस ही नहीं, सरल भी बना देती है।

दिन बदले, दुनिया जरा और घूमी तो मैंने जाना कि यात्रा के पीछे कई कारण हो सकते हैं; जैसे खुशी, प्यार, तकरार और आजादी और सरोकार इत्यादि।

और ट्रेन में इसी समय यात्रा के दौरान मुझे एक और यात्रा की प्रेरणा हासिल हुई है। मेरी सीट खिड़की वाली है, लेकिन जिस स्थिति में है उस जगह से यात्रा करते लग रहा है कि ट्रेन मुझे उलटी दिशा में ले जा रही है। अक्सर ऐसा ही होता है। उस सुबह मैंने चलती ट्रेन से खिड़की के बाहर देखा; गाडरवाड़ा से पिपरिया और होशंगाबाद होकर हबीबगंज स्टेशन के रास्ते कई छोटी और हरीभरी पहाड़ियां उलटी दौड़ती दिख रही हैं। मैं अपना चेहरा देख तो नहीं सकता हूँ, लेकिन महसूस करता हूँ कि चेहरे से सुबह की थकान गायब है। लगा, हवा में ठंडक तैरने लगी है। घर, परिवार और गांव से बिछड़ने की टीस मिटी जा रही है। इससे पहले मैं जिज्ञासावश यह देख पाता कि वह ठीक ठीक कौन सी जगह है, जिंदगी मुझे धड़धड़ाते हुए उलटी दिशा की ओर एक नई सुरंग में ले जा चुकी है...

rhu

नर्मदा यानी मध्यप्रदेश की जीवजरेखा जो महाराष्ट्र, गुजरात से गुजरते हुए करोड़ों जन का भाग्य भी तय करती है। लेकिन, आज 20 मार्च, 2011 को जब मैं दिल्ली के लक्ष्मी नगर से आँटो में निजामुद्दीन रेलवे स्टेशन की ओर जा रहा हूँ तो आठ दिनों के शोध के बाद मेरे मन में अथाह पानी के भीतर सदियों से समाए काले पत्थर अपना पूरा पत्थरपन लिए उभर रहे हैं।

वाशिंगटन डीसी के वर्ल्ड रिसोर्सेज इंस्टिट्यूट की रिपोर्ट पढ़ने के बाद दिमाग में चल भी क्या और सकता है! यह रिपोर्ट नर्मदा को दुनिया की छह सबसे संकटग्रस्त नदियों में शामिल बता रही है। नर्मदा बनी ही जंगलों से है और यह अब तक बची भी थी तो इसलिए कि एक ओर सतपुड़ा तो दूसरी ओर विंध्याचल की पर्वतमालाओं ने इसे ढका हुआ था। लेकिन, आठ दिनों के भीतर मैंने जाना कि इन पर्वतमालाओं में जंगलों की लगातार कटाई ने नर्मदा के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। यहां दिल्ली महीने भर बाद लौटें तो शहर का नक्शा बदला हुआ लगता है, वहां बीस दशक में नर्मदा तट का भूगोल जितना नहीं बदला था उतना बीस साल में बदल गया है। फिर ऑटो के बाहर दिल्ली की सड़क देखता हूं, विकास मार्ग पर बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल के शोध का सार याद दिलाता है कि नर्मदा का तटीय इलाका कभी एक हजार मीटर तक चौड़ा हुआ करता था, जो घटकर किनारों से सट गया है। विकास यहां भी जारी है और वहां भी। इतना कि बड़े बांधों और खुदाई की बड़ी मशीनों ने नर्मदा का सैकड़ों मील लंबा तट लील लिया है। चौसठ हजार साल में जितना जंगल नहीं कटा था उतना आजादी के चौसठ साल में कट गया है। मैंने केंद्रीय जल आयोग की रिपोर्ट हासिल की तो मालूम हुआ कि नर्मदा में उसकी क्षमता का आधा ही जलभराव हो पाता है और वह भी लगातार घटता जा रहा है।

प्रगति मैदान पहुंचा तो मन में आया कि नर्मदा बहेगी तभी तो रहेगी! लेकिन पांच बड़े बांधों के चलते इसका जलप्रवाह बंद हो गया है। फिर भी यह जिंदा है, लेकिन जब मैंने सरकारी घोषणाओं से जाना कि सरकार जबलपुर से नरसिंहपुर के बीच किनारे किनारे झुंड के झुंड कोयले वाले बिजलीघर बनाने जा रही तो लगा कि इसकी मौत तय है। बिजलीघर नदी को तो चूसेंगे ही, बदले में छोड़ी जाने वाली राख से उसे खाक भी कर देंगे। फिर जबलपुर के भूकंप केंद्र कोसमघाट से चालीस किलोमीटर दूर चुटका में बनने वाले परमाणु बिजलीघर ने मुझे कंपा दिया। यह जापान जैसा हादसा न दोहराए तो भी अपने विकिरणयुक्त जल से नर्मदा में जहर तो भर ही सकता है!

इन आठ दिनों में मुझे पुणे विश्वविद्यालय का नौ साल पुराना अध्ययन हासिल हुआ है जिसके अनुसार व्यापक स्तर पर मौसम के बदलाव से नर्मदा घाटी की जल उपलब्धता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इससे छोटे छोटे अंतराल पर कभी प्रलयकारी बाढ़ तो कभी भयावह सूखा पड़ेगा। गई शताब्दी के शुरुआती पचास साल के मुकाबले गुजरे साठ साल में विकराल बाढ़ की आवृत्ति में तेजी से बढ़ोतरी आई है। मैंने आईआईटी, नई दिल्ली का छह साल पुराना अध्ययन ढूंढ निकाला था। इसकी मानें तो ग्रीन हाऊस गैसों का प्रभाव बढ़ने से बरसात और नर्मदा के जल की उपलब्धता में खासी कमी आएगी। भारतीय मानक संस्थान की रिपोर्ट हाथ लगी तो जाना कि नर्मदा का पीएच स्तर 9.02 हो गया है। आंकड़े के अंकों से यही जोड़ लगा पाया हूं कि नर्मदा में प्रदूषण अपने खतरनाक स्तर पर पहुंच चुका है।

उफ! मथुरा रोड से होकर स्टेशन के बाहर उतरता हूं और ऑटो वाले को पैसे देकर स्टेशन में दाखिल होता हूं। यहां बहुत सारी ट्रेनों और भीड़ को देखकर मेरे जेहन में अकेले इंदौर की आद्यौगिकपट्टी पर ही तेरह सौ से अधिक इकाइयों के प्रदूषण मानकों को धुएं में उड़ाने वाली तस्वीर आती है। फिर यह बात भी कि गंगा का जहरीलापन देखकर सरकार कह चुकी है वह गंगा के किनारों पर कोई उद्योग नहीं लगाएगी। नर्मदा के बारे में राज्य सरकार ऐसा क्यों नहीं सोचती है! क्या कुछ साल बाद गंगा प्रदूषण बोर्ड की तरह नर्मदा के लिए भी कोई प्रदूषण बोर्ड बनाने की योजना चल रही है?

मैं जब साढ़ियों से नीचे प्लेटफार्म पहुंच चुका होता हूं तो मुझे चलती रेल की आवाजों में नर्मदा की चीत्कार सुनाई देती है, बोगियों में एक दृश्य दिखाई देता है जिसमें कुछ बच्चे ही अपनी मां की हत्या करने पर आमादा हैं। लेकिन, इस चीत्कार में भी मुसीबतों की फिक्र अधिक है, जो उसकी करोड़ों संतानों पर तब आ सकती है जब नर्मदा का ममतामयी आंचल उनके सिर पर न रहेगा। और तेजी से गुजरती दो ट्रेनों के बीच एक अंतराल बाद...

20 मार्च, 2011 को आज शाम छह बजे निजामुद्दीन जबलपुर एक्सप्रेस से नर्मदा की यात्रा के पहले एक रात की यात्रा। साइड लोअर सीट।

समय कोई बीस दिन। लेकिन, वापसी का टिकट नहीं। इस दौरान नदी के कोई छह सौ किलोमीटर मार्ग से नदी के मुख्य स्थानों तक पहुंचने का लक्ष्य।

जबलपुर के बाद की यात्रा की कोई तैयारी नहीं। रेल, बस, दो पहिया, चार पहिया, पैदल और नाव से जाना पड़ सकता है।

यह मार्च के आखिरी दिनों का समय है तो धूप होगी ही। हैंडबैग में गमछा, तांबे की बोटल, मोबाइल चार्जर, नर्मदा पर फ़ैक्ट शीट, अखबार की कतरनें, मिनी लैपटॉप और कपड़े वगैरह।

साथ ही जबलपुर, अमरकंटक, डिंडौरी, मंडला, चुटका, नरसिंहपुर, पिपरिया, होशंगाबाद और केसला में परिचितों की संपर्क सूची। सूची में आम लोग, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता, अफसर, साहित्यकार, फोटोग्राफर, शोधकर्ता, अधिवक्ता, स्कूल के मित्र और रिश्तेदारों के नाम।

दिल्ली से जबलपुर की यह पंद्रह घंटे लंबी मेरी पहली यात्रा है, लेकिन यात्राएं मेरे लिए दिनचर्या सी हो गई हैं, इसलिए एक हजार किलोमीटर की दूरी भी नजदीक ही लग रही है।

जबलपुर नर्मदा के किनारे का सबसे बड़ा शहर है, जो नर्मदा के उद्गम स्थल अमरकंटक से कोई ढाई सौ किलोमीटर दूर है। एक वह दौर भी था जब बारहवीं पास होने तक मैंने जबलपुर देखा नहीं था और मेरे गांव से सवा सौ किलोमीटर दूर होने के बावजूद जबलपुर मुझे एक दूसरी दुनिया की तरह बहुत दूर लगता था। लेकिन, दिल्ली से जबलपुर की ट्रेन पर सवार खटर, खटर, खटर, खटर के बीच मैं यात्रा में होकर भी यात्रा में शामिल महसूस नहीं कर पा रहा हूं। दरअसल, मुझे पता है कि मेरे भीतर की नदी जबलपुर आने के बाद ही हिलोरें मारना शुरू करेगी और नर्मदा के प्रति मेरा पुराना राग जबलपुर पहुंचकर भेड़ाघाट का धुआंधार बन जाएगा। नर्मदा मेरे लिए अपरिचित जान पड़ रही है, इसलिए देर रात नर्मदा नदी पर हर पड़ाव की कल्पना और अधिक आकर्षित करने लगी है।

pkj

और आज 21 मार्च, 2011 की सुबह आठ बजे जब जबलपुर रेलवे स्टेशन पहुंचा हूं तो ट्रेन से उतरने वाले हर यात्री की थकान अपने चेहरे पर महसूस कर रहा हूं। इस तरह कि पूरा जबलपुर शहर ही थका थका लग रहा है। स्टेशन के नजदीक ही स्थित एक होटल पहुंचने तक सड़कों से गुजरते हुए सब शांत शांत लग रहा है। एक बड़े शहर से छोटे शहर में आने का असर है। बचपन में मेरे लिए जो महज एक बड़ा शहर था, आज लौटा हूं तो यह रानी दुर्गावती, ओशो और हरिशंकर परसाई का कस्बाई शहर लग रहा है। जबलपुर जिसका इतिहास कितना ही लंबा क्यों न हो, पर मुख्यतः इस शहर पर राजगौड़, मराठा और ब्रिटिश राज की छाप दिखाई देती है। मध्य भारत के इस शहर में इतिहास, साहित्य, संस्कृति, दर्शन और राजनीति आपस में गुथमगुथ्या हैं तो विस्थापन की टीस भी। वजह, नर्मदा नदी के किनारों से पहला विस्थापन

सन् बहतर में तब शुरू हुआ जब यहां बरगी में नर्मदा पर पहला बड़ा बांध बनाना तय हुआ। जबलपुर में दो दिन रुकने के दौरान यहां बरगी बांध विस्थापितों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले राजकुमार सिन्हा, नर्मदा पर यात्रा वृत्तांत लिख रहे छायाकार रजनीकांत यादव, प्रस्तावित कोयला बिजलीघरों के कारण नर्मदापट्टी पर आसन्न संकट के विरोध में आने वाले रजनीश दुबे, अधिवक्ता जयंत वर्मा और मेरे कॉलेज के दोस्त जबलपुर में ईटीवी के ब्यूरो चीफ विश्वजीत से विस्तार से बातचीत हुई है। जबलपुर से निकलते समय राजकुमार सिन्हा और रजनीकांत यादव का एक सवाल कॉमन है, “ज्ञानरंजन जी से मिले।” साहित्यकार ज्ञानरंजन जी का नाम तो मैंने कई दफे सुना था, लेकिन साहित्य से अनजान था, इतना कि यही नहीं पता था उन्होंने लिखा क्या है! ‘पिता’, ‘घंटा’, ‘यात्रा’, ‘फेंस के इधर उधर’ और ‘हास्यरस’ जैसी उनकी कहानियां बहुत बाद में पढ़ीं।

इन चार पांच लोगों से अलग अलग बातचीत के दौरान इस मुकाम पर पहुंचा हूं कि मुझे यात्रा और लिखने के दौरान फिर एक और पीड़ा और यातनाओं के दौर से गुजरना होगा। जाने वो कैसे लोग थे जिन्हें लिखते समय आनंद हासिल हुआ! खैर, जबलपुर से निकलने समय मेरे पास अलग अलग जगहों पर मददगारों की पहले से बहुत लंबी सूची है और एक मोटा खाका भी। यह तो तय था ही कि नर्मदा को धर्म और अध्यात्म की नजर से हटकर देखूंगा, लेकिन यहां मेरे भीतर से नदी क्षेत्र को एक समाज वैज्ञानिक के नजरिए से देखने की हूंक उठी है। मैं समाज वैज्ञानिक तो नहीं हूं, फिर भी नदी किनारे का आदमी तो हूं ही। मुझे अब यह भी समझ आ गया कि यदि मैं ‘मैं’ और ‘मेरी यात्रा’ से बाहर नहीं निकला तो नर्मदा की यात्रा अपना मकसद खो देगी।

इसके अलावा नर्मदा सिर्फ सौंदर्य का नाम नहीं है, घाट दर घाट, जंगल दर जंगल, गली दर गली, कूचे दर कूचे यहां आज कई तरह की विभिन्नताएं और समस्याएं हैं। इसलिए, यात्रा को तारीखों में बांधना भी ठीक न होगा। इसलिए, यात्रा को तारीखों की बजाय पड़ाव दर पड़ाव मुद्दा आधारित बना रहा हूं। जैसे,

अमरकंटक : बाक्साइट खदानों में खनन और तापमान

डिंडोरी और मंडला : जंगलों की अंधाधुंध कटाई और लकड़ी तस्करी

चुटका : परमाणु बिजलीघर के खतरे और बहु विस्थापन

बरगी : बड़ा बांध, अधूरी नहरें, खेती तथा जीव विविधता पर संकट

जबलपुर से होशंगाबाद : कोयला बिजलीघरों से नई आफत

डिंडोरी से भोपाल : बड़े शहरों से लेकर छोटे कस्बों तक नर्मदा के पानी की मांग, ठेकेदार और प्रदूषण।

ikp

काल के कंठ में अमरकंटक : ‘अपने पैर न डालें, सिर्फ हाथों से आचमन ग्रहण करें’। एक जलकुंड के चारों तरफ बहुत सारे मंदिर बन गए हैं और उनकी सफेद दीवारों पर एक जगह लाल अक्षरों से ऐसा लिखा हुआ है। मैंने जब पानी को हथेली में लिया तो मुझसे दूषित पानी पीते नहीं बना। यह कुंड है नर्मदा कुंड और जगह है जबलपुर से कोई ढाई सौ किलोमीटर दूर अमरकंटक, यहां से नर्मदा निकलती है, यहां से करीब तेरह सौ किलोमीटर बहकर नर्मदा अरब सागर खंभात की खाड़ी में मिलती है।

अमरकंटक, समुद्रतल से हजार मीटर ऊंचाई पर स्थित एक पहाड़ी क्षेत्र है, जिसे नदियों का मायका कहा जा सकता है, क्योंकि नर्मदा के अलावा यह सोन और जोहिला जैसी नदियों का उद्गम स्थल भी है। अमरकंटक, मध्य प्रदेश के अनूपपुर जिले का छोटा सा कस्बाई क्षेत्र है, जहां पर्यटक नर्मदा कुंड के अलावा नर्मदा के जलप्रपात कपिलधारा और दूधधारा तथा माई की बगिया वगैरह देखने आते हैं। लेकिन, आमतौर पर उनकी साधारण आंखें जो नहीं देख पाती हैं वह है पहाड़ी और नदी के बीच एक विशेष किस्म का रिश्ता। पहाड़ी के पथरों की विशेषता है कि ये स्पंज की तरह पानी सोखते हैं और उसी पानी को नदी तंत्र में छोड़ते रहते हैं। लेकिन, अमरकंटक पहाड़ी क्षेत्र पर नर्मदा नदी का मैलापन बता रहा है कि पहाड़ी और नदी का यह रिश्ता टूट रहा है और नदी की सेहत बहुत नाजुक है। अमरकंटक में ही नर्मदा सबसे अधिक मैली हो चुकी है, यह कहना है मध्य प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड का। बोर्ड का कहना है कि यहां बड़े पैमाने पर उत्खनन से निकले खनिजों ने नर्मदा में घुलकर इसका प्रदूषण इस हद तक बढ़ा दिया है कि यह जैविक तत्वों को पचा डालने की ताकत खो रही है।

23 मार्च, 2011 की दोपहर में नर्मदा कुंड के नजदीक हूं, दो बजे अमरकंटक का तापमान 35 डिग्री सेल्सियस पार हो रहा है। मेरे पास अनूपपुर निवासी और वरिष्ठ पत्रकार अमन नम्र की एक ताजा रिपोर्ट है, जो यहां के तापमान में बढ़ोतरी को पहाड़ और जंगल के अनियंत्रित दोहन का परिणाम बता रही है। रिपोर्ट कहती है, साठ के दशक में शून्य से 10 डिग्री कम तापमान में ठिठुरने वाले अमरकंटक को अब मई जून में 42 से 44 डिग्री की झुलसाने वाली गर्मी बर्दाश्त करनी पड़ रही है। यहां हर दशक में दो डिग्री तापमान बढ़ रहा है। सन् चौहत्तर तक यहां औसत सालाना बारिश 62 इंच थी, जो घटकर 44 इंच के नीचे पहुंच चुकी है।

मैंने यहां से मोबाइल पर भोपाल अमन नम्र से संपर्क साधा। उन्होंने बताया कि राज्य सरकार ने बहुत पहले एक सर्वे कराया था। सर्वे में अमरकंटक में छह सौ से ज्यादा वनस्पतियां पाई गई थीं। दुर्लभ जड़ी बूटियों और बाक्साइड की खदानों में अधिकतम उपभोग के कारण अमरकंटक की यह दुर्दशा हो गई है। सन् बासठ से बाक्साइड की जो खदानें खुलीं उनमें एक हजार हेक्टेयर से अधिक जमीन पर खुदाई का पट्टा दिया था। हालांकि, सरकार ने सन् नब्बे के बाद नई खदानों का पट्टा देने से इंकार कर दिया। लेकिन, अमरकंटक में बाक्साइड की खदानों की खुदाई ने जलस्तर पांच सौ फीट नीचे पहुंचा दिया है। यही वजह है कि अब नर्मदा कुंड (जहां नर्मदा पहाड़ की कोख से निकलकर पहाड़ की गोद में आती है) और उससे एक किलोमीटर दूर माई की बगिया (जहां नर्मदा पहली बार दिखकर लोप होती है) के बीच का दलदल सख्त होता जा रहा है।

अगले दिन सुबह सुबह अमरकंटक से डिंडोरी की ओर जाने से पहले मेरी एक साथी से बातचीत होती है। मैंने नर्मदा की दुर्दशा पर पूछा तो उन्होंने नर्मदा की ऐसी महिमा बताई जो संभवतः नर्मदा किनारे के हर आदमी को पता है। बोले, एक समय किसी कारण गुस्से में आकर नर्मदा लोप हो गई, उन्हें वापस बुलाने के लिए सभी पर्वतों से प्रार्थना की गई। सबने असमर्थता जता दी। आखिरी में विंध्याचल आगे आया। उसने अपनी मजबूत भुजाओं में नर्मदा की तेज धार को धारण किया। और नर्मदा को वापस लाने में सफल हुआ। साथी बस यही महिमा सुनाकर आगे बढ़ गया। साथी की कही कथा मिथक है। यदि मिथकों में सचमुच इतिहास के सूत्र होते हैं तो मैं देख रहा हूं कि अमरकंटक में इतिहास दोहराने लायक नहीं बचा है। वजह, बाक्साइड की खदानों में लगातार खनन ने विंध्याचल पर्वत को इस हद तक खोखला बना दिया है कि भविष्य में वह किसी भी नदी की तेज धार को धारण नहीं कर सकेगा। हमारी आंखों

के सामने विन्ध्य है, यह पर्वत ज्वालामुखी से निकले काले पत्थरों के कालांतर में बॉक्साइड और मुरुम में बदलने की विशेषता के चलते कई खनन ताकतों के लिए लूट की पहली पसंद बना।

अमरकंटक से सारतत्व यह है कि जिस नर्मदा के दोहन के लिए पूरी घाटी में परियोजनाओं का जाल बिछाया जा रहा है वह अपने उद्गम पर ही सूख रही है।

Ng

कटता जंगल घोर अमंगल : एक ओर, अमरकंटक के बाद जगह जगह जंगल को घेरती और अपने में सहायक नदियों को समाती हुई नर्मदा आगे बढ़ जाती है। दूसरी ओर, मैं अमरकंटक से सड़क मार्ग के जरिए नब्बे सौ किलोमीटर डिंडोरी जिले की तरफ बढ़ रहा हूँ। मुझे चलती टैक्सी और जंगल की हवा के साथ घुली मिली आवाजें एक छोर से दूसरे छोर ले जा रही हैं। चलती टैक्सी के साथ सूरज फिर मेरे साथ चल रहा है और जब तब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो सोचता हूँ कि नदी के साथ चलना भर नदी की यात्रा नहीं होती है। नदी के समानांतर इसके विशाल जंगल और समृद्ध जलग्रहण क्षेत्र को आत्मसात करते हुए आबाद छोटे गांवों को नापना भी नदी की यात्रा होती है। नर्मदा को जंगल से काटने के पहले बड़े दृश्य चटख धूप और खुले आकाश में बहुत साफ साफ दिखाई दे रहे हैं। नर्मदा के उद्गम के साथ एक और धारा बह रही है। इसमें शामिल हैं हरियाली में सूखे के चिह्न, सन्नाटे में खतरों के संकेत, सहज संसार में सरकारी दमनचक्र की मार, निश्चल भावनाओं के बीच घुसपैठिए, आधुनिकता और विध्वंस के बिंब तथा ध्वनियां।

नर्मदा जंगल से पैदा हुई नदी है। नर्मदा ग्लेशियर से निकली गंगा नहीं है कि बर्फ पिघली और पानी नदी की माफिक बहने लगा। इसलिए, नर्मदांचल में जंगल की सबसे बड़ी उपयोगिता नर्मदा का जल माना गया है। काबिलेगौर है कि जंगल का हर पेड़ दोहरी भूमिका अदा करता है। अबल तो यह बादलों को वो ठंडक देता है, जिससे वे बरसने पर मजबूर हो जाते हैं। दूसरा, यह बरसात के पानी को चौतरफा फैली अपनी जड़ों से रोकता है। जड़ों में रुका हुआ यही पानी बारह महीने आहिस्ता आहिस्ता नदी में रिसता रहता है। खास तौर से गर्मी के दिनों में। नर्मदा और उसकी सहायक नदियां बारहमासी यूँ ही नहीं कहलाती हैं।

किंतु, आज बादलों को जो ठंडक चाहिए वह जंगल कटने से कम हो रही है। इस इलाके के जंगल टहनियों से जड़ों तक तेजी से साफ हो रहे हैं। इसलिए, शिखर से जड़ों, जड़ों से जमीन और फिर जमीन के भीतर से नदी में पानी ले जाने वाली लाइनें टूट रही हैं। इसलिए, नर्मदा की लय ताल के साथ ही पूरे इलाके की लय ताल टूट रही है।

उत्सुकताओं के सफर में मैं बार बार पीछे देख रहा हूँ। फिर भी मैं रास्ते में पीछे छूटे कुछ गांवों के नाम याद नहीं कर पा रहा हूँ। बैगाचक यानी बैगा जनजाति बहुल इलाके से होकर बीच बीच में घना जंगल और आदिवासी। इन्हें देख मेरे मन में नदी और जंगल से भी मजबूत दृढ़ संकल्प। इस भावना के साथ कि लाख उत्पीड़न के बावजूद आदिवासी लोग कहीं तो अपनी जड़ों से अब तक जुड़े हुए हैं। लेकिन, अगले ही क्षण...

“डिंडोरी से आगे मंडला जाते समय देखना नंगी पहाड़ियां दिखाई देंगी!” सेराइन गांव के धनसिंह पहले मुझे और फिर सूरज को ताकते हुए अपनी बात कहते रहे, “दसेक साल पहले तक जंगल इतना अधिक घना था कि यहां से सूरज दिखता भी नहीं था।” सूरज उम्मीद का प्रतीक होता है, लेकिन मेरे जेहन में भरी दोपहरी उम्मीद की जमीन फिर दरक गई। मैं सोच

में पड़ गया कि जब कभी नर्मदा की तबाही की बात होती है तो इसके पीछे छिपे इसके सबसे बड़े कारणों में से एक जंगल की तबाही की बात क्यों नहीं होती है?

...“हां तो भोग नहीं रहे!” करंजिया निवासी वीरसिंह ने यह बात इस तरह कही मानो इस दुष्परिणाम के पीछे उनका भी हाथ हो। उन्होंने बताया कि पच्चीसेक साल पहले तक भी रिमझिम बारिश कई दिनों तक होती थी। पानी रुक रुककर नहीं गिरता था। वह रिमझिम रिमझिम धरती में नीचे बहुत गहरे तक धंसता जाता था। मूसलाधार बरसकर माटी नहीं बहा ले जाता था।

तो कौन खा रहा है यहां के इन जंगलों को और क्यों? अध्ययन और लोग बताते हैं कि बैगाचक में पच्चीस तीस पहले तक मिश्रित जंगल हुआ करता था। फिर साल बहुल जंगल घोषित करने के बाद यहां वन विभाग की योजनाबद्ध कटाई ने साजा, धावड़ा, हलदू, तेंदू, गराड़ी जैसे कई वृक्षों को उजाड़ दिया। अब यहां अस्सी फीसदी साल के वृक्ष हैं। लेकिन, साल में तनाछेदक नामक कीड़े लगने के कारण फैलने वाली महामारी ने नर्मदांचल के जंगलों को काफी नुकसान पहुंचाया है। सफर में आगे बढ़ते हुए मैंने भोपाल वन विभाग के पूर्व अधिकारियों से बात की तो उन्होंने बताया कि इस महामारी का पहला बड़ा अटैक वर्ष 1983 में आया था तो साल के अलावा वृक्षों की बाकी प्रजातियां भी बड़ी तादाद में थीं, इसलिए पूरे जंगल पर उसका ज्यादा असर नहीं हुआ। लेकिन, वर्ष 1995 में जब दूसरी बार अटैक आया तो साल के अस्सी फीसदी वृक्ष प्रभावित हुए। वहीं, कुछ जानकार बताते हैं कि साल बहुल जंगल बनाने के लिए वृक्षों की बाकी प्रजातियों को नहीं काटा जाता तो यहां की पहाड़ियां ज्यादा हरी भरी दिखाई देतीं। इस मार्ग पर आगे समनापुर गांव के कुछ रहवासी एक अलग ही कहानी बता रहे हैं। इनका कहना है, महामारी का तो डर दिखाया गया बात कुछ और है। मेरा सवाल है, ऐसा कैसे?...जिससे उसकी आड़ में साल के कई वृक्षों को काटा जा सके। वजह, साल की लकड़ियों की मांग सबसे अधिक होती है। इसलिए, रहवासियों को लगता है कि करोड़ों रुपए कमाने के लिए महामारी के नाम पर साल का जंगल काटा गया है। साल के एक वृक्ष से बहुत लकड़ी मिलती है। कितनी तो इन्होंने हिसाब बताया और मैंने अनुमान लगाया, चालीस वर्गफीट। इस तरह तो दो से चार वृक्षों से लाखों रुपए कमाए जा सकते हैं। यही कारण है कि साल की लकड़ियों की तस्करी भी यहां जोरों पर होती रही है। स्थानीय रहवासियों ने मुझे यह भी बताया कि वृक्षों को सुखाने के लिए किस तरह से उनके तनों को छील लिया जाता है! और किस तरह कुछ ही दिनों में साल के विशाल वृक्ष खड़े खड़े सूख जाते हैं!

बहरहाल, शाम होने को है और शाम से पहले मुझे रात ठहरने के लिए एक होटल की तलाश में समनापुर से कोई पंद्रह किलोमीटर दूर डिंडोरी शहर जाना है। जाते हुए मैं फिर पीछे की ओर देखता हूं तो एक कतार में सुंदर, सच्ची और दमदार महिलाएं कदमताल करती हुई जंगल के रास्ते घर लौट रही हैं। मानो काम से लौट रहीं ये महिलाएं उजाड़ के दौर में भी अपनी रचनात्मकता को दर्ज करा रही हों। मानो इस हाल में भी वे हारी न हों, वे अपने परिवार के लिए कुछ लेकर ही लौट रही हों।

समनापुर, करंजिया जैसे जनजातीय गांवों की दुनिया से लौटकर डिंडोरी एक होटल में रहने का बंदोबस्त किया। इसके बाद का यह समय है किसी जगह चाय पीने का, या आदत के अनुसार चाय के बहाने शहर के गली कूचे और बाजार को देखने का। फिर पत्रकार लक्ष्मीनारायण अवधिया के कार्यालय में मुझे दूसरी चाय नसीब हुई, जहां अधिकारी और ठेकेदारों की सांठगांठ से जंगल की तबाही पर चर्चा का नया चैप्टर खुला है। खबरों की कतरनें बता

रही हैं कि अधिकतम राजस्व वसूलने के लिए अधिकारी जंगलों की नीलामी करके उन्हें जबलपुर और विलासपुर के ठेकेदारों को बेच रहे हैं। लक्ष्मीनारायण अवधिया बता रहे हैं कि जंगल में ठेकेदारों को कोई खास इनवेस्टमेंट तो करना नहीं पड़ता है। इसलिए, ऐसे ठेकेदारों के लिए यहां के जंगल बड़ी कमाई का जरिया बन गए हैं।

डिंडोरी से सारतत्व यह है कि जिस जंगल के बूते नर्मदा का अस्तित्व है उसे ही जड़ सहित खोदा जा रहा है।

I kr

विस्थापन की जमीं पर घटता विस्थापन : “एक एक लकड़ी और ईंट कैसे जोड़ी जाती है, यह सरकार को थोड़ी पता है!”

कुछ घटनाएं यदि हमारे सामने न घटें तो उनका मर्म हम कभी न समझ सकें, महज एक किताबी आदमी बनकर रह जाएं! ‘बहु विस्थापन’ शब्द का दर्द इसके एक साल पहले सूरत शहर में जाना था। और अब तपती हुई इस एक और दोपहर जब चुटका गांव पहुंचा हूं तो जयंतीबाई के तजुबे मुझे बहु विस्थापन शब्द की भयावहता से रूबरू करा रहे हैं। सूरत में शहर से शहर का विस्थापन था। चुटका में गांव से गांव का विस्थापन है। दोनों के केंद्र में ग्रामीण हैं।

मंडला से जबलपुर सड़क मार्ग पर बस से पहले नारायणगंज उतरा, फिर नारायणगंज से ऊबड़खाबड़ रास्ते से होकर भरी दोपहर चुटका पहुंचा हूं। मंडला से कोई पचहत्तर किलोमीटर दूर चुटका में अतीत अपने को दोहरा रहा है, जिसमें तीन दर्जन से अधिक गांवों की पचास हजार से ज्यादा आबादी का पहिया दूसरी बार विस्थापन पर आकर टिक रहा है। चुटका जैसे दुर्गम स्थान तक भरी गर्मियों के दिनों में मेरे पहुंचने का सबब यह है कि पहले चरण में यहां से चुटका, टाटीघाट और कुंडा गांवों से चार हजार की आबादी को उजाड़ा जाना है, जबकि इसके पहले बरगी बांध से जिन 184 गांवों को उजाड़ा गया था उनमें ये तीनों गांव शामिल थे। चुटका, यह वही गांव है जो परमाणु बिजलीघर के कारण देश भर में सुर्खियों में है, जहां परमाणु बिजलीघर से कुल चौदह सौ मेगावाट बिजली पैदा करने की तैयारी की जा रही है।

जयंतीबाई झारिया बरगी जलाशय के किनारे झोपड़ी में अकेली बैठी थीं। मैं और मुझे लेकर आए बरगी बांध डूब प्रभावित नवरत्न दुबे, उनसे उनके छोटे से आंगन में बतिया रहे हैं तो वे बता रही हैं कि एक एक लकड़ी और ईंट कैसे जोड़ी जाती है, यह सरकार को थोड़ी पता है! एक घर जो अपने लिए बनाया था वह तोड़ दिया। और दूसरा जो अपने बुढ़ापे के लिए बनाया है वह सरकार तोड़ने की ताक में है। कहां जाएंगे? उम्र के हिसाब से पचासवीं दहलीज पार कर चुकी जयंतीबाई का यह सवाल है। बरगी बांध से डूब के बाद अब चुटका से डूब का मतलब है अपने तबाही के बीते दिनों में लौटना। उन दिनों उनके पति का साथ था, इन दिनों में उनका साथ देने के लिए उनके पति भी जिंदा नहीं रहे।

जयंतीबाई की झोपड़ी से उठकर थोड़ी देर के लिए हम बरगी बांध के जलाशय किनारे पहुंचे, जमीन पर सूख रही एक उखड़े पेड़ की शाख पर बैठे। नवरत्न दुबे जलाशय को खामोशी से ऐसे देख रहे हैं जैसेकि उसके पानी में चिंता की लहरें तैर रही हों, “सरकार ने छब्बीस साल में एक भी वादा पूरा नहीं किया।” कौन से वादे? “हर परिवार से एक को नौकरी, पांच एकड़ जमीन, फ्री बिजली।” और? और मैं खुद सोच रहा हूं कि जो नदी कभी जीवनरेखा थी, इन

छब्बीस साल में कैसे इसके पास होना यहां के बाशियों के दुखों का कारण बन रहा है। मुझे मालूम है कि विस्थापन का अंत वापसी नहीं होता, जो लोग यहां से फिर उठा दिए जाएंगे वे कभी वापस नहीं लौट सकेंगे, क्योंकि मुझे मालूम है कि विस्थापन की नींव पर घटती विस्थापनों की प्रक्रिया जहां जहां दोहराई जा रही है वहां वहां वापसी संभव नहीं हो पा रही है। विकास इतना हो रहा है कि गांव उजड़ रहे हैं और शहरों में इनके लिए पैर रखने की जगह नहीं बच पा रही है। इन प्रभावों से इतर एक बूढ़ी अम्मा हमारे पास आकर खड़ी हो गई हैं। उम्र, अंदाजन सत्तर पार। पूछने पर अपना नाम टाटो बताती हैं। टाटोबाई के लिए यहां से उजड़ने का मतलब जमीन से नहीं जिंदगी से भी उजड़ना होगा। वजह, इस दहलीज पर वे अकेली ही हैं। हम टाटोबाई से क्या पूछें, वे हमसे पूछ रही हैं, “इतने कष्ट भोगे हैं, और कितने भोगने हैं!”

कुंडा के पूर्व सरपंच दयालसिंह मिले तो उन्होंने बताया, “सरकार ने शुरू से ही हमें अंधेरे में रखा है।” चुटका में जब रात हुई तो जाना कि सरकार ने तो वाकई इन्हें आज तक अंधेरे में कैसे रखा है। बरगी बांध की बिजली मध्य प्रदेश के बाहर बेची जा रही है और चुटका के लोग रात की रात जलती चिमनी के बीच बैठे बतिया रहे हैं। यह विडंबना ही है कि जिस चुटका में मध्य प्रदेश का पहला परमाणु बिजलीघर बनाने की तैयारी चल रही है वहीं बिजली नहीं है। यहां तक कि आसपास बिजली के खंबे तक नहीं हैं। बरगी बांध के लिए अपना जीवन बुझाने वालों के घरों में आज भी चिमनी जल रही है। यहां से समझा जा सकता है कि जो लोग बिजली के लिए कुर्बानी देने वालों में सबसे आगे हैं वे किस तरह बिजली की रोशनी से बेदखल कर दिए गए हैं। लिहाजा, जब भी कोई नेता या अफसर राहत का वादा करता है तो वह इन्हें धोखे की पटकथा का नया सूत्रधार क्यों नहीं लगेगा!

अब दूसरी बार धोखा न खाएं, इसलिए प्रभावितों ने चुटका संघर्ष समिति बनाई है, समिति के दुर्गेश वर्मन की पीड़ा है, “यहां तीन गांवों में मछुआरों की सहकारी समिति है। सब के सब मछलियां पकड़कर पेट पालते हैं। अब यहां से हटे तो जीने का आखिरी चारा भी जाएगा। बाहर मंहगाई में हमारा गुजारा न होगा।” मतलब अब यहां रहने लायक हालात बन रहे हैं तो सरकार कहती हैं, चलो भैया अपनी गृहस्थी बांध लो और अपना दाना पानी कहीं और देखो।

अगली सुबह जब जाने को हुए तो हमसे मिलने आई जयंतीबाई कहती हैं, पहले पानी की आफत आई, अब बिजली की आई, आगे भी आएगी ही, तो एक बात समझ आ रही है, हमें किसी भी कीमत पर अपनी जमीन नहीं छोड़नी है। जयंतीबाई के दिल में विरोध है। विरोध ही उनकी आखिरी उम्मीद है। विरोध विस्थापन का। विरोध अपनी जड़ों से उखड़ने का। विरोध भावनात्मक घावों के खिलाफ, जिनसे ये अब तक उबर नहीं सके हैं। विरोध से विरोध तक यहां यह जाना जा सकता है कि विस्थापन महज एक घटना नहीं है, संघर्ष भी है जो चलता रहेगा।

22 मई, 1997 को जबलपुर में आया भूकंप यहां मुझे फिर याद आता है, जिसके झटके देर रात जबलपुर से कोई सवा सौ किलोमीटर दूर मेरे गांव मदनपुर तक पहुंचे थे। गूगल पर सर्च करने पर पता चला कि 6.5 तीव्रता के इस भूकंप का केंद्र कोसमघाट था। यह चुटका से 40 किलोमीटर दूर है। कुछ दिनों पहले भूकंप के कारण जापान में फुकुशिमा की आपदा बदलती जलवायु और भौगोलिक स्थितियों को झेल पाने की क्षमताओं के नजरिए से परमाणु बिजलीघरों पर संदेह जता रही है। वैसे भी वे सारी परिस्थितियां सोच पाना असंभव ही है जो बदलती जलवायु भविष्य में अपने साथ लेकर आ सकती है। केंद्रीय पर्यावरण मंत्रालय चुटका

परमाणु बिजलीघर पर आपत्ति जता चुका है।

चुटका से सारतत्व यह है कि यदि जिंदगी और सुविधा के बीच एक को चुनना हो तो आदमी जिंदगी को चुनेगा। लेकिन, सरकार ने यहां दूसरा विकल्प चुना है। क्यों और किसके लिए?

vKB

बिजली के लिए कामधेनु : यह है जबलपुर से साठ किलोमीटर दूर घंसौर, जहां थर्मल पावर प्लांट प्रस्तावित है। प्रति घंटा छह सौ टन कोयला उपयोग में लेने वाला यह प्लांट हर घंटे डेढ़ सौ टन राख निकालेगा। ऐसा दावा है एजेंसी का। हालांकि, जानकारों का दावा है कि घंसौर में एजेंसी खतरे को बहुत कम आंक रही है। दरअसल, इस हिसाब से यह प्लांट प्रति घंटा ढाई सौ टन राख निकालेगा। मैं विशेषज्ञ नहीं हूँ, लेकिन यह बात तो तय है कि प्रति घंटा डेढ़ से ढाई सौ टन निकलने वाली राख के निपटान का एकमात्र उपाय नर्मदा का किनारा ही होगा। और फिर थर्मल पावर प्लांटों की यह श्रृंखला यहां से आगे जबलपुर, नरसिंहपुर, खंडवा और बैतूल तक जाने वाली है। यहां से मध्य प्रदेश की हद में पांच सौ किलोमीटर तक ऐसे एक दर्जन से अधिक थर्मल पावर प्लांट प्रस्तावित हैं।

घंसौर पर पहुंचने का मतलब यह हुआ कि नर्मदा बिजली के लिए कामधेनु मान ली गई है। लिहाजा, इसके पहले कि नर्मदापट्टी के लोग कुछ जान पाते और अपने बचाव में समझ पाते, तब तक मानचित्र पर और एक रेखा खींच दी गई। यह रेखा है, विस्थापन और पुनर्वास के अगले दौर की, जिस पर कुछ और अनगिनत नए गांवों की बेहिसाब आबादी आ गई है, यदि विकास का यह खाका लागू हो गया तो इसके पीछे से निकलने वाली राख पहाड़ों की लंबी श्रृंखलाएं बनाएंगी और यह ऐतिहासिक नदी इतिहास बन जाएगी।

नर्मदा की जिस कोख में थर्मल पावर प्लांट पल रहे हैं वहां के रहवासियों को भी अब विकास की परिभाषा समझ आने लगी है। वह भी अब असहमत नजर आने लगे हैं। ये विकास के नए पीड़ित हैं। करकबेल निवासी रजनीश दुबे पूछ रहे हैं कि बांधों की बिजली किसके लिए बनाई जाती है?...उद्योगों के लिए। बरगी बांध से जो बिजली बनी वह किसानों को मिली?... नहीं। सवाल भी उन्हीं के हैं और जवाब भी उन्हीं के पास हैं। सरदार सरोवर और इंदिरा सागर की बिजली कहां गई?...गांवों में आने से पहले शहरों में लुट गई। बिजली बनाने के लिए कई योजनाएं हैं, लेकिन बिजली के सही इस्तेमाल की एक भी योजना नहीं बन पाई है। क्यों?

विपत्तियों और तजुर्बों ने इन्हें जागरूक बना दिया है। नर्मदा पर निर्भर लोग विकास के लगातार हमलों से लड़ते रहे हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी लड़ाई लड़ने की एक परंपरा बन गई है। किसी त्रासद यात्रा को यदि वह बहुत लंबी हो तो उसे कम से कम शब्दों में पिरौना चुनौतीपूर्ण होता है, फिर यहां तो अन्याय की हद ही पार हो चुकी है, मानो विस्थापनों का विकास यहां किशत दर किशत सब खत्म करने पर अमादा हो। घंसौर से मुझे यह लगने लगता है कि स्थानीय लोग अपनी नदी को बचाने की आखिरी कोशिश कर रहे हैं।

दरअसल, नदियों के किनारे के लोग थर्मल पावर के खतरे जानते हैं। उनके सामने नर्मदा की सहायक नदी तवा के तट पर बसे सारणी कस्बे का उदाहरण है। सारणी में पावर प्लांट से निकलने वाली राख ने तवा का पूरा पानी प्रदूषित किया है। सचाई विकिमैपिया पर तीन सौ किलोमीटर की ऊंचाई से भी दिख गई। इस मुद्दे पर कई संवाददाता दोस्त कई रिपोर्ट कवर कर चुके हैं। रिपोर्ट बता रही हैं कि नदी में नहाने से स्थानीय लोग अपनी चमड़ी जलने की

शिकायतें कर रहे हैं। इस इलाके से खासी तादाद में फेफड़े खराब होने के प्रकरण भी सामने आए हैं। राख बहाने से पानी दूधिया हो गया है। मछलिया मर रही हैं।

घंसौर से सारतत्व यह है कि नर्मदा पर अभी तक के सबसे बड़े हमले की तैयारी की जा रही है।

UKS

बरगी पर नए संकट : क्या ऐसा हो सकता है कि नदी के दूसरे छोर पर मशीनों के खूंखार पंजे नर्मदा का सीना चीरकर रेत उलीच रहे हों और नदी के पहले छोर पर रेत ही नहीं बची हो। जवाब है— हां। नर्मदा के शुरुआती छोर जबलपुर के ग्वारीघाट पर आकर देखता हूं, यहां कई घाटों तक रेत नहीं पहुंच रही है। बरघाट से विस्थापित नत्थूलाल पटेल के साथ जब आसपास का दौरा किया तो पाया कि यहां के दो दर्जन से ज्यादा गांवों तक रेत नहीं पहुंच पा रही है। लेकिन, ऐसा क्यों है?

चुटका से कोई तीन घंटे का समय तय करके ग्वारी घाट पहुंचा हूं। यहां सन् बहतर के बाद एक पीढ़ी ऐसी है जिसने रेत, पानी, जंगल, जमीन, घाट, उद्योग, धुआं, बिजली, कारपेरिट, दमन, विस्थापन, वादे, राहत राशि, धोखे, विरोध, पुलिसिया बल, हिंसा, तबाही, अन्याय जैसे शब्दों के बुरे से बुरे पहलू को झेला है। बरगी बांध विस्थापित संघ के नेता राजकुमार सिन्हा ऐसी ही पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके साथ ग्वारीघाट और बरगी नगर घूमते हुए जाना कि संघर्ष किस तरह एक आम आदमी को विशेषज्ञ बना देता है। वे मेरे हर सवाल को शांति से सुनते हैं और बड़ी सहजता से जवाब देते हैं।

वैसे इस सेक्टर से जुड़े कई विशेषज्ञ और संस्थानों ने इसका गहरा अध्ययन किया है। इनका वही कहना है जो हम देख रहे हैं, कि इन घाटों तक रेत नहीं पहुंच पा रही है, क्योंकि बरगी बांध को बांधने के बाद कई दशकों तक पानी ठहरा हुआ है, इसलिए नदी के नीचे गाद जमा होती गई है, नजीजतन पानी का स्तर ऊपर उठता गया है। पहले जब नदी बहती थी तो उसके साथ रेत भी बहकर आ जाती थी। अब नदी ठहर चुकी है तो रेत भी नहीं पहुंच पा रही है।

बरगी नर्मदा पर बना पहला बांध है। 1972 से बनने वाला यह बांध 1990 में राष्ट्र के नाम समर्पित हुआ। राष्ट्रीय जल विज्ञान संस्थान, रुड़की का अध्ययन बताता है कि इस बांध में गाद जमाव की दर जलग्रहण क्षेत्र के प्रति वर्ग किलोमीटर पर सालाना 229 घन मीटर है। बरगी जलाशय की बनावट कुछ ऐसी है कि इसके पिछले हिस्से से बहकर आने वाले अवसाद कणों की गति कम नहीं हो पाती और वे बाहरी हिस्सों में बैठने की बजाय तेजी से मुख्य जलाशय में पहुंचकर गहराई तक जमा हो जाते हैं। इससे जलस्तर तेजी से उथला हुआ है।

बरगी नगर में मछुआरा समुदाय के कई घर हैं। यहां पहुंचने के पहले राजकुमार सिन्हा बता चुके होते हैं कि जितना पानी नदी की सतह पर बहता है उतना ही नदी के नीचे भी बहता है। जब से बरगी बांध बना है, नदी का पानी रुक गया, जिससे उसके नीचे पानी की शिराएं भी रुक गई हैं, और सतह के नीचे पानी का भंडार कम हुआ है। नतीजतन आसपास नाले, कुएं और तालाब भी रीत गए हैं।

बरगी नगर में मछुआरा समुदाय के संतू वर्मन से मुलाकात होती है। वे बताते हैं नर्मदा के भीतर मछलियां खत्म हो रही हैं। मैं पूछता हूं कब से? वे बताते हैं, जब से बरगी बांध बना है तब से। मैं कहता हूं ऐसे कैसे! वे बोलते हैं, बांध बांधने के बाद से। बांध से आगे धार

में बहुत कम पानी बचा है इसलिए। इसलिए, मछलियां कम होती जा रही हैं।

परेशानी सिर्फ मछुआरा समुदाय की नहीं है, बागवानी से जुड़े समुदाय की भी है। जब भोगा गांव से विस्थापित पुनाराम पाठक से मिले। तो वे बताते हैं कि बांध बनने के बाद यह आम बात हो चुकी है कि बांध के गेट बगैर किसी सूचना के खोल दिए जाते हैं। इससे साग सब्जियां चौपट हो जाती हैं। नर्मदा से उसके तटों की हरियाली भी छिन चुकी है। 'जंगल रहे, ताकि नर्मदा बहे' खाली समय में नर्मदांचल को समझने में एक मददगार किताब साबित हो रही है। इसके लेखक पंकज श्रीवास्तव ने लिखा है कि नर्मदा को लेकर जो संस्थान हैं वे उसके दोहन के लिए बने हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यहां सरकारी स्तर पर एक भी संस्थान ऐसा नहीं जो पानी, पत्थर, रेत, वनस्पति और मछली से लेकर उसमें उपयोग लायक किसी भी चीज को बचाने के लिए सीधे तौर पर जवाबदेह हो। गुजरात के साथ जल बंटवारे को लेकर नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण है। बांध या बिजलीघर बनाने के लिए नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण है। लेकिन, नर्मदा के प्रवाह को प्रभावित करने वाले कारकों पर जानने समझने के लिए कोई संस्थान नहीं है।

बरगी के अलावा तवा और बारना बांधों के छोड़े जाने वाले पानी से मध्य भारत के इन इलाकों में भारी तबाही मच जाती है। नर्मदा बेसिन पर दस बड़े बांध मुख्यधारा पर, बीस बड़े बांध सहायक नदियों पर, तीन सौ मंझोले बांध और तीन हजार छोटे बांध घाटी पर बंधेंगे। यहां से आप कल्पना कीजिए कि भविष्य में पूरी घाटी को जब करीब साढ़े तीन हजार बांधों में बांधा जाएगा तो उसी अनुपात में उत्पन्न भयंकर खतरों से कौन बचाएगा?

इस समय तक नर्मदा पर बड़े बांधों के कारण तेरह सौ किलोमीटर लंबी नर्मदा में से कोई साढ़े चार सौ किलोमीटर हिस्से में पानी थम चुका है। नदी का मूल तत्व है प्रवाह लेकिन, आज वह एक तिहाई झील बन गई है। नर्मदा की निर्मल अविरल छवि बदल रही है। हालत यह है कि आज बड़े बांधों ने उसके ठहरे हुए हिस्से को मलेरिया जैसी बीमारियों का स्रोत बना दिया है। अब झाबुआ और अलीराजपुर इलाके में मलेरिया के बढ़ते प्रकोप से हर साल आदिवासी लोगों के मारे जाने की खबरें सुर्खियां बन रही हैं।

में खुद नर्मदा के बारे में लगातार बुरी खबरों को पढ़कर बड़ा हुआ हूं। नर्मदा पर बनाये गए सरदार सरोवर, ओंकारेश्वर और इंदिरा सागर बांधों से छप्पन हजार हेक्टेयर जंगल डूब गया है। इसमें अकेले इंदिरा सागर के कारण जैव विविधता से भरपूर चालीस हजार हेक्टेयर जंगल डूब गया है। जंगल आज लगाया और कल तैयार नहीं हो जाता है। न ही उसकी संपदा को हुए नुकसान की भरपाई सरकारी या गैर सरकारी वनीकरण से ही संभव है। इसके अलावा, इंदिरा सागर बांध ने भी होशंगाबाद से हंडिया के रास्ते में विशाल शिलाखंडों से टकराने वाले धावड़ी कुंड के कई जलप्रपातों को डुबोया है। इधर, संगमरमर पत्थरों पर धुआंधार पानी गिरने के लिए विख्यात जबलपुर का भेड़ाघाट भी बरगी बांध के कारण खतरों में है। वजह, बांध से बरसात का रुका हुआ पानी अचानक छोड़ने से संगमरमर के पत्थर खराब हो रहे हैं। लेकिन, ऐसे नुकसानों को नदी का नुकसान माना ही नहीं जाता, या फिर उनकी गणना नहीं की जाती है।

सच तो यह है कि नर्मदा में हर सौ पचास किलोमीटर पर एक नए संकट से साक्षात्कार हो रहा है। जैसे ग्वारीघाट में नाव हल्के से झटका खाकर जब किनारे से दूर ले गई तो नदी में तैरती हरी घास को देखकर नाविक चिल्लाते हुए बोला, भैया यह घास जानलेवा है! कई लोग इसमें उलझकर डूब चुके हैं। उसने नाव को पूरी ताकत से दूसरी तरफ घुमाते हुए बताया कि उस घास को अजोला कहते हैं। बाद में जब मैंने पता किया तो जाना कि हर साल फरवरी

से मार्च के दौरान खूब फैलने वाली वह घास अजोल टेरीडोफाइटा समूह की एक जलीय खरपतवार है। उसकी मौजूदगी इस बात का लक्षण है कि पानी अत्यधिक दूषित हो चुका है। यह पानी में जैव विविधता की दुश्मन है।

एक घुमक्कड़ ने कहीं लिखा है कि किसी दुरुह जगह जब शरीर फंस जाए तो आत्मा से होकर निकल जाना चाहिए। ऐसी जगह खुद के भीतर और खुद तक पहुंचने की संभावनाएं अधिक होती हैं। संभावनाएं होती हैं अपने आप को खोजने की। एक पल मेरे जेहन में आया कि यदि वह नाव वहीं डूब जाती, या उस समय मैं अजोला घास में फंस गया होता तो? नदी किनारे का आदमी होकर भी तैरने के नाम पर मुझे तो थोड़ी देर हाथ पैर चलाना भर आता है।

ग्वारीघाट से सारतत्व यह है कि सरकार मुनाफे के लिहाज से नर्मदा के आजूबाजू जिन जगहों पर अधिकतम निवेश करने और विशालकाय ढांचे बनाने के लिए तैयार है उन्हीं जगहों पर निवेश से फंसकर होने वाले नुकसान के कारणों को जानने के लिए एक अध्ययन कराने तक को जरूरी नहीं समझती।

nl

नहर नहर कहर : बांध से खेतों की ओर जाने वाली नहर के बारे में सोचकर आपके मन में क्या कल्पना आती है? यही कि दोनों ओर पानी से लबालब खेत लहलहा रहे हैं। बरगी बांध से खेतों की ओर जाने वाली नहर किनारे के खेत पानी से लबालब होकर दलदल बन गए हैं। और हरियाली मानो पानी में ही तैर रही है। जी हां, बरगी बांध से खेतों तक पानी पहुंचाने के लिए अफसरों ने तीन दशक पहले जो काम शुरू किया था वह अब सिरदर्द बन गया है। इस नहर के बारे में दावा किया गया था कि वह पचास बरस तक लाभ देगी। उसे ही अब अपनी आधी उम्र तक पहुंचने से पहले फूटते हुए देख रहा हूं।

मैं राजकुमार सिन्हा के साथ मोटर साइकिल से जब नहर किनारे के खेत मालिकों से मिलने निकला हूं और खेत मालिकों से बात कर रहा हूं तो वे बता रहे हैं कि बरगी से निकली बाएं तट की नहर ने बीते साल चरगवां के पास कहर ही ढा दिया था। मेरे बैग में स्थानीय अखबारों की एक साल पुरानी कतरनें हैं, जिनमें छपा है कि आसपास के सात गांव के किसानों की सात सौ हेक्टेयर से अधिक की फसल सड़ गई है। 1978 में बरगी से नरसिंहपुर तक जाने वाली नहर के लिए ग्यारह सौ करोड़ रुपये खर्च का अनुमान लगाया गया था। लेकिन, जब हम इस नहर के साथ साथ चल रहे हैं तो अफसरों के दावों की पोल भी जहांतहां फूट रही है। हकीकत यह है कि लाभक्षेत्र के खेतों के दलदल बनने से किसानों की आजीविका का मुख्य जरिया छिनता जा रहा है।

हमें तलाश है ऐसे ही खेत मालिक की और बरगी बांध के समीप खापा ग्वारी गांव की शशिबाई हमें खेत में खड़ी मिलती हैं। उनसे बात की तो जाना कि बीते साल उनके खेत में कई क्विंटल गेहूं की फसल खड़े खड़े ही सड़ गई थी। हमने उनके साथ उनके खेत की एक फोटो खींची। तीन दशक पहले बहती हुई नहरों के दोनों छोर से हरियाली की जो तस्वीर दिखाई गई थी वह अब मेरे सामने पानी से लबालब डूबी हुई है। आज शशिबाई खेत के बदले खेत की मांग कर रही हैं। मैंने बांध से विस्थापितों की जमीन के बदले जमीन की मांग तो सुनी थी, पर यह नहीं सोचा था कि नहरों के लाभार्थी भी कभी खेत के बदले खेत मांगेंगे। लेकिन, यही सच है।

खापा ग्वारी से चालीस किलोमीटर तक नहरों से सटे खेतों का यही आलम है। यहां नहर नहर कहर के बीच किसानों के हिस्से का पानी, पसीना, आंसू नए बिंब और अर्थ दे रहे हैं। नहर का कहर अब इनका दैनिक दुख है। यह रोजमर्रा की जिंदगी का भाग है। विकास के युग में विसंगतियों को देखने के लिए हमें बहुत दूर नहीं जाना पड़ रहा है। हम बस इस नहर के साथ साथ चल रहे होते हैं।

वैसे विसंगतियों को समझने के लिए सत्तर के दशक का एक और प्रसंग पता चला। वर्ष 1975 में नर्मदा की सहायक नदी तवा पर बांध बना था। इसके बाद तवा नदी के इलाके में तवा विकास प्राधिकरण ने तीन सौ करोड़ रुपये खर्च करके सात सौ नलकूप लगाए थे। हैरान करने वाली बात यह है कि ये नलकूप खेतों को सींचने के लिए नहीं लगाए गए थे। ये नलकूप खेतों में जमा पानी को उलीचने के लिए लगाए गए थे। लेकिन, नलकूपों से कोई लाभ नहीं हुआ। यही वजह है कि वर्ष 1977 में 'मिट्टी बचाओ अभियान' शुरू हुआ। कई गांवों के खेत जलजमाव के शिकार बनें। वहीं, कई घर भरभराते हुए जमींदोज हो गए। नहरें चालू हुईं तो निचले इलाके की सड़कें गायब होने लगीं। जलभराव, खेत, सड़क, घर और गांवों की बिगड़ती स्थितियों को सुधारने का कोई भी उपाय अब तक नहीं सूझ रहा है।

नर्मदा, कभी कई विस्थापनों की एक साझा कहानी लगती है। और कभी अलग अलग विसंगतियों का एक उपन्यास। कभी विरोधाभासों का धारावाहिक। कहीं लूट की फसल। और इसके नीचे एक और धारा बहते देख रहा हूं, जो न मालूम और कितने हजार लोगों को अपनी गर्त में लेती जा रही है। नर्मदा और उसकी सहायक नदियां बीते तीस चालीस सालों से एक नया इतिहास बनने की राह पर हैं, जो इस सदी के तमाम देशों की नदियों के मद्देनजर विकास के विरोधाभास और विकास की विसंगतियों पर बहस की एक नई इबारत खींच रही हैं।

बरगी बांध से नरसिंहपुर जाने वाली नहर से सारतत्व यह है कि सरकार जिन जगहों पर लापरवाहियां कर चुकी है, उन्हीं जगहों पर सबक लेने की बजाय वहां पहले जैसी लापरवाहियों को दोहरा रही है।

X: kjg

टूट रहीं सहायक धाराएं : पुनः जबलपुर छोड़ने से पहले मैं नर्मदा समर्पित अस्सी पार एक चित्रकार और लेखक से मिलने उनके घर पहुंचा हूं। उनका नाम यहां कौन नहीं जानता अमृतलाल वेगड़। मैंने वहां उनसे उनकी नर्मदा नदी की पैदल यात्राओं के बारे में घंटे भर बातें कीं। जब चलने को हुआ तो उन्होंने थोड़ा ठहरने को कहा। फिर, अपने कमरे से आकर उन पैदल यात्राओं पर लिखी अपनी किताबों को एक सेट मुझे दिया, जिसे मैंने फौरन बैग में डाला और शाम साढ़े सात की ट्रेन से गाडरवारा जाने के लिए समय पर स्टेशन पहुंचने की हड़बड़ी में भूल गया। गाडरवारा से मुझे पिपरिया, फिर इटारसी, केसला, होशंगाबाद रुकते हुए जाना है। कहीं एक, कहीं दो तो कहीं ढाई तीन दिन रुक रुककर भोपाल पहुंचना है। और फिर वहां से दिल्ली...

बारहवीं क्लास तक मेरे भीतर दो शहरों के बीच कड़ा मुकाबला चला करता था। जबलपुर और भोपाल के बीच। इस बात पर कि दोनों में से कौन शहर बड़ा है। और कौन शहर आगे निकलने वाला है। जबलपुर में मदनपुर जैसे कितने गांव समा सकते हैं और भोपाल में मदनपुर जैसे कितने गांव समा सकते हैं। मदनपुर से जबलपुर शहर नजदीक होने के बावजूद चाहता

था कि डेढ़ सौ किलोमीटर दूर भोपाल में कहीं ज्यादा मदनपुर समा जाएं। वजह, साल में एकाध बार गर्मियों की छुट्टियों में महीना पंद्रह दिनों के लिए भोपाल जाना होता था तो भोपाल से लगाव अधिक रहा। बाद में मुंबई, दिल्ली, चेन्नई और पुणे जैसे कई बड़े शहर देखे तो दोनों शहरों के आकार पर तरस आया। सोचता हूं महानगरों में ही कितने भोपाल और जबलपुर एक साथ समा जाएंगे। इस बीच भोपाल में पास के कई मदनपुर जैसे गांव तो समाते ही जा रहे हैं। गांव शहर की ओर और शहर गांवों की ओर बढ़े जा रहे हैं। जबलपुर भोपाल की ओर और भोपाल जबलपुर की ओर बढ़े आ रहे हैं। अब चिंता इस बात की है कि ऐसे ही चलता रहा तो एक दिन असल मदनपुर ही भोपाल और जबलपुर में मिल न जाए!

ट्रेन स्टेशन से अभी कोई आधे घंटे दौड़ी होगी कि मुझे कुछ याद आया। मैंने सीट पर रखे बैग से किताबों का सेट निकाला। खोलकर देखा तो तीन किताबें थीं, 'सौंदर्य की नदी नर्मदा', 'अमृतस्य नर्मदा' और 'तीरे तीरे नर्मदा'। 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' का एक अंश तो स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल होने के कारण बचपन में ही पढ़ा था। याद आया कि बातचीत के दौरान उन्होंने नर्मदा की परिक्रमा करते हुए बुढ़नेर को 'युवनेर' कहा था। और फिर यह भी कि बुढ़नेर अपना रूप खो रही है। बुढ़नेर, कोई डेढ़ सौ किलोमीटर लंबी नर्मदा की एक सहायक नदी है। उनकी ही किताब से जाना कि यह बैगाचक के केंद्रीय बिंदु तांतर और ठाड़पतरा नामक दो पहाड़ियों के बीच एक छोटे झरने के रूप में निकलती है। डिंडोरी से मंडला के रास्ते पर एक गांव पड़ता है सकका। बस में यात्रा के दौरान वहां के एक बुजुर्ग ने मुझे बताया था कि बारह महीने तेज धार के साथ बहने वाली बुढ़नेर की छाती इन दिनों तक आते आते बैठ जाती है। इन दिनों तक मतलब अप्रैल के आखिरी दिनों तक।

लेकिन, नर्मदा की सहायक नदियों की दुर्बलता को मैंने पिपरिया से कुछ किलोमीटर दूरी पर ग्राम बनखेड़ी में अपनी आंखों से दुधी नदी के रूप में देखा। कुछ दिन पिपरिया में रुकना हुआ तो एकलव्य संस्था के साथी गोपाल राठी, पत्रकार नरेंद्र मौर्य और लेखक बाबा मायाराम के साथ समय बिताने का बहुत लाभ हुआ।

बाबा मायाराम मुझे अपनी मोटर साइकिल से बाघ आरक्षित सहित कई दुर्गम इलाकों में ले गए। घने जंगलों के भीतर के बाशिंदे बाघों को बचाने वाली योजना से डरे नजर आए। वजह, बाघों को बचाने के लिए यहां से कोई पचास गांवों को हटाया जाना है। सतपुड़ा का इलाका देशभर में इसलिए अनूठा कहा जाना चाहिए कि यहां सत्तर के दशक से विकास का जो नया दौर शुरू हुआ है उसने तवा नदी पर बांध, इटारसी में आयुध निर्माण कारखाने की स्थापना के साथ बहुत बड़ा जंगल खत्म कर दिया है। लेकिन, आधुनिक विकास पर सवाल उठाना ठीक नहीं समझा जाता है, इसलिए जो जंगल बचा है उसे बाघ आरक्षित क्षेत्र घोषित करके बाघ बचाने का कार्यक्रम चल रहा है। एक दिन विस्थापित ग्राम धाई और नई धाई के बीच सतपुड़ा की दुनिया मोटर साइकिल से उतरती रही, दूसरी तरफ पैदल चलते लोगों के साथ अलग दिशा में चलती रही। पिपरिया के एक होटल में देर रात लेटकर सोचता रहा कि पूरा दिन दोनों तरफ से कहीं कुछ तो छूटता जा रहा है। सुबह पिपरिया से छूटते ही सारा दिन धूप और गर्म हवा ने पैर जमाए रखे थे। इस बीच दो तीन बार रुके तो बाबा से विस्तार से बातें हुईं। उन्होंने अपनी किताब 'सतपुड़ा के बाशिंदे' के बारे में भी बताया। इसमें दुधी नदी पर भी विस्तार से लिखा गया है। दुधी नदी छिंदवाड़ा जिले में सतपुड़ा पहाड़ी के पातालकोट से कोई सौ किलोमीटर की यात्रा करती है। फिर होशंगाबाद जिले में खैराघाट के पास नर्मदा में मिलती है। इस बीच यह नरसिंहपुर और होशंगाबाद जिलों की भी सीमा तय करती बहती है।

लेकिन, नर्मदा से मिलने के लिए अब इसका खैराघाट तक पहुंच पाना मुश्किल हो पा रहा है। शाम को पिपरिया लौटे तो बाबा ने उनके घर पर अपनी किताब मुझे भेंट की। बाबा बताते हैं कि दुधी में पानी बरसात के चार महीने रहता है। बाकी समय दुधी केवल यादों में रहती है। अब इसके किनारे न कोसम के वृक्ष हैं, न उससे निकलने वाली लाख को धोने के लिए पानी। असल में दूधी के साथ कई गांव वालों की धार टूटी है। नहाने की बात छोड़ो, अब वहां न मछलियां हैं, न मछुआरे। नावें धूल खा रही हैं। वहां दुधी नदी कहां दिखती है, वहां तो उसका कंकाल दिखता है!

दुनिया के कुछ गिने चुने शहरों को हजारों साल से आबाद रहने के कारण सनातन शहर कहा जाता है। इतिहास में इन शहरों में हजारों साल प्राचीन नगरीय सभ्यता के रहने के सबूत मिलते हैं। भारत में बनारस शहर के बारे में भी यही कहा जाता है। बाबा के साथ मोटर साइकिल से सतपुड़ा की पहाड़ियां चढ़ते उतरते हुए मैं अपने आप से पूछता रहा कि क्या तुमने कभी किसी सनातन ग्राम का इतिहास पढ़ा है! इन मध्य भारत की छोटी बड़ी नदियों के किनारे आदिवासी बहुल बसाहटें कितने सालों से आबाद रही होंगी! इनका इतिहास तो नदी किनारे इनकी परंपराओं में दर्ज है, जहां वे अपने पूर्वजों की तरह रहने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन, नदियों की धार के साथ जहां तहां से भी हटाकर जैसे इनकी जीवनशैली, गीत, चित्र, दर्ज मौखिक इतिहास को भी हटाया जा रहा है।

बुढ़नेर और दुधी सहित नर्मदा में मिलने वाली कई बड़ी सहायक नदियों की अमूमन यही कहानियां हैं। नर्मदा की कुल इक्तालीस सहायक नदियां हैं। उत्तरी तट से उन्नीस और दक्षिणी तट से बाईस। नर्मदा घाटियों का जलग्रहण क्षेत्र एक लाख वर्ग किलोमीटर है। यह देश के भौगोलिक क्षेत्रफल का तीन फीसदी है। नर्मदा की आठ सहायक नदियां सवा सौ किलोमीटर से अधिक लंबी हैं। अब यहां से ध्यान देने वाली बात यह है कि इनमें हिरन, बंजर, डेब, गोई, कारम, चोरल, बेदा जैसी कई बड़ी और मध्यम नदियां पानी की कमी से जूझ रही हैं।

पिपरिया से सारतत्व यह है कि जिन तीन दर्जन से अधिक नदियों के बूते नर्मदा तेरह सौ किलोमीटर लंबी यात्रा तय करती है उन्हीं जलधाराओं की सांसें जगह जगह टूट रही हैं।

ckjg

मैया बन गई मालगाड़ी : अब तक मैं जबलपुर से पिपरिया और यहां से रवाना होते हुए एक हजार किलोमीटर से अधिक की यात्रा कर चुका हूं। जब पहली यात्रा समाप्त होने की कगार पर होती है तो मेरे भीतर दूसरी यात्रा की गति तेज हो रही होती है। यह होती है विचारों की यात्रा, जो शाम पिपरिया से इटारसी जाने के दौरान दौड़ पड़ी है। विचारों की यात्रा दृष्टिकोण तय करती है। दृष्टिकोण ही तो यात्रा के दौरान विनाश को विकास और विकास को विनाश के तौर पर रेखांकित करता है। एक दृष्टि ही तो है जो नर्मदा की यात्राओं के दौरान या उसके उपरांत अमृतलाल वेगड़ के वृत्तांत में नदी का सौंदर्य तलाशती है। वहीं, रजनीकांत यादव के वृत्तांत में टूटती, डूबती और समाप्त होती दुनिया की सच्चाई बयां करती है।

मेरी यात्रा के जनरल डब्बे में खिड़की के बाहर नर्मदा किनारे के अलग अलग तबके अपने हाथों में अपने अपने चेहरे लिए दौड़ रहे हैं। मैं देखता हूं कि मैं इन सबसे मिलकर आ रहा हूं, ये विकास नाम की अलग अलग समस्याओं से जूझ रहे चेहरे हैं। मेरी दृष्टि में विकास के गिद्ध इन्हें नोंच नोंच खा रहे हैं। मेरे भीतर के यात्री ने भीड़ में अपना सामान कसकर पकड़

लिया है। मेरा डर है कि नर्मदा के गांव, कस्बे, खेत, खलिहान, सड़कें, स्कूल, घाट, हाट, मेले, ठेले, तालाब, छोटी नदियां, पेड़, पहाड़, झरने आदि आदि अपने-अपनों के हाथ न छोड़ दें!

मेरी विचारों की यात्रा का अगला और मुख्य ठिकाना केसला गांव में सुनील भाई का घर है, जहां इटारसी से बस पकड़कर शाम ढले पहुंचा हूं। न सुनील सर और न सिर्फ सुनील, सुनील भाई नाम बगैर बात अधूरी ही रहेगी। इस आदिवासी इलाके में तीन दशक से रहते हुए ये कई घटनाक्रमों के साक्षी हैं और सुनील भाई के पास घटनाओं को देखने की अपनी अलग दृष्टि होती है। जहां बस ने उतारा वहां से टार्च के उजाले में समाजवादी जन परिषद के नेता सुनील भाई पतली गली से जब अपने घर ले आए तो देखा पूरे गांव की लाइट चली गई है। चिमनी जलाकर वे बोले, “थोड़ी देर में आ जाएगी, सबकी आएगी।” मिट्टी और घपरेल के छोटे से उस घर पर जब उनका चेहरा याद आता है तो सोचता हूं उस समय तक कहां सोचा था कि कुछ बरस बाद ही वे दुनिया से अचानक अलविदा कह देंगे, और भोपाल में आयोजित उनकी श्रद्धांजलि सभा में मुझे हाजिर होना पड़ेगा।

“नर्मदा पर पहला बड़ा हमला जो बांधों के साथ शुरू हुआ है उसने नदी का कुदरती प्रवाह रोक दिया है। अब तुम जो घूमे हो और दूसरे किस्म के हमलों के बारे में बता रहे हो, उनसे नर्मदा के पानी का रुख कारखानों की ओर हो जाएगा।” भोजन बनाते हुए सुनील भाई मुझे यह भी बता रहे हैं कि कैसे नर्मदा नदी को बचाने के लिए नीतिगत निर्णयों से जनता के अधिकारों को बेदखल कर दिया गया है। उन्हें अपने संसाधनों के प्रति पराएपन का अहसास कराया जा रहा है। जैसे नर्मदा को मरते हुए देखना ही उनकी नियति हो।

मैंने यात्रा के पहले केंद्रीय जल आयोग की रिपोर्ट से यह जाना था कि नर्मदा में जल की आवक आधी रह गई है। होशंगाबाद से भोपाल जाने के दौरान जब बड़वानी पानी के निजीकरण पर शोध करने वाले रहमत भाई को कॉल किया तो जाना कि नर्मदा पर कुछ और खतरों के बारे में तो अनजान ही था। रहमत भाई के साथ बड़वानी में ही डेढ़ साल काम करने का अनुभव है, इन्होंने मुझे बताया कि अब खंडवा, इटारसी, बुदनी और बैतूल सहित मध्य प्रदेश के चालीस से ज्यादा बड़े शहरों की मांग नर्मदा के पानी पर आकर टिक गई है। वहीं, तेजी से बढ़ते भोपाल, इंदौर और जबलपुर सहित मध्य प्रदेश के बीस बड़े शहरों की प्यास बुझाने के लिए नर्मदा का पानी पहले से ही दिया जा रहा है। इसी के सामानांतर बिजली पैदा करने के लिए मधेश्वर और ओंकारेश्वर जैसी बड़ी परियोजनाओं को प्राथमिकता की सूची में रखा गया है। फिर नर्मदा के दोहन के लिए महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान जैसे राज्यों की तैयारियां तो चल ही रही हैं।

आखिर यह प्यास बुझती क्यों नहीं? अमृतलाल वेगड़ की दृष्टि में नर्मदा पर आए संकट के पीछे आबादी का बोझ है। जबलपुर में उन्होंने मुझे बताया था कि आबादी विस्फोट के कारण जंगल कट रहे हैं, जबकि खेत, घर और कारखाने फैलते जा रहे हैं। ये सारे कारक मिलकर एक नदी पर इतना दबाव बना रहे हैं कि उसकी सांसें फूल रही हैं। वहीं, दूसरा तबका नर्मदा के संकट को सरकार की मौजूदा नीतियों से जोड़कर देख रहा है। यह मानता है कि नीतियां बनाने वालों का नजरिया शहरी है। साहित्यकार ज्ञानरंजन के शब्दों में, “यह तात्कालिक दुनिया में पापुलर कल्चर की संध है।” इसलिए, सरकार कोई भी आए अंततः पकड़ेगी उसी नजरिए वाली नीति को जो विशुद्ध तकनीकी है, और नर्मदा को महज एक संसाधन तक सीमित रखती है।

वरिष्ठ अधिवक्ता जयंत वर्मा की दृष्टि में नर्मदा पर जारी विकास को जनहित कहा जा

रहा है, लेकिन बांधों को सिंचाई के नाम पर बनाने के बाद उसे कंपनियों को सौंपना कैसा जनहित है! एक हाथ से सरकार संसाधनों का दोहन करके संरचनाएं खड़ी करती है और दूसरे हाथ से संरचनाओं को कंपनी के हाथों सौंपती है। इन्होंने जबलपुर में मुझे संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा का घोषणा पत्र दिखाया था और बताया था कि इसमें स्व निर्धारण का जन अधिकार, सार्वजनिक भागीदारिता और प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामित्व को विकास का सूचक माना गया है। पर, नर्मदा अंचल में जारी विकास तो तीनों सूचकों में से एक का भी संकेत नहीं करता है।

नर्मदा के कई रूपों को अपने कैमरे में संजोकर रखने वाले छायाकार और लेखक रजनीकांत यादव की दृष्टि में अब नर्मदा को देखकर रोया, हंसा या गाया नहीं जा सकता। क्यों? क्योंकि अब वह इमोशन मर चुका है। सबको पता चल चुका है कि इसे काबू में रखा जा सकता है। तकनीक के आने से जब नजरिया ही ऐसा हो रहा है तो यह मैया कैसे रही, यह तो मालगाड़ी बन गई। इधर सरकार की नीति है कि आइए हम आपको परोसने को तैयार हैं, और ये लीजिए नर्मदा, ये लीजिए उसके जंगल, पहाड़ियां और उधर कंपनियों के पास सारी खोदाखादी, काटने, छांटने के लिए मशीनें तैनात हैं।

वे आएंगे और देखते ही देखते तुम्हारी नदी को मैदान बना जाएंगे...

^eykdkr* % i Buh; rk Hkh fo'oI uh; rk Hkh

fueyk t&

I t; I gk; के हाल में प्रकाशित कहानी संग्रह eykdkr में छोटी बड़ी कुल पांच कहानियां हैं। इनमें से एक कहानी 'मिट्टू' के अलावा सभी का प्रकाशन 1999-2001 के दौरान मासिक पत्रिका 'हंस' में हुआ था। यानी कथाकार के रूप में संजय सहाय की प्रतिभा को पहचानने और उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित और प्रतिष्ठित करने का श्रेय राजेंद्र यादव को दिया जाना चाहिए। इस तथ्य का उल्लेख करना इसलिए प्रासंगिक है कि अपने लेखन और प्रकाशन के बारे में संजय सहाय में जो शील संकोच है वह आपाधापी और प्रतिस्पर्धा के वर्तमान माहौल में विरल ही नजर आता है। संग्रह की अंतिम कहानी 'एक बार फिर' हंस के अगस्त 2001 अंक में प्रकाशित हुई थी। इस तथ्य का उल्लेख करना इसलिए जरूरी है कि इनके लेखक ने इन्हें पुस्तकाकार रूप देने में लगभग सत्रह वर्ष खपा दिए। प्रस्तुत संग्रह में ये कहानियां अपने मूल रूप में सामने आई हैं या इनमें कुछ फेरबदल किया गया है, इसकी मुझे जानकारी नहीं है, पर अगर ऐसा हुआ है तो इसका कारण जानना भी दिलचस्प होगा। फिलहाल इनका वर्तमान पाठ ही विचारणीय है।

प्रियदर्शन ने सही ध्यान दिलाया है कि नब्बे के दशक में जिन कथाकारों ने 'नई कहानी के पारंपरिक ढांचे को लगभग तोड़कर जो नई जमीन बनाई और उसे विस्तार और गहराई देने का काम किया उनमें संजय सहाय भी एक रहे।' पर उदय प्रकाश, संजीव, शिवमूर्ति जैसे कहानीकारों की तरह ख्याति न पाने का मुख्य कारण शायद यह रहा कि संजय ने इनके अनुपात में बहुत कम लिखा। वरना 1994 में 'हंस' में प्रकाशित अपनी कहानी 'शेषांत' के प्रकाशन के साथ उन्होंने कथा साहित्य में जो नई लकीर खींच दी थी, उसकी संभावनाएं इतनी अलक्षित नहीं रह जातीं। पर ध्यान इस बात पर भी जाना चाहिए कि उन्होंने भले ही परिमाण में कम लिखा हो, पर उपेक्षणीय कभी नहीं लिखा।

संग्रह का आरंभिक 'आभार' प्रदर्शन भी लेखक के शील संकोच का दिलचस्प उदाहरण है। संजय ने अलग अलग कारणों से इतने लोगों के प्रति आभार व्यक्त किया है कि लगने लगता है कि इसके प्रकाशन का श्रेय उनके अलावा, बाकी तमाम लोगों को जाता है। यही संकोच उनके कम लिखने और शायद उससे भी कम प्रकाशित होने का मूल कारण है। संग्रह की 'प्रस्तावना' में विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही अपेक्षा की है कि 'संजय सहाय को अपने व्यस्त जीवन में से पर्याप्त समय लेखन को देना चाहिए, क्योंकि उनमें इतनी संभावनाएं हैं।'

संग्रह के लगभग 100 पृष्ठों में पांच कहानियां हैं। सभी कहानियां पहले पत्रिकाओं (हंस और इंडिया टुडे) में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी कहानियों की पहली विशेषता जो ध्यान आकर्षित करती है, उनका विस्तृत आकार है। यह विस्तार अकारण नहीं है। इसका रिश्ता लेखक के समय और समाज से है। उन तमाम घटनाओं और पात्रों से जिन्हें उसने खुली आंख से देखा और महसूस किया है। अपनी चेतना में वहन किया है। इस नाते उनमें हिस्सेदारी की है। किसी समय 'नयी कविता' की विशेषताओं का बखान करते हुए एक फिकरा बहुत प्रचलित हुआ था— 'अनुभूति की प्रामाणिकता'। इस अमूर्त अवधारणा की एकमात्र कसौटी है पाठक और लेखक की अनुभूति के बीच रचना के माध्यम से तादात्म्य। कथाकार इस विशेषता को कथा के मूर्त ब्योरों, और पात्रों की अमूर्त मानसिक हलचल को कुछ ऐसे भाषिक कौशल से साधता है कि वे समान पाठकीय अनुभव पैदा कर सकें। रचना की सफलता प्रस्तुति के इस कौशल पर लेखकीय अधिकार से तय होती है। कथाकार के रूप में संजय सहाय की सफलता का बड़ा कारण सतर्क नजर से इस घटित का साक्षात्कार करके सावधान लेखनी से उसका भाषिक रूपांतरण करने की क्षमता है। इसी कौशल से वे अपने अनुभवों में पाठक की भागीदारी तय कर लेते हैं। यही नाट्य गुण— बताने सुनाने की नहीं दिखाने की क्षमता— रचना के प्रभाव की निर्णायक भी होती है।

संजय की कहानियों के पाठ के दौरान पाठक का ध्यान, उसकी जिज्ञासा, बराबर बनी रहने का एक बड़ा कारण यह भी है कि उनकी कथावस्तु का विकास प्रायः अप्रत्याशित ढंग से होता है। घटनाओं से गुजरते हुए पाठक यह अनुमान नहीं लगा पाता कि उनका पर्यवसान किस रूप में होगा? अधिसंख्य कहानियों का आरंभ एक निश्चित, निर्णायक से वाक्य से होता है। जैसे : 'ईश्वर में उनका अधिक विश्वास नहीं बचा था' (मुठभेड़) या 'वह पेड़ों के आखिरी पड़ाव पर दिखा था' (मुलाकात) या फिर 'देखना...इसकी बेटियां वेश्या हो जाएंगी' (मिट्टू)। उम्मीद होती है कि कहानी में इसी का अर्थ विस्तार होगा पर ऐसा होता नहीं है। घटनाएं अनेक मोड़ लेती हुई प्रायः किसी अप्रत्याशित से अंतिम छोर पर पहुंचकर विराम लेती हैं। ऐसा छोर जिसमें एक नई शुरुआत की संभावनाएं निहित हैं। कहानियों की यह बुनावट उनमें पाठकीय तल्लीनता को बनाए रखने में कारगर भूमिका निभाती है। किस्सागोई की दिलचस्पी और यथार्थ की विश्वसनीयता दोनों की एकजुट उपस्थिति से ही संजय सहाय ने कथाकारों की बिरादरी में अपनी पहचान कायम की है।

संजय सहाय की कहानियों में समाज के अनेक वर्गों की जीवन स्थितियों से पाठक का सामना होता है। पर ऐसी विविधता के बीच उसे कहीं किसी वर्ग, विचारधारा, सामाजिक स्थिति के प्रति किसी तरह के आग्रह या दुराग्रह का एहसास नहीं होता। संजय सहाय जैसे संवेदनशील, शिक्षित, उच्च मध्यमवर्गीय लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता न हो, यह कल्पनातीत है। बड़ी बात यह है कि वह जो या जैसी होगी, या कैसी होगी, इसका अता पता आप उनकी कहानियों से नहीं लगा सकते। यह तभी संभव है जब लेखक पूरी तरह निष्कवच होकर जीवन स्थितियों को निरखे परखे और उसी तटस्थ भाव से पृष्ठों पर उतारता चला जाए। लगभग उसी भाषा में जिसमें उसने

उन्हें पहचाना, अपने अनुभव का हिस्सा बनाया। संजय की कहानियों की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण उनकी कथाभाषा भी है। उन्होंने अनुभवों को जिस भाषा में सुना और आत्मसात किया, उसमें फेरबदल या उसका संस्कार करने का प्रयास नहीं किया। इसीलिए उनकी पठनीयता बनी रही और विश्वसनीयता भी। किसी कथाकार की लोकप्रियता एक हद तक इन्हीं विशेषताओं पर निर्भर होती है। 'महानता' को साधने के लिए भले ही उसे गंभीर वैचारिकता या दर्शनिक मुद्रा धारण करने की जरूरत महसूस हो, पर उस स्थिति में उसकी लोकप्रियता के बाधित होने की संभावना उसी अनुपात में बढ़ेगी, इसमें संदेह की गुंजाइश कम ही है। यदि चुनाव का प्रश्न हो तो संभावना यही है कि संजय सहाय महानता की साधना के लिए लोकप्रियता को दांव पर शायद ही लगाना ही चाहें। वैसी प्रतिक्रिया की साधना का कोई प्रयास, कोई लक्षण उनके कथा साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। और लोकप्रिय कथाकार के रूप में पाठकों के लिए वे पठनीय और प्रभावी बने रहेंगे इसमें संदेह नहीं। कहना न होगा कि इसके लिए भी, उन्हें अपने रचनाकर्म में कुछ और गति और शायद नियमितता भी लाने का प्रयास और संकल्प करना चाहिए।

eykdkr % संजय सहाय, idk'kd % राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

; FkkFkbn dk u;k ifji;

vferšk dękj

^dghadN ughā संग्रह के साथ कहानीकार 'kf' kkkkk.k f}onh की कहानी की दुनिया में वापसी हुई है, वो कहानीकार 'थे' से हैं के संबोधन में वापस आ गए, यह सुखद है। क्योंकि उनके पास कहानियां है सच्चे मायनों में और ऐसे परिवेश की जिसमें गांव, कस्बे से लेकर महानगरों तक का यथार्थ दर्ज है, जो जितना देखा हुआ है उससे कम भोगा हुआ भी नहीं है। इस संग्रह में सात कहानियां हैं। इसमें चार पृष्ठ की कहानी 'मोना डार्लिंग और जार्ज बुश' है तो पैतालीस पृष्ठों में फैली, उपन्यास होने की महत्त्वाकांक्षा से भरी, कहानी 'कहीं कुछ नहीं' भी है जिस कहानी के नाम पर संग्रह का नामकरण हुआ है। कहानियों में पृष्ठ संख्याओं की दृष्टि से तो विविधता है ही विषय और कहानी कहने के अंदाज में भी विविधता है। भाषा के स्तर पर भी कभी सपाट यथार्थवादी भाषा है तो इसका अतिक्रमण करती हुई काव्यात्मक, कल्पना करती हुई, अपने से बात करने वाली अंतर्द्वंद्व की भाषा भी है।

शशिभूषण अपने समय में हो रहे बदलावों, राजनीतिक परिवर्तनों और प्रक्रियाओं के प्रति पूरी तरह सचेत हैं और इसे कहानी में अक्सर दर्ज भी करते हैं। ये जिस तरह से कहानी में आते हैं लगता है कि लेखक को लगता है कि व्यक्तियों और समाज में होने वाले परिवर्तनों के पीछे अधिक जिम्मेदार संरचनात्मक बदलाव है जो ऊपर से हायर किया जा रहा है। ऊपर से थोपे जा रहे राजनीतिक बदलावों का असर अंतिम व्यक्ति पर हो रहा है और इसकी प्रतिक्रिया में समाज बदल रहा है। इसीलिए कहानियों में काले सफेद चरित्रों के बजाए समाज के घटक चरित्र हैं जो अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। अपने आत्मकथ्य में वर्तमान के यथार्थ और संरचनात्मक बदलावों को पकड़ने की कोशिश की बात शशिभूषण करते हैं, “अपने समय और उसके सच को जानने का दावा करने वाले हममें से अधिसंख्य लोग अपने समय के बारे में

ही सबसे कम जानते हैं। उसके बारे में तो उतना भी नहीं जानते जितना इतिहास के बारे में जानते हैं, वर्तमान का एक बड़ा हिस्सा हमारी आंखों के आगे से ओझल रहता है। उसमें जो होता है वह होता नहीं और जो होता है, वह दिखता नहीं।” (वतन में भी हैं और सफर में भी हैं, पृ. 140)। अपनी कहानियों में इसी अदृश्य यथार्थ को अपने कहन से दृश्य करने की कोशिश शशिभूषण करते हैं।

संग्रह की पहली कहानी ‘छुट्टी का दिन’ एक औसत निम्नमध्यवर्गीय पुरुष के छुट्टी के दिन के क्रियाकलापों के बारे में है। जैसा उपभोक्तावादी समाज विकसित हुआ है उसमें उसकी आय और उसकी आकांक्षा में कोई तालमेल है ही नहीं जबकि जीवन को सामान्य रूप से चलाने का संघर्ष भी है। कहानी का वाचक एक प्रतिनिधि चरित्र है। कहानी में करीने से विवरण है कि पैसा बचाने के लिए किस तरह वह छोटी छोटी बचत करता है, इच्छाएं मारता है, कुठित होता है लेकिन अंततः अपनी गाड़ी कमाई का हिस्सा व्यवस्था को सौंपता रहता है। राशिफल के झूठ से भी वो अपना मनोरंजन करता रहता है— ‘राशिफल में लिखा है कि आज कोई शुभ सूचना मिलेगी और धनोपार्जन होगा, मैं सोचता हूँ कि आज महीने की बीसवीं तारीख है। धनोपार्जन की तो कहीं कोई संभावना नजर नहीं आती, बल्कि खर्च ही खर्च होना है’— और यह नियति का विधान ही तो है कि दिन के अंत तक वाचक के चार हजार रुपये खर्च हो जाते हैं। इस कहानी में वाचक के भीतर का पुरुष छलक कर बाहर आता रहता है जबकि वह घोर दबू किस्म का प्राणी है, लेकिन वह दिन की शुरुआत ही एक विचित्र खयाल से करता है और अंत किसी गैर स्त्री के डीप नेक टॉप और लो हिप जींस पहने लड़की को घूरने से। उसके भीतर का पुरुष अपनी पत्नी के प्रति एक उपेक्षित नजरिया ही रखता है। कहानी में यह तथ्य रेखांकित किया जा सकता है कि वाचक का स्त्री के प्रति नजरिया स्त्रीविरोधी है हालांकि निम्नवर्ग के वंचित समुदाय के साथ उसकी पूरी संवेदना है। कहानी की कमजोरी यह है कि वह अचानक समाप्त हो जाती है, घर से शुरू हुई कहानी को घर से समाप्त होना चाहिए था ताकि एक चक्र पूरा होता। ऐसा कहने का आधार ये है कि कहानी में कहानीकार समय को विवरण में पेश करता है। सुबह जगना और ट्रैक पहनना, सात बजे घूमना, चाय की दुकान पर अखबार पढ़ना, आठ बजे वापस घर, दस बजे घर से बाहर, साढ़े ग्यारह बिजली बिल की कतार में, ग्यारह पचास कतार की आखीर में, ग्यारह पचपन बजे बाबू का पेशाब बहाना, बारह बजे बिल जमाकर लेने की विनती, साढ़े बारह बजे गैस स्टेशन, दो बजे बारिश में, ढाई बजे वापस घर, साढ़े तीन बजे खाना और साढ़े चार बजे सोने की कोशिश, साढ़े पांच बजे चाय, सात बजे बाजार में और साढ़े आठ बजे गोलगप्पे खाने के बाद घर वापसी। गौर कीजिए कि इस छुट्टी के दिन में कामकाजी दिनों से अधिक व्यस्तता और भागदौड़ है। ऊपर से सपाट दिखती इस कहानी में रोजमर्रा के इन सामान्य दृश्यों का अंकन कहानी को विशिष्ट बनाता है जिसमें बहुत सारी अर्थसंभावनाएं हैं।

दूसरी कहानी ‘भूतो ना भविष्यति’ अपेक्षाकृत लंबी कहानी है 19 पृष्ठों की। कहानी में भूत एक प्रतीक के तौर पर आते हैं जिसका अपनी सुविधानुसार पाठ किया जा सकता है, चाहे परंपरा और संस्कार का भूत मान लें, या अंदर ही अंदर सड़ते जा रहे पितृसत्तात्मक सवर्ण परिवार के पतन के लिए खोजे जा सकने वाले बाहरी कारण, या उनका अभिधात्मक कारण ले लें। कहानी एक परिवार की है लेकिन वाचक घटनाओं की पृष्ठभूमि के तौर पर परिदृश्य को भी दर्ज करता चला है। सन् 1942 के आसपास भारत छोड़ो आंदोलन के समय से कहानी में घटनाएं शुरू होती हैं, जो अब तक के समय को दर्ज करती हैं। सुल्तानपुर के एक गांव के एक परिवार पर आर्थिक राजनीतिक बदलावों का क्या प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव पर

परिवार कैसी प्रतिक्रिया देता है, परिवार के भीतर वर्चस्व, जिम्मेदारी, कुंठा का कैसा खेल चलता है और आदर्श परिवार की पूरी प्रतिमा कैसे खोखले दावों पर खड़ी है इसके बारे में यह कहानी बताती है।

कहानी में नाना द्वारा भूत पालने का जिक्र है, भूतों को उन्होंने साधा हुआ है लेकिन सारे भूत उनके नियंत्रण में नहीं हैं, कई भूत उद्दंड और खुदमुखार भी थे। दरअसल ये भूत वो सुविधाएं या वर्चस्व का औजार थे जो संविधान लागू होने के पहले एक ब्राह्मण के पास हो सकते थे।

कहानी देश में आजादी के लिए छिड़े एक बड़े आंदोलन से शुरू करके नब्बे के दशक की शुरुआत के 'राम लहर' आंदोलन पर आ जाती है जिसका प्रतिशोध बदला है। अतीत से बदला। 'राम लहर' और 'राम काज' के नाम पर प्रयास किस लिए कर रहे हैं और ऐसे प्रयास में समाज का कौन कौन सा तबका सक्रिय है, राम को क्या मिलता है और सक्रिय लोगों को क्या मिलता है, यह सब एक विशुद्ध पारिवारिक कहानी में वाचक दर्ज करता है और इस कहानी को एक राजनीतिक रूपक में बदल देता है। वाचक मीनू के परिप्रेक्ष्य से यह दर्ज करता है कि नवीन शक्ति संरचना में हाशिए की जातियों को जो ताकत मिली है उसका स्वरूप भी उत्पीड़न का है, खासकर स्त्रियों के लिए। हर घटना या नीचता ऊपर जाने का अवसर देती है और निष्ठा हमेशा बदलने को तैयार है।

'कहीं कुछ नहीं' इस संग्रह की सबसे महत्वाकांक्षी कहानी है। इतनी तवील और संदर्भों से भरी है कि उपन्यास होने की आकांक्षा रखती है लेकिन इसकी कमजोरी है इसकी समाप्ति जो लेखक ने शायद उकताकर कर दिया है, इसकी शैली आख्यानपरक है जिसको वो अंत में संभाल नहीं सका है। कहानी को वाचक कई बार खुद, कई बार केंद्रीय चरित्र के और कई बार अपने शोध और दूसरे पात्रों के हवाले से कहता है। इससे यथार्थ को कई कोणों से देखने का नजरिया भी पाठकों को मिलता है जो कहानी को रोचक बनाता है। कहानी में वाचक से कुमार जी संपर्क करते हैं अपनी आत्मकथा लिखवाने के लिए। कुमार जी सारा जीवन अध्यापक रहे हैं और प्रधानाध्यापक रिटायर हुए हैं, आम आदमी हैं खास बनने की फिराक में रहते हैं, यानी उनके जीवन में बड़ा कुछ नहीं है जिसकी कथा लिखी जाए, लेकिन कहानी कि यही खूबी है कि वह एक साधारण व्यक्ति के जीवन में घटने वाली असाधारण परिस्थितियों घटनाओं की पड़ताल करती है और बताती है कि कुमार जी का कहना गलत नहीं है कि 'घटनाएं जीवन में ना होतीं तो क्या होता?' कहानी कुमार जी के जीवन में जब जाती है तब पता लगता है कि साधारण व्यक्ति के जीवन में फैली बेतरतीबियों, विश्वासघात, कुंठा, ईर्ष्या, और छल का कितना जाल पसरा है जिसमें से उसका जीवन निकल नहीं पाता और वह उसी को संभालते हुए बिता देता है। कहानी समाज के उस दोहरेपन के बारे में कहती है जिसमें बच्चों का यौन शोषण होता है और स्त्रियों का बलात्कार। ऐसा लगता है कि समाज का ढांचा सहज आत्मीय संबंधों से नहीं अवैध संबंधों, सेक्स जनित कुंठाओं और काम अतृप्तियों से बना है और समस्त गतिविधि का परिचालन इन्हीं से होता है और इन सभी चीजों को संस्कार के पर्दे में छुपा के रखा जाता है और जब सामने आता है तो इसका परिणाम या तो स्त्रियों को भोगना पड़ता है जैसे कहानी में कुमार जी की पत्नी या रमोला बुआ भोगती हैं या कुमार जी जैसे लोग जो निरीह हैं और शक्तिहीन हैं। कहानी कुमार जी की कहानी कहते हुए उस परिवेश की राजनीति की तरफ भी इशारा करती है जिसने कुमार जी का मानस गढ़ा है। कहानी में 40-50 के दशक में हुए अलीगढ़ के दंगों का भी जिक्र है तो 2002 के गोधरा का भी और उन मोहल्ला शाखाओं का जिक्र भी है जिसमें आजादी के नायकों का खलनायकीकरण किया जाता है, नकली नायक

गढ़े जाते हैं हिटलर को आदर्श बताया जाता है।

‘शालीग्राम’ पिता पर लिखी निम्नमध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसकी आकांक्षाएं और जरूरतें अधिक हैं, जो वेतन से पूरी होने वाली नहीं हैं। उसी समय जब समाज के अन्य लोगों के जीवन में परिवर्तन आ रहा है वाचक इस बात से क्षुब्ध है कि उसके पिता की ईमानदारी से घर का कितना नुकसान हो रहा है, “एक हमारे घर को छोड़कर कॉलोनी में सबके घरों में रंगीन टीवी, फ्रिज, वीसीआई, सब आ गए थे। पूरी कॉलोनी में हमारा घर ही सबसे अलग था, सबसे अजूबा। अपनी सत्यनिष्ठा और ईमानदारी के कारण पिता की सीआर लगातार खराब होती जा रही थी। इस बात से पिता नहीं घर वाले लगातार दुखी होते रहे। उधर पिता हरिश्चंद्र बने हुए थे और हम रंक बने जा रहे थे।” वाचक के क्षोभ का क्लार्मैक्स तब आता है जब वह ठीक उसी दिन शराब पीकर घर आता है जब पिता रिटायर होते हैं और इसी समय जीवन भर ईमानदारी के रास्ते चलने वाले, शराब से ताउम्र नफरत करने वाले पिता को टूटता हुआ देखता है, “बड़ी मुश्किलों से लड़खड़ाते कदमों से रात ग्यारह बजे जब मैं घर पहुंचा था। सामने पिता थे। आज उनकी आंखों में क्रोध नहीं था, बल्कि एक अजीब दयनीय सी आत्मग्लानि का भाव था। उनकी आंखों में शायद आंसू भी थे।” शालीग्राम की तरह परिवार के हर सदस्य के जीवन में पत्थर की तरह पूजित, उपस्थित पिता कुछ भी तो नहीं संभाल पा रहे, ना घर, ना बेटी की शादी और ना बेटे की सोहबत। कहानी का एक रोचक पक्ष है कि वाचक अपने पिता के प्रेम प्रसंग का उल्लेख करता है अपनी बहन के प्रेम के संदर्भ में। पिता पर लिखी हुई आधुनिक समय की यह उल्लेखनीय कहानी है। नब्बे के बाद के सरकारी महकमों में आए भ्रष्टाचार के परिवार पर असर को दर्ज करते हुए वाचक छोटा परिवार और सुखी परिवार के मिथक को भी तोड़ देता है। कहानी में वाचक का पिता के प्रति रोष है लेकिन एक प्रेम भी है।

‘अभिषप्त’ कहानी में वाचक खुद के भीतर उतरता है और अपने नए प्रेम संबंध और पुराने प्रेम संबंध के अंतर्विरोध और साम्य को एक मिथकीय कथा के उल्लेख से कहता है। इस कहानी की भाषा में काव्यात्मकता अर्जित करने और अंतर्द्वंद्व को दर्ज करने का प्रयास, है जो प्रेम करने वाले व्यक्ति के भीतर सहज ही है।

कहानी के भीतर कहानी और संवादों के जरिए गढ़ी गई यह कहानी ‘स्त्री के घातक सौंदर्य और असंभव आकांक्षा’ की एक पुरुष के द्वारा सुनाई जा रही कथा है। इस कहानी में वाचक का महत्वाकांक्षी स्त्री पात्र के प्रति द्वेष को अनुभव किया जा सकता है और कहानी वाचक की अपने पक्ष में सफाई की तरह है। कस्बाई शहरों के प्रेम में धोखा खा चुके पुरुषों का परिचय जिन्हें प्राप्त है वे इस कहानी में वाचक के मनोविज्ञान को समझ सकते हैं, या पाठक को वाचक पर भरोसा करना होगा। कहानी शशांक शिल्पी से शुरू होती है और सुजाता बिल्लेश्वर की कहानी में जाती है और फिर शशांक और जया की कहानी में जाती है।

‘मोना डर्लिंग और जार्ज बुश’ संग्रह की सबसे छोटी कहानी है, और इसके वाचक की परिकल्पना मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास ‘कुरु कुरु स्वाहा’ की तर्ज पर है। वाचक का मन तीन व्यक्तित्वों में विभाजित है प्रगतिशील दार्शनिक, लफंगा और पोंगा पंडित। यह वस्तुतः एक दृश्य का विवरण है जिसे कहानी में बस का इंतजार करता वाचक दर्ज करता है जो दृश्य में स्वयं उपस्थित है। इस दृश्य में जीवन के दो ध्रुव हैं और वाचक का पूर्वग्रह भी है। एक युवती को एक युवक और एक अधेड़ के साथ देखकर उनकी गतिविधियों और उनके चरित्र बारे में वाचक के भीतर का विभाजित व्यक्तित्व राय बनाने लगता है। दृश्य के परिवर्तन के साथ वाचक में भी एक परिवर्तन घटित होता है। कहानी के शुरू में अपने दुधमुंहे बच्चे को गोदी में संभाले

देख वाचक के मन में जो वितृष्णा होती है वह अंत में दया में बदल जाती है। कहानी में उपभोक्तावादी समाज की सांस्कृतिक अभिरुचि और अमेरिकी ताकत के परिवेश की समाई हो जाती है।

‘काला गुलाब’ एक ऐसी कहानी है जिसमें वाचक ‘मैं’ नहीं है। कहानी का विवरण कहानीकार बाहर से करता है। कहानी शरद की बीस वर्ष पहले की याद है जहां अतीत में उसके निशान है जिसकी निशानी वर्तमान में है। पिता की बीमारी में बीस साल पहले शरद फिर उसी जगह पहुंचता है नियति के चक्र की तरह जो मनुष्य को पहुंचाती रहती है। इस कहानी में कथा और घटना का क्रम नहीं है, कहानी अतीत और वर्तमान की यात्रा करती है जिसकी संगति पाठक को मिलानी है। शरद दरवाजा खोलता है। स्मृति का दरवाजा भी खुल जाता है, कहानी में शरद की बेचैनी है उस दुनिया से निकलने की जो उसे विरासत में मिली है। उस संस्कार में घुटते रहने का जो उस पर थोपा गया है।

इस कहानी की विशेषता इसकी भाषा है जिसमें एक तरफ तो काव्यात्मकता है और दूसरी तरफ वाचक कहानी कहते कहते शरद के अंतस को दर्ज करने लगता है।

शशिभूषण द्विवेदी की इन कहानियों को पढ़ने के बाद लगता है कि कहानीकार अपने वास्तविक समय के यथार्थ को अंतर्विरोधों के साथ कहानी में दर्ज करना चाहता है इसलिए वह जानी पहचानी कहानियों को भी कहन की एक नई शैली के साथ कहता है ताकि यथार्थ का जो कार्य कारण संबंध है उसका एक नया परिप्रेक्ष्य सामने आए; जैसे ‘काला गुलाब’ और ‘अभिषप्त’ कहानी में। वह यथार्थ को उन वर्जनाओं और दबाए गए पहलुओं से भी दिखाना चाहता है जिनको संस्कार के आवरण में ढाक दिया गया है। साथ ही कहानीकार अपनी कहानियों को वैश्विक, राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति के परिवेश के अभिन्न अंग के रूप में दर्ज करना चाहता है, तभी कहानियों में आजादी से लेकर भूमंडलीकरण तक की निर्णायक राजनीतिक घटनाएं आती रहती हैं। व्यष्टि और समष्टि के अभिनव संबंध को कहानीकार अच्छी तरह से पहचानता है, इसमें स्त्रियों के प्रति पुरुष के वर्चस्ववादी सोच को भी दर्ज करता है और उसके शोषण के विभिन्न पहलुओं और अतृप्ति के विविध आयामों को भी दिखाता है। कस्बाई समाज का यथार्थ, उसका अपने परिवेश से अलगाव और वहां के समाज की पतनशीलता को शशि ब्यौरे में दर्ज करते हैं और महसूस भी करते हैं कि ‘भ्रम, भटकाव और दिशाहीनता, यही हमारी पीढ़ी के कस्बाई जीवन का केंद्रीय सच था। बाजार के लिए हम मनुष्य नहीं, महज उपभोक्ता थे।’ इस लेख को समाप्त करने के लिए भी लेखक के वाक्य का सहारा लिया जा सकता है जिसे कहानियों कि खूबियों और कमियों दोनों ही में गिना जा सकता है वह यह कि ‘मैं जो लिखना चाहता था, वह अब तक नहीं लिख सका। उसकी तलाश में कई स्वलित रचनाएं जरूर कागज पर उथला आईं...लेकिन आज भी मैं सिर्फ एक ही कहानी लिखना चाहता हूं। एक मुकम्मल कहानी जिसे लिखने के बाद फिर कुछ और लिखने की जरूरत न रहे।’ ये सही है कि इस संग्रह की कहानियों में एक अधूरापन है, एक कसक है असमय समाप्त होने की लेकिन ये कहानियां हमारे समय के सच को ईमानदारी से बयान करती हैं, मुकम्मल की मांग और उसका इंतजार करते हुए पाठक शशिभूषण द्विवेदी के इस कहानी संग्रह को उनकी रचना यात्रा का एक पड़ाव मान सकते हैं।

dgha dN ugha% शशिभूषण द्विवेदी, idk'kd % राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

vdkjk mrj jgk gS /khjs /khjs--

oDVsk dckj

i dh.k dckj के पहले कहानी संग्रह Nchyk jxckt dk 'kgj में उनकी चार कहानियां संकलित हैं। सभी लंबी कहानियां हैं। 'छबीला रंगबाज का शहर' शीर्षक कहानी तो 90 पृष्ठों में फैली हुई है। दरअसल प्रवीण कुमार की कहानियां औपन्यासिक फलक की कहानियां हैं। यह चीज उनकी कहानियों की सीमा भी है और शक्ति भी। 'छबीला रंगबाज का शहर' शीर्षक कहानी का नायक छबीला रंगबाज हिंदी कहानी में नायक की परिकल्पना को तहसनहस कर देता है। पूरी कहानी पढ़ जाने के बाद भी छबीला के जीवन की वास्तविकता का रहस्य बना ही रह जाता है। इस कहानी में छबीला की उपस्थिति 'दाल में नमक' जैसी है। कहानी के प्रत्येक पात्र ने अपना अपना छबीला गढ़ रखा है। इस गढ़न में छबीला की अपनी आशा आकांक्षा का पता ही नहीं चलता। कहानी में छबीला के चरित्र का शोधन करना समीक्षक के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। क्या यह आकस्मिक और अकारण है कि छबीला के चरित्र से संघर्ष करते हुए मस्तिष्क में महाभारत धारावाहिक का वह प्रसिद्ध वाक्य चक्कर काटने लगता है— 'मैं समय हूँ'। छबीला दरअसल एक पात्र नहीं बल्कि हमारा समय है। हमारे समय में एक सुविधा वंचित और गरीब बालक 'छबीला रंगबाज' बनने के लिए अभिशप्त है। इस कहानी का एक सार्थक शीर्षक 'दंतकथाओं में छबीला रंगबाज' भी हो सकता था। कहानी के पात्रों के बीच जीता जागता छबीला दंतकथाओं के पात्र की तरह ही उपस्थित रहता है। बचपन में ही छबीला पर खून करने का आरोप लग चुका है। इस कहानी का एक महत्वपूर्ण पात्र अरूप इस आरोप को हादसा बताते हुए कहता है— "छबीला की मां का बलात्कार होने जा रहा था, छबीला उस समय बारह साल का था, उसने मोमताज को धक्का मारकर गिराया और वह दरंगी पर पेट के बल गिर गया, बस।" इस अनजाने में हुए अपराध की वजह से छबीला बाल सुधारगृह पहुंचा दिया जाता है। छबीला पिता को पहले

ही खो चुका है। उसकी मां गरीबी और जहालत झेलते हुए अपने बेटे के इंतजार में अपनी जिंदगी खींच रही है। उसका बेटा छबीला बाल सुधारगृह में कर्मचारियों और अधिकारियों द्वारा मानसिक और शारीरिक शोषण का शिकार हो रहा है। बाल सुधारगृह में नारकीय जीवन जी रहा छबीला एक दिन चमत्कारिक रूप से एक अधिकारी को घायल करके वहां से भाग जाता है। यहां से छबीला के 'रंगबाज छबीला' बनने की प्रक्रिया आरंभ होती है। यह कहानी जिस आरा शहर को केंद्र में रखकर लिखी गई है, उस शहर की ही कहानी नहीं है। यह कहानी भारत के किसी भी शहर की कहानी हो सकती है। और शहर की ही क्यों! यह कहानी भारत के किसी गांव की भी हो सकती है। छबीला जैसा निरीह बालक जिस प्रक्रिया से छबीला रंगबाज में बदल दिया जाता है वह प्रक्रिया निश्चित रूप से अखिल भारतीय प्रक्रिया है। बाल सुधारगृह से भागकर छबीला अपनी मां के पास पहुंचता है। उसके पीछे पुलिस लगी है। वह गिरफ्तारी से बचने के लिए इधर उधर भागता फिरता है। इस बीच समाज में कोई भी अप्रिय घटना घटती है तो उसका श्रेय छबीला को ही दे दिया जाता है। देखते ही देखते छबीला पत्रकारिता का भी किंवदंती बालक बन जाता है। छबीला के बहाने कहानीकार ने पत्रकारिता जगत की विद्रूपता और मूल्यहीनता को हमारे सामने रखा है। गरीबी से त्रस्त और शिक्षा से वंचित छबीला पत्रकारिता के लिए कोई खबर नहीं है। लेकिन जैसे ही एक हत्या में छबीला के शामिल होने की अफवाह उड़ती है, वह पत्रकारिता के लिए बहुत बड़ी खबर बन जाता है। चौक चौराहे, टोले मुहल्ले में छबीला की चर्चा होने लगती है। शहर में एक डकैती होती है जिसमें छबीला सिंह का नाम आता है। पुलिस उसे बेवजह खूब पीटती है। यह घटनाक्रम पत्रकारिता में कैसे खबर बनती है, इसे देखा जाए— "न्याय राष्ट्रीय अखबारों के स्थानीय पत्रकारों ने भी किया 'शहर का नया आतंक छबीला सिंह'। तमाम तरह के राष्ट्रीय अखबारों द्वारा जागृति फैलाने के बावजूद शहर आतंक में जी रहा था, यह ठीक बात नहीं थी। कोई न कोई तो यह सब कर रहा था। अपराध हो रहे थे अतः अपराधी का नामकरण जरूरी था। विशेषण से संज्ञा की ओर जाते हुए अखबार ने छबीला को 'रंगबाज' से नवाजा। अपराध खत्म। अपराधबोध भी!" स्पष्ट है कि छबीला को छबीला रंगबाज बनाने में समाज का हर तबका शामिल है और समाज के हर तबके की नंगई भी शामिल है। इसीलिए यह कहानी अपने समय के 'नंगेपन' की कहानी है। यह कहानी फिल्मी फार्मूले की संभावनाओं से भरी होने के बावजूद उसका निषेध करती है। इस पूरी कहानी में छबीला एक पल के लिए भी अपने 'छबीला रंगबाज' वाले रूप का लुत्फ उठाता हुआ दिखाई नहीं देता। वह हमेशा अपनी मां की चिंता करने वाला और सरल जीवन जीने वाला छबीला बना रहना चाहता है। उसमें 'दीवार' या 'बन्स अपान ए टाइम इन मुंबई' के नायक की कोई छवि दिखाई नहीं देती। यह निश्चित रूप से कहानीकार की सफलता है।

कहानी पूरी करने के लिए कहानीकार के सामने 'छबीला रंगबाज' एक चुनौती की तरह खड़ा हो गया। कहानीकार ने इस चुनौती का सामना करने के लिए एक वास्तविक घटना का सहारा लिया है— "बिहार के एक शहर में रणसेना के संस्थापक अध्यक्ष जीवेशकर मुखिया की आज तड़के ही कुछ बदमाशों ने गोली मारकर हत्या कर दी।" इस हाई प्रोफाइल हत्या में भी छबीला का नाम उछाला गया। कहानी इन पंक्तियों के साथ खत्म होती है— "हालांकि अब भी इस शहर में बिजली की स्थिति बहुत ही बुरी थी फिर भी अन्य दिनों की तरह ही एक दिन यह सूचना बिजली की गति से दौड़ी कि कोईलवर पुल के नीचे सोन नदी के तट पर रेत में दबी एक सड़ी हुई लाश मिली है, पर दावे के साथ कोई नहीं कह सकता था कि यह लाश किसकी थी। भाऽऽ आग ऽऽसाला।"

इस कहानी के तीन अन्य पात्रों की चर्चा भी जरूरी है— पत्रकार अरूप और तन्वी तथा शिक्षक ऋषभ। अरूप और तन्वी पेशे से पत्रकार हैं। अरूप के लिए पत्रकारिता समाज को बदलने का एक हथियार है। तन्वी के लिए पत्रकारिता ग्लैमर की दुनिया। दोनों के सोचने के तरीके में इस फर्क के कारण ही अरूप जहां आरा के लोकल अखबार में ही काम करता रह जाता है वहीं तन्वी पटना के प्रसिद्ध न्यूज चैनल में एंकर बन जाती है। अरूप अपनी पत्रकारिता का इस्तेमाल 'छबीला रंगबाज' को छबीला सिंह बनाने में करना चाहता है। तन्वी 'छबीला रंगबाज' से जुड़ी झूठी खबर प्रसारित करके गौरव की अनुभूति करती है। सवाल उठता है कि कहानीकार ने तन्वी की ऐसी नकारात्मक छवि क्यों बनायी है? प्रेम को लेकर तन्वी के लिए जिस तरह से विचार हैं और वह जैसी भाषा का इस्तेमाल करती है, आरा जैसे छोटे शहर में रहने वाली लड़की के लिए यह सब थोड़ा अस्वाभाविक जैसा लगता है। तन्वी का अंदाजेबयां देखा जाए— “आइंदा इस अंदाज से कभी बुलाया न अरूप, तो नंगा करके इसी रमना मैदान में दौड़ा दूंगी।” संभवतः यह भूमंडलीकरण का प्रभाव है।

कहानी का एक दिलचस्प पात्र ऋषभ आरा के एक स्कूल में हिंदी पढ़ाता है। कहानीकार ने इस पात्र को बनाने में स्वानुभूति की भी मदद ली है। ऋषभ अरूप और तन्वी का दोस्त है। ऋषभ की तन्वी से दोस्ती जल्दी ही रोमांटिक रूप ले लेती है। ऋषभ तन्वी से एकतरफा प्यार करने लगता है। इस कहानी में ऋषभ की उपस्थिति का कोई अर्थ ही समझ में नहीं आता। वह लुंजपुंज व्यक्तित्व का धनी लगता है बिल्कुल आज के अधिसंख्य शिक्षकों की तरह। वह हिंदी आलोचना की शब्दावली और हिंदी कविता की पंक्तियों का इस्तेमाल करके खुद को हास्यास्पद बनाता रहता है। ऋषभ के बारे में बात करते हुए कहानीकार पर भी उसका शिक्षक रूप हावी होने लगता है। वह 'अंधेरे में' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताओं के विभिन्न प्रसंगों की ही चर्चा नहीं करता बल्कि वह 'विलोपन', 'उद्रेक' और 'विप्रलंभ शृंगार' जैसी पारिभाषिक शब्दावलियों का भी खूब इस्तेमाल करता है। ऋषभ देखता भी है तो 'विस्फारित नयनों से'। लेकिन ऋषभ की भाषा का एक अन्य स्वाद भी कहीं कहीं पाठकों को मिलता है। नमूने के तौर पर देखा जाए— “झूठे, मक्कार, साले तुम सारे के सारे दोगले हो...।”

'लादेन ओझा की हसरतें' शीर्षक कहानी हिंदू मुस्लिम की साझी संस्कृति को केंद्र में रखकर लिखी गई मार्मिक कहानी है। लादेन ओझा नाम ही अपने आप में बहुत कुछ कह जाता है। इस कहानी में एक दिलचस्प प्रसंग का वर्णन है। जब पाकिस्तान में ओसामा बिन लादेन की हत्या अमेरिकी सैनिकों ने कर दी तो भारत के अखबारों में भी यह घटना मुख्य खबर बनी। 'लादेन ओझा की हसरतें' शीर्षक कहानी में इस घटना का बड़ा ही रचनात्मक इस्तेमाल किया गया है। दरगाह के हैंडपंप से पानी भर रही इकबाल मियां की मां के कानों में लादेन के मारे जाने की खबर पहुंची। वे ओसामा बिन लादेन को नहीं जानती थीं। वे जानती थीं अपने गांव के लादेन ओझा को। उन्हें लगा कि उनका लादेन ओझा ही मारा गया— “बाबू रे...ए लादेनवा को मार दिया...अल्ला रहम। इतना कह अम्मी धड़ाम् से गिर पड़ी।” इकबाल मियां और लादेन ओझा लंगोटिया यार हैं। इकबाल मियां की मां अपने बेटे से बढ़कर लादेन ओझा को मानती हैं। वह लादेन के मरने के गम में लगातार रोये जा रही हैं। उनके घर पर औरतों का हुजूम जुट गया है। कुछ औरतें मां को घेरकर ढाढ़स दे रही हैं। इसी बीच लादेन ओझा सामने आकर कहते हैं, “चाची...अभी हम जिंदा हैं। क्यों छाती फाड़ रही हो।...चाची ओझा को देखते ही लड़खड़ा गई, आ...रे...झूनुआ...रे तू तो हमार जान लेगा। बूढ़ी चाची दहाड़ मारकर फिर रोई।” इस कहानी में एक और दिलचस्प प्रसंग है, जिसकी चर्चा जरूरी है। चौरसिया पान भंडार पर

खड़े कुछ नौजवानों में से एक ने वृद्ध मैनुद्दीन को आवाज मारी— “क्या बुढ़ऊ...बहुत गर्मी है तुम्हारे भीतर?” इसके बाद ‘राष्ट्रवादी युवा मंडल’ के इन नौजवानों में से एक ने मैनुद्दीन से कहा— “सालो लादेन मारा गया। अब तो होश में आओ।” इतना कहकर एक नौजवान ने मैनुद्दीन का कॉलर पकड़ लिया। संयोग से इसी समय लादेन ओझा उधर से गुजर रहे थे। उन्होंने यह दृश्य देख लिया। ओझा जी ने मैनुद्दीन का कॉलर पकड़े लड़के को एक थप्पड़ जड़ दिया। इस पर वे नौजवान मिलकर लादेन ओझा और मैनुद्दीन की पिटाई लाठी डंडों से करने लगे। देखते ही देखते ओझा जी और मैनुद्दीन धरती पर पस्त होकर गिर पड़े। कहानी का अंत इस तरह से होता है— “अंधेरा उतर रहा था। धीरे धीरे।” उपर्युक्त दोनों प्रसंगों की चर्चा करने के बाद अब अलग से इस कहानी के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

‘नया जफरनामा’ शीर्षक कहानी ‘1857’ की डेढ़ सौवीं जयंती मनाये जाने को प्रश्नांकित करती है। बड़ी चतुराई के साथ कहानीकार इस कहानी का लोकेल 1857 की घटना से जुड़ी दिल्ली स्थित एक झील को बनाता है। वह उस झील के आसपास बसे लोगों के जीवन स्तर के माध्यम से 150 साल की यात्रा की विडंबनाओं को सामने रखता है। कहानीकार अप्रत्यक्ष रूप से यह सवाल उठाता है कि क्या हम 1857 की 150वीं बरसी मनाने का नैतिक अधिकार रखते हैं! किसी स्थल को ऐतिहासिक घोषित करके उसके संरक्षण पर करोड़ों रुपये खर्च करने से ज्यादा जरूरी उस स्थल के आसपास रह रहे लोगों को जीने के लिए मूलभूत सुविधा उपलब्ध कराना है। ‘1857’ का संघर्ष यदि हमें बेरोजगारी, अशिक्षा, सांप्रदायिकता और गरीबी से संघर्ष करने की प्रेरणा नहीं देता, तो उसकी बरसी मनाने का कोई मतलब नहीं है। कहानी में झील के पास बसी एक छोटी सी बस्ती में घटी एक घटना का जिक्र है। एक स्वयंसेवी संस्था उस बस्ती में 14 साल से कमउम्र की लड़कियों को एक टीका लगाती है। बाद में पता चला कि इस टीका के माध्यम से कम उम्र की लड़कियां जल्दी जवान हो जाती हैं। दरअसल इस संस्था का लक्ष्य उस छोटी सी बस्ती को चकलाघर में बदल देने का था— “यह बस्ती...जी हां यह बस्ती जो न केवल एक दरिंदे डॉक्टर की प्रयोगशाला है बल्कि यह वह इलाका है जहां सरेआम औरतों की मंडी सजती है, वहां...वहां यह रक्षाकवच उनके बचने का जो आखिरी हथियार था...गुब्बारा बनकर बच्चों के हाथ का खिलौना हो गया है।” इसी भारतवर्ष में एक जफरनामा बहादुरशाह जफर ने लिखा था और ‘एक जफरनामा’ हजारों वस्तियों को चकलाघर में तब्दील करके लिखा जा रहा है। इस कहानी की अंतिम कुछ पंक्तियां बहुत ही मार्मिक हैं— “एक बात रह गई थी जी, जो कहनी थी। वो...जी कानू भील ने कही थी...कि बलवे वाले साल में बारिश बहुत हुई थी। महीने भी यही कहे थे जी।”

प्रवीण कुमार के कहानीकार रूप की सबसे बड़ी विशेषता वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना है। साझी संस्कृति को बचाये रखने की बेचैनी उन्हें प्रेमचंद की परंपरा से जोड़ती है। अपने जटिल समय को अभिव्यक्त करने के लिए जिस तरह की भाषा का चयन प्रवीण कुमार करते हैं वह उन्हें मनोहरश्याम जोशी और काशीनाथ सिंह की परंपरा से जोड़ता है।

प्रवीण कुमार अपनी कहानियों में विषयवस्तु और भाषा के स्तर पर जितनी मेहनत करते हैं उतना शिल्प के स्तर पर नहीं। इसलिए इनकी कहानियों में कहीं कहीं अनावश्यक विस्तार देखने को मिलता है। यही वजह है कि इनकी लंबी कहानियां पढ़ते हुए उपन्यास पढ़ने का सुख मिलता है तो कहानी में उपन्यास ठूसने से पीड़ा भी होती है।

Nchyk j&ctt dk 'kj % प्रवीण कुमार, idk'kd % राजपाल एंड संस, नई दिल्ली

vi us nsk dk i Mks

iYyo

fgnh गद्य के हमारे युग को कथेतर की संज्ञा दी जाए तो अनुचित न होगा। इस दौर में गद्य के पारंपरिक कहन की विधाएं बदल रही हैं, टूट रही हैं और आपस में घुलमिल रही हैं। यथार्थ के गहराते दबाव और चाक्षुष माध्यमों के विस्फोट ने इस बदलाव को संभव किया है तो यह भी देखना चाहिए कि विधाओं के अनुशासन से उपजती जकड़बंदी ने गद्यकारों को नए प्रयोगों के लिए तैयार किया। अकारण नहीं कि पिछले कुछ अरसे में यात्रा आख्यानो, संस्मरणों, डायरियों और अनौपचारिक गद्य की अनेक पुस्तकें आईं। इन किताबों ने न केवल पाठकों का दिल जीता अपितु हिंदी गद्य की व्यापकता और गहराई के लिहाज से भी इन्हें महत्वपूर्ण समझा गया है। आलोचक fouksn frokjh की किताब ukfte fgder dsnsk es उनके तुर्की प्रवास पर लिखी गई किताब है जिसे यात्रा वृत्तांत तो नहीं कहा जा सकता और न डायरी। यद्यपि इसमें दोनों प्रविधियों का आंशिक उपयोग मिल जाता है। यह विनोद तिवारी के तुर्की प्रवास का वृत्तांत है जिसमें तुर्की का इतिहास, संस्कृति, साहित्य और वहां की विभूतियों के साथ जन जीवन की कुछ बातें भी आ गई हैं। जाहिर है विनोद जी इसे किसी एक खास सांचे में कैद करने से बचते रहे। नोट्स, टिप्पणी और आलेख भी इस किताब में पठनीयता की शर्त पूरी करते हुए पाठक को जोड़ लेते हैं। वर्ष 2011 से 2013 के मध्य तिवारी तुर्की में भारत सरकार की तरफ से हिंदी प्रोफेसर के पद पर अंकारा विश्वविद्यालय में थे। यहां अध्यापन के दौरान अर्जित अनुभवों का लेखाजोखा इस किताब का निर्माण करता है।

किताब के प्रारंभ में तिवारी तुर्की के राष्ट्रपिता और आधुनिक तुर्की के शिल्पकार मुस्तफा कमाल अतातुर्क के संबंध में पाठकों को थोड़ा विस्तार से बताते हैं। वे लिखते हैं, “मुस्तफा कमाल अतातुर्क की जीवनी या इतिहास लिखने की कोई मंशा नहीं है। उस पर तो न जाने

कितनी किताबें दुनिया भर में लिखी गई हैं। सबब, बस इतना कि, एक झलक में ही सही, इस पर विश्वास किया जा सके कि अतातुर्क जैसे व्यक्ति इतिहास में कभी कभी ही पैदा होते हैं। वह जो करना चाहते हैं कर गुजरते हैं।” मुस्तफा कमाल अतातुर्क ऐसे नेता थे जिन्होंने तुर्की को आधुनिक, तर्कशील और प्रगतिशील राष्ट्र बनाने का असाधारण कार्य कर दिखाया। जिस दौर में हमारी दुनिया में पुरातनपंथी आग्रहों का भारी दबाव है तब मुस्तफा कमाल अतातुर्क जैसे लोगों की स्मृति ऊर्जा देने वाली होती है। इसी तरह वे आगे एक अध्याय में तुर्की के महान कवि नाजिम हिकमत के जीवन और संघर्ष के बारे में बताते हैं।

तुर्की का जीवन कैसा है? वहां के लोग और लोकाचार कैसे हैं? तिवारी की नजर इस पर बनी रही है। नवरोज वहां का लोकप्रिय पर्व है। उन्होंने इसे मनाए जाने का प्रसंग लिखा है, “नवरोज का त्योहार तुर्की में भी बहुत ही उत्साह के साथ मनाया जाता है। युवाओं का उत्साह देखते बनता है। तुर्की में नवरोज मनाए जाने को लेकर इधर के वर्षों में एक तरह का तनाव भी है, खासकर तुर्क और कुर्दों के बीच। इसे राजनीतिक रंग भी दिया गया है। ‘दिल वे तारीह जुगराफिया फ़ैकल्लेसी’ (फ़ैकल्टी ऑफ लैंग्वेज, हिस्ट्री एंड ज्योग्राफी, जिसमें हमारा भी विभाग है) अंकारा विश्वविद्यालय, अंकारा की कैंटीन के सामने खुले मैदान में टूटी हुयी डेस्क, कुर्सियों और मेजों का ढेर लगाकर आग लगा दी गई है। लड़के लड़कियां उस आग के किनारे गोलाकार एक दूसरे के बाहों में बाहें डाले, हाथों में हाथ कसे, छाती आगे किए, एक सम, एक लय में लोकनृत्य ‘हलाय’ पर थिरक रहे हैं, झूम रहे हैं। एक लय में पैरों की गति और थिरकन के क्या कहने। यह नए साल के आगाज के साथ साथ तुर्की में युवाओं के बीच खुलेपन और आजादी के प्रतीक के रूप में भी मनाया जाता है। सांसें उठ गिर रही हैं। आग की लपटें बढ़ रही हैं। नृत्य अपने पूरे उरुज पर है। मैं तीसरी मंजिल पर विभाग में अपने कमरे की खिड़की से इस नृत्य के एक एक पल को पी रहा हूं, जी रहा हूं।” इसी तरह हम जानते हैं कि एक समाज की वास्तविक स्थिति उस समाज में स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों की दशा से जानी जा सकती है। तो तुर्की की स्त्रियों के संबंध में विनोद ने लिखा है, “मैं तुर्की की राजधानी अंकारा में रहता हूं। विश्वविद्यालय जाने के लिए सामान्यतः बस की सेवा लेता हूं जो आम जनता की सवारी है। स्त्री पुरुष सब की। पर किसी स्त्री को देह की नजर से घूरते हुई किसी पुरुष को नहीं देखा। नई पीढ़ी की स्त्रियों के पहनावे और वेश भूषा में पाश्चात्य आधुनिकता देखने को मिलती है तो साथ ही एक पीढ़ी पहले की जो स्त्रियां हैं उनमें ओटोमन जमाने के इस्लामिक संस्कार देखने को मिल जाएंगे। वे बुर्का तो नहीं पहनतीं पर सिर को दुपट्टेनुमा खास डिजाइन वाले एक तरह के कपड़े से ढंकती हैं। तो, एक साथ आपको आधुनिक और पारंपरिक दोनों पहनावे दिख जाएंगे। लड़कियों पर राह चलते छींटाकशी यहां अंकारा में मैंने नहीं देखी सुनी। हो सकता हो देश के दूसरे शहरों में यह हो। क्योंकि हमारे एक पीएच.डी. छात्र याल्विन कायली का कहना है कि अंकारा में राजधानी होने के नाते यह नहीं है। तो, क्या सच में जो दीखता है वही सच नहीं होता? जब धीरे धीरे दूसरे छोर से मैं देखने और समझने की कोशिश करने लगा तो स्थिति बहुत ही निराशाजनक है। तुर्की समाज में बालविवाह, घरेलू हिंसा का प्रतिशत बहुत अधिक है। राजनितिक और सामाजिक मंचों पर स्त्रियों की भागीदारी न के बराबर है। घर के अंदर पुरुष उसे ‘कमोडिटी’ से अधिक कुछ नहीं समझता।” मुस्तफा कमाल अतातुर्क जैसे दूरदर्शी नायक के समाज की यह स्थिति सचमुच शोचनीय है और आश्चर्य नहीं कि इधर तुर्की की अनेक विफलताओं के आंतरिक कारणों में एक कारण यह भी हो। हालांकि एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि “युवा और अधिकांश शहरी और पढ़ी लिखी आधुनिक तुर्की जनता मुस्तफा कमाल

अतातुर्क द्वारा निर्मित तुर्की की आधुनिक, लोकतांत्रिक और सेक्युलर छवि को किसी भी कीमत पर खोने को तैयार नहीं है। ये अपने को मुसलमान कहलाना उतना नहीं पसंद करते जितना इनको तुर्क सुनना पसंद है। 'तुर्कीयता' को ये अपनी राष्ट्रीय पहचान मानते हैं और अगर कोई धार्मिक या संप्रदायवादी उनकी इस जातीय पहचान के साथ किसी तरह का छल छद्म करता है तो उनको यह लगता है कि यह अतातुर्क के सपनों के साथ मजाक है।' फिर भी स्त्रियों की दशा तुर्की जीवन के आधुनिक होने पर सवाल तो खड़ा करती है।

तुर्की के जीवन और जनता के साथ यहां के शहरों और स्मारकों की बात न हो तो किताब का मजा ही क्या? प्रारंभ में मुस्ताफा कमाल अतातुर्क पर लिखते हुए तिवारी ने उनके निवास स्थान पर बने स्मारक और पुस्तकालय का सुंदर वर्णन किया है। अब जरा उनकी निगाह से शहर भी देखें : "इस्तांबुल अद्भुत शहर है। कुछ हिस्सा एशिया में तो कुछ यूरोप में। सबसे अद्भुत बास्फोरस ब्रिज। दो समंदरों, मारमरा और काला सागर का मेल कराता बास्फोरस, एशिया और योरोप के दिलों को जोड़ता बास्फोरस। बिना किसी खंभे के केवल मेहराबों (चंद्र) के सहारे तारों पर झूलता डेढ़ किलोमीटर लंबा, एक अजूबा बास्फोरस। समंदर के ऊपर, रात में सतरंगी जगमग रौशिनियों से अद्भुत छटा बिखेरता बास्फोरस। वाह बास्फोरस! आह बास्फोरस!! अद्भुत बास्फोरस!! फिर वे वहां की एक और सुंदर जगह ले जाते हैं जिसका नाम है नीली मस्जिद। लिखते हैं, 'दुनिया भर में पर्यटकों के लिए सबसे अधिक आकर्षण का केंद्र है, सुल्तान अहमद जामी या नीली मस्जिद। अहमद जामी मस्जिद का निर्माण निश्चित ही बड़े शौक और इत्मीनान से किया गया है। फारसी वास्तुकला का यह एक नायाब उदाहरण है। अपने छोटे बड़े 11 गुंबदों और 6 अलहदा मीनारों के चलते बाहर से यह जितना भव्य और आकर्षक है, अपने आंतरिक मेहराबों, कंगूरों, बेलबूटों, ऊंची छत और उसकी कलात्मकता से अत्यंत ही सुंदर और मनमोहक। मस्जिद जितना बड़ा है उससे अधिक उससे लगे परिसर का क्षेत्रफल। इस मस्जिद परिसर में, बाजार, स्कूल, पुस्तकालय, अस्पताल, हमाम, गरीबों के लिए सार्वजनिक रसोई और भी न जाने क्या क्या है। मस्जिद के अंदर रोज दुनिया भर के न जाने कितने धर्म के कितने लोग आते हैं।' वे इस यात्रा में तुर्की की सांस्कृतिक राजधानी अंतालिया का उल्लेख भी करते हैं तो एक अन्य स्थान पेर्ग के बारे में बताते हैं कि इसका ईसाईयों के लिए तीर्थ जैसा महत्व है। ईसा मसीह के शिष्य सेंट पॉल ने यहीं आक्सू नदी के किनारे बैठ कर 'न्यू टेस्टामेंट' लिखा था।

तुर्की के इतिहास और मिथक में जगह बनाए लोगों के स्थानों की चर्चा के बगैर इस यात्रा का आनंद क्या! वे यहां मौलाना रूमी, मुल्ला नसीरुद्दीन और मिडास से जुड़ी जगहों पर जाते हैं। मसनवी के महान गायक मौलाना रूमी की दरगाह 'कोन्या' में है। वे लिखते हैं : "कोन्या तुर्की का एक सूबा है, यह अनातोलियन सेल्जुक तुर्क शासकों की राजधानी रही है। आज भी यह तुर्की की सांस्कृतिक राजधानी है— धर्म, दर्शन और संस्कृति का अद्भुत रसायन।" इस मस्जिद का वर्णन उस महान सूफी कवि के प्रति श्रद्धा पैदा करने के साथ हमें अपने पुरखों की विरासत के प्रति भी संवेदनशील होकर सोचने के लिए प्रेरित करता है। मुल्ला नसीरुद्दीन के गांव जाते हुए उन्हें महाभारत के रचयिता व्यास याद आते हैं : "क्या व्यास की तरह मुल्ला नसीरुद्दीन भी एक मिथकीय चरित्र था/है? नहीं मुल्ला नसीरुद्दीन मिथकीय चरित्र नहीं था। तो फिर कौन था मुल्ला नसीरुद्दीन? अलग अलग दावेदारियां हैं— कोई मानता है कि मुल्ला हमारे हैं तो कोई कहता है मुल्ला हमारे हैं। हिंदुस्तान में भी मुल्ला नसीरुद्दीन को लेकर यही दावेदारी है कि मुल्ला हमारे हैं। जब मैं तुर्की आया तो पता लगा कि, मुल्ला नसीरुद्दीन पैदायशी तुर्क थे। जहां वे पैदा हुए उस गांव का भी उल्लेख किया गया। यह भी बताया गया कि हर

साल जुलाई के महीने में वहां पर मुल्ला नसीरुद्दीन के नाम से मेला लगता है जिसमें भिन्न भिन्न तरह की लोकसंस्कृति और लोक साहित्य से संबंधित आयोजन होते हैं। हिंदुस्तान में मुल्ला नसीरुद्दीन के किस्से पढ़ा था। अपनी हाजिरजवाबी और तर्क शक्ति के नाते वे किस्से बहुत पसंद आए थे।” तिवारी जी ‘शिवरीहिसार’ जाते हैं जो ‘मुल्ला के गांव का नाम है जहां मुल्ला नसीरुद्दीन तेरहवीं शताब्दी में पैदा हुए थे। यह कोय (तुर्की में गांव को ‘कोय’ कहते हैं) अंकारा और ‘एस्कीशेहिर’ के बीच में पड़ता है। अंकारा से लगभग 45 किलोमीटर दूर। यह हिस्सा मध्य अनातोलिया का पुराना हिस्सा है। तेरहवीं शताब्दी में यहां तामेरलेन का शासन था। यह वही तामेरलेन है जिसे हम तैमूरलंग के नाम से जानते हैं और जिसने दक्षिण पूर्वी एशिया, मध्य एशिया, अफ्रीका, मंगोलिया, योरोप के कुछ हिस्सों पर आक्रमण किया था और अपने आतंक का कहर बरपाया था। तैमूरलंग ने दिल्ली पर 1398 में आक्रमण कर तबाही मचाई थी। उस समय दिल्ली पर नसीरुद्दीन मुहम्मद शाह तुगलक का शासन था। संभव है कि जहां जहां तैमूर गया हो उसके साथ साथ मुल्ला नसीरुद्दीन भी रहा हो। क्योंकि, दुनिया के उन्हीं देशों में मुल्ला नसीरुद्दीन जिंदा है जहां तैमूर के आक्रमण हुए।

पारदेस में अपना देस याद न आए ऐसा कैसे हो? विनोद तिवारी को अपना देस याद ही नहीं आता अपितु वे हमारे एक देशवासी कविकुलगुरु रवींद्रनाथ से मिलते भी हैं : “टैगोर सड़क पर टैगोर की एक प्रतिमा भी स्थापित की गई है। यह प्रतिमा स्वयं टैगोर द्वारा बनाये गए अपने चित्र (सेल्फ पोर्ट्रेट) की हूबहू नकल कर बनाई गई है। प्रतिमा के एक ओर अंकारा की अत्याधुनिक प्रसिद्ध मस्जिद है और दूसरी ओर मशहूर पार्क होटल। प्रतिमा से सीधे ढलान पर उतरकर दूर तक ‘टैगोर स्ट्रीट’ की बर्फ पर चलते चलते जब थक गया तो उल्टे पांव फिर लौटकर घर आया। एक पार्क था भी पर आप बैठने की सोच भी नहीं सकते। पूरा पार्क बर्फ की मोटी परत से ढका गुमसुम और एकाकी। लौटते हुए ध्यान से प्रतिमा को देखा तो गुरुदेव के सिर पर संवरे हुए धवल केश चमक रहे हैं, पर नहीं यह भ्रम था— वे केश नहीं थे, बर्फ था।”

कहना न होगा कि पश्चिम और अमरीका के मुखापेक्षी समय में हमारे आसपास के देशों के बारे में हमारी जानकारी ही नहीं संवेदनशीलता भी न्यून है। अध्यापन के बहाने साहित्य और संस्कृति की ये अंतर्जात्राएं ‘वसुधैव कुटुंबकम’ का सच्चा प्रयास हैं। विनोद इस छोटी सी किताब में पाठकों की रुचि अंत तक बनाए रखते हैं। बतकही और व्यंग्य की तुर्फी भी उनके यहां हैं जैसे : “लीबिया में मुहम्मद गद्दाफी एक ऐसे पके हुए फल की तरह हो गए थे जो तेज हवा चलते ही टपक पड़ा।” तो अपनापे के वहां के ढंग का उल्लेख करना भी उन्हें याद रहता है, “तुर्की लोगों में यह रवायत है कि वह अपनी पहचान में एक दूसरे के गले मिलते हैं और कनपटी के नीचे एक दूसरे को चूमकर अपनापे का इजहार करते हैं।” आखिर में एक महान संघर्ष से निर्मित हुए इस राष्ट्र के संबंध में विनोद का यह उद्धरण अप्रासंगिक न होगा, “तुर्की की जनता आजादी का मतलब बखूबी जानती है। नई पीढ़ी ‘युवा तुर्कों’ को भले ही न जानती हो पर वह अपने जीवन और रहन संबंधी स्वतंत्रताओं के प्रति एक सीमा के बाद किसी तरह का दबाव, किसी तरह का अनपेक्षित हस्तक्षेप सहन नहीं करती। वह हस्तक्षेप चाहे धर्म का हो चाहे सरकार का चाहे कानून का। इस समय राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर तुर्की देश भर में चल रहे सरकार विरोधी आंदोलन के कारण खबरों में है। यदि यह कहा जाय कि एक बार फिर तुर्की में धर्म, समाज, राजनीति, सेक्युलरिज्म सब कुछ बहस और जद्दोजहद के केंद्र में हैं तो गलत न होगा।”

ulfte fgder dsnsk ea%विनोद तिवारी, idk'kd %आधार प्रकाशन, पंचकूला

fu%l arku fl=k; ka dks l arku l qk nsus ds fy,
nørk enZ dk : i /kkj.k djrs g8

Hkkxor id kn

rfeY l kgr; के सुप्रसिद्ध कवि, कहानीकार, उपन्यासकार i#eky e#xu का उपन्यास uj ukjh'oj (मूल : मादोरुबागन) पढ़ते हुये लगता है कि आप आख्यान की एक नई दुनिया से होकर गुजर रहे हैं। किस्सागोई की ऐसी शैली भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में बहुत कम दिखलाई पड़ती है। बहुत बेबाकी के साथ तमिल समाज के आंचलिक जीवन का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास मुख्यधारा के आख्यान, आस्था, मिथक को जबरदस्त चुनौती तो देता ही है साथ ही पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के निःसंतान होने को उसके मर्दानगी से जोड़कर देखे जाने की विभीषिका पर गहराई से विचार करता है। इस समाज में केवल पुरुष ही अपमानित नहीं हो रहा है बल्कि स्त्री उससे कई गुना अधिक अपमानित होने को अभिशप्त है। उपन्यास के प्रमुख पात्र पोन्ना और काली उर्फ कलियण्णा के विवाह को बारह वर्ष पूरे हो चुके हैं मगर उनकी कोई संतान नहीं है। काली के पड़ोसी और उसके गांव के लोग हमेशा ताना मारते रहते हैं कि उनकी कोई संतान नहीं है; इस बात को लेकर पोन्ना और काली अक्सर दुखी रहते हैं। संतान प्राप्ति के लिए अपनी सीमा में रहकर वे दोनों कई धार्मिक स्थलों में जाकर पूजा अर्चना करते हैं मगर संतान की प्राप्ति नहीं होती है। पोन्ना के पीहर वाले अपनी बेटी के निःसंतान होने से दुखी तो हैं लेकिन संतान प्राप्ति के अन्य विकल्पों पर भी विचार कर रहे हैं। काट्टुर में प्रतिवर्ष लगने वाले मेले में निःसंतान औरतें संतान प्राप्ति के लिए जाती हैं। ऐसी मान्यता है कि उस मेले में पहुंचे पुरुषों पर पहाड़ी के देवता एक दिन के लिए वास करते हैं और उसी के संसर्ग से संतान प्राप्ति होती है (पुरुष के रूप में देवता!) पूरे गांव में काली और पोन्ना का

एक दूसरे के लिए अगाध प्रेम किसी भी दंपति के लिए ईर्ष्या का विषय था। वे अत्यंत ही संतुष्ट और सुखी थे परंतु केवल एक ही अभाव था— उनकी अपनी संतान का न होना। इसके लिए वह लगातार उपहास और कटाक्ष के पात्र बनते थे। संतान पाने के लिए उन्होंने क्या नहीं किया— विभिन्न धर्मस्थलों की यात्रा, मंगलों का मानना, टोने टोटके, दवादारू और न जाने क्या क्या। काली और पोन्ना के परिवार वालों की भी यह कामना थी कि किसी तरह उन दोनों को संतान प्राप्त हो। अंत में वे सब पोन्ना को अर्द्धनारीश्वर की रथयात्रा के विशेष उत्सव में भेजने में सफल हो जाते हैं। इस उत्सव की विशिष्टता थी कि उस रात्रि संतान पाने के लिए कोई भी स्त्री अपनी स्वेच्छा से किसी भी पुरुष के साथ संभोग कर सकती थी। वह रात जहां काली पोन्ना की एकमात्र कमी को दूर कर सकती थी, वहां ही उसने वैवाहिक जीवन को एक परम कसौटी पर लाकर खड़ा कर दिया था।

पोन्ना समाज और रिश्तेदारों के तानों से दुखी होकर अपनी मां और पिता के साथ इस मेले में जाती है और वहां अपने देवता की खोज में जुट जाती है। वह देवता (पुरुष के रूप में!) उसे मिलता भी है और दोनों अनजान रास्ते पर बढ़ चलते हैं...(संतान प्राप्ति के लिए)।

nks

यह उपन्यास बहुस्तरीय जीवन का प्रति आख्यान है जिसमें जीवन के विविध रागरंग समाये हुए हैं। तमिल जाति में मौजूद मिथक और व्याप्त मान्यताएं इस उपन्यास की चालक शक्तियां हैं। उपन्यास को पढ़ते हुये ऐसा लगता है कि समय ठहर सा गया है और आप आख्यान के महाजाल में फंसते ही चले जा रहे हैं। परत दर परत उपन्यास के अनेक पात्रों से आपका परिचय होता चला जाता है और आप उन पात्रों के सामाजिक जीवन और व्यवहार से रूबरू होते जाते हैं। यह उपन्यास अपने कालखंड का परिचय अपने आख्यान के माध्यम से लगभग न के बराबर देता है। आप अनेक स्थलों पर उल्लिखित मुद्रा और विनिमय के माध्यम से होने वाले कारोबार के आधार पर अंदाजा लगाने की कोशिश कर सकते हैं। कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास में विन्यस्त आंचलिक जीवन को सन् 1930 के आसपास का माना है। पूरे भारत में गंवई जीवन का तानाबाना लगभग एक सा रहा है। स्त्री के बांझपन को लेकर भारत भर में लगभग एक सी मान्यताएं हैं।

स्त्री में बांझपन होना एक अभिशाप, कलंक और उसके जैविक तथा सामाजिक अस्तित्व का नकार भी है। यह उपन्यास हमें उन सामाजिक विडंबनाओं की ओर ध्यान दिलाता है जिनमें कोई निःसंतान पुरुष संतान प्राप्ति के लिए अपनी पहली पत्नी को त्यागकर दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता है। मगर स्त्री संतान प्राप्ति के लिए दूसरे पुरुष से संबंध बनाती है तो वह छिनाल कहलाती है। जब पोन्ना संतान प्राप्ति के लिए काट्टूर के मेले में चली जाती है और बाद में काली को पता चलता है तो पोन्ना के प्रति उनके अलफाज कुछ इस तरह से व्यक्त होते हैं— “पातर है तू!....तू छिनाल है! कुलक्षनी कहीं की, वह चीखा, क्या तू वास्तव में चली गई?...तू कभी भी खुश नहीं रहेगी। तूने मेरे साथ कपट किया है, अरी ओ रंडी....” यह लंपट मर्दवादी भाषा है। विवाह से पहले काली भी काट्टूर के मेले में कई बार गया था। शाम होते ही वहां पहुंचकर, वह उन गलियों में टहला करता था। उस रात पहाड़ी के नीचे बने मंदिर के समीप से जाती हुई गली में वेश्याओं का धंधा बंद रहता। उस दिन वे खूब सजधज कर मंदिर के कक्ष में नृत्य किया करती थीं और हंसकर कहतीं— “आज हमारी तरफ कोई क्यों देखेगा, जब हर

एक औरत यहां रंडी बनी हुई है?” यह पितृसत्तात्मक समाज की भयानक और कुत्सित मानसिकता की ओर इशारा करता है।

ru

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार उदय प्रकाश ने इस उपन्यास के संदर्भ में कहा है— “चर्चित तमिल लेखक पेरुमाल मुरुगन का उपन्यास नर नारीश्वर आस्थाओं, विश्वासों अनगिन अपरिचित देवी देवताओं के शाप और सम्मोहन से अभिशप्त दक्षिण के एक दंडद्वीप का बांध लेने वाला आख्यान। एक शापग्रस्त मिथ्यालोक के धुंधले नीम अंधेरे में डूबते उतराते, मुक्ति और दासता, हार और जीत के संयोगों में फंसे स्त्री और पुरुष के प्रेम संदेह, घात प्रतिघात की कई परतों में चलती कहानी। बार बार कुछ लातीनी अमेरिकी कथाओं का स्मरण कराने वाला यह बहुस्तरीय आख्यान औपन्यासिकता के जिस कैनवास या स्थापत्य में रचा गढ़ा गया है उसमें रहने जीने वाले पात्र जितने वास्तविक हैं, उतने ही अवास्तविक। जैसे होर्खे लुइस बोर्खेस की ‘अतिसाधारण अस्तित्व की किताब’ या ‘अधि वास्तविक यथार्थ’ के किस्से। काली और पोन्ना के प्रेम और दांपत्य, वासना और आकांक्षा, विश्वास और संदेह की कारुणिक त्रासद कथा का ऐसा तानाबाना जो समकालीन जेंडर डिस्कोर्स का एक अनोखा प्रतिरूपक गढ़ता है। ‘क्या संसार की हर स्त्री दुष्ट और हर पुरुष मोहपाश में बंधा अबोध होता है?’ जैसी संशकित ग्रंथियों की गांठों को सुलझाने की कोशिश में स्वयं उलझती जाती नियति की अनोखी कथा। ऐसे समय में जब हम ‘लिपिस्टिक अंडर माय बुरका’, ‘सिमरन’, ‘पिंक’ या ‘पाच्ड’ और ‘विकी डोनर’ जैसी फिल्में देख रहे हैं, मीडिया और राजनीति पूरी संगठित ताकत के साथ सभ्यता के अर्द्ध इतिहास या मिथकीय अतीत में सदियों पहले दफना दिये गए प्रेतलोक के डरावने मुर्दों के टीलों का हिंसा और उन्माद से भरा, दुःस्वप्न जैसा अतिथार्थ पैदा कर रही है, तब ऐसे विभ्रमों से भरे अपने अतिरेकी दिक् और काल में पेरुमाल मुरुगन के ‘मादोरूबागन’ को पढ़ना किसी गहरे संकेतों, कूट यथार्थों और भविष्य से आने वाली आशंकित सूचनाओं के ध्वनि तरंगों से भरी किसी गुफा में से होकर गुजरने जैसा अनुभव देता है। ‘मादोरूबागन’ फिर से यह सिद्ध कर देता है कि दक्षिण भारतीय साहित्य वहां के सिनेमा, कला, संगीत और विचारों जैसा ही, उत्तर भारतीय साहित्य से कोसों आगे है। काली और पोन्ना की यह प्रेमकथा पाठक की स्मृतियों में लंबे समय तक गूंजती रहने वाली गाथा है। ‘सभी श्रद्धाएं और आस्थाएं हर बार, अंत में, एक ही बिंदु पर विसर्जित हो जाती हैं।’ इसीलिए किसी भी समय की, किसी भी भूखंड की, किसी भी भाषा की महत्वपूर्ण कथा रचना हर बार उसी एक बिंदु पर लौट आने के लिए, वही कहानी बार बार एक नये रूप में कहती है।”

वैसे देखा जाए तो यह उपन्यास अतिसाधारण लोगों के बहुस्तरीय जीवन पर आधारित है जो जटिल सामाजिक संरचना के महाजाल में फंसे हुए हैं। पोन्ना और काली के दांपत्य जीवन पर परिवार और समाज का गहरा दबाव पड़ता है। संतान प्राप्ति के लिए काली की मां मारायी पोन्ना को काट्टूर उत्सव में भेजने के लिए सोचने पर विवश करती है। मारायी अपने पुत्र काली से कहती है— “वह सब मर्द जो अठारहवें दिन काट्टूर में पांव रखते हैं, वे सभी मर्द देवताओं का रूप होते हैं। उन मर्दों से जो कुछ भी मिलेगा वह देवता की देन होगी। यदि हम अपना दिमाग देवताओं पर ही टिकाये रखें, तो कोई मसला ही नहीं है। कौन जानता है वहां कौन देवता किस भेष में आता है। देवताओं का यही तो लक्षण है, वे अपना असली रूप कभी नहीं दिखाते हैं।

यदि तू 'हां' कह दे, तो हम इस साल उत्सव में चले जाएं और जरूरी नहीं है, हम यहां से ही जाएं। पोन्ना की मां उसे अपने संग ले जाएगी। तुझे साथ जाने की जरूरत नहीं है। तू अगर चाहे, तो यहीं रह जाना या फिर अपने ससुर के घर। तेरी मर्जी, जैसा तू चाहे। इस बारे में सोच विचार ले और फिर मुझे बता देना। ओ मेरे छोटे से देवता, अब सब कुछ तेरे हाथों में है।”

क्या कोई मां अपने पुत्र से ये सब कह सकती है? दरअसल यह उपन्यास अनेक तरह के नैतिक ऊहापोह से गुजरता है। काली सोचता है कौन पुरुष होगा जो ऐसा करने के लिए 'हां' कह देगा? काली की मां के अपने तर्क हैं : “इस संसार में ऐसा कौन है जिसकी जिंदगी में कोई कमी न हो? भगवान ने हम सबको बनाने में इस बात का ख्याल रखा है कि हर किसी की जिंदगी में कोई न कोई कमी रहे। परंतु, उसी परमात्मा ने हमें तौर तरीके भी बताए हैं, हम उन कमियों को कैसे पूरा करें। कौन जाने कमी तुझमें है या पोन्ना में? लेकिन यह तो पता है कहीं कोई कमी है जरूर और हम यह भी जानते हैं, उसे पूरा भी किया जा सकता है। इस तरीके को आजमाने में बुराई क्या है? एक बार तू मान जाये, तो सब ठीक हो जाएगा। न जाने कितनी औरतें इधर उधर भटक जाती हैं। किसको दिलचस्पी है यह सब जानने की? यदि लोगों को पता चल भी जाये, तो वह उसे नजर अंदाज कर देते हैं। उनके मुताबिक ऐसा करने में कुछ भी तो गलत नहीं है, यदि वह छिपकर दिया जाये। फिर यह भी तो छिपाकर ही होगा, मगर तेरी रजामंदी से। आखिर वह तेरी लुगाई है। संतान प्राप्ति के लिए एक स्त्री के तर्क, जो आस्था, प्रथा और मिथक से सराबोर हैं, आख्यान को एक नया आयाम भी देते हैं। संभवतः यही सारी बातें उपन्यास को विवादित भी बनाती हैं। उपन्यास का यही अंश हिंदूत्व के स्वयंभू ठेकेदारों को रास नहीं आया था। उनके तर्क थे कि यह उपन्यास अश्लील और हिंदु धर्म की मान्यताओं के विपरीत है। मामला चेन्नई उच्च न्यायालय में पहुंचा। न्यायालय ने दोनों पक्षों की दलीलों को सुनकर अपने निर्णय में कहा— ‘The Indian scriptures, including the Mahabharata, are said to be replete with obvious examples of sex outside marriage, also specifically for the purpose of having progenies and that too, of the intellectual class. These practices have been followed by both the higher and lower social and economical strata of the society, only as an endeavour to have a future perfect king can we say the Mahabharata or the various other literatures, which we have quoted herein above, are part of our history, yet they say something that is unusually lascivious and therefore should be banned ? We only say that this.’

In response to the demands of time and place what is proper/ may become improper and what is improper may become proper (Shanti Parva)

...Time is a great healer and we are sure, that would hold true for perumal muragan as well as his opponents; both would have learnt to get along with their fields, and bury this issue in the hatchet as citizens of an advancing and vibrant democracy. We hope our judgment gives a quietus time also teaches us to forget and forgive and see beyond the damage if we give time its space to work itself out, it would take us to beautiful avenues. We conclude by observing this- ‘Let the author be resurrected to what he is best at write.’

निःसंदेह माननीय उच्च न्यायालय का फैसला लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में है और एक लेखक को इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए। दूसरी बात यह है कि यह उपन्यास हिंदी में अनुदित होने के बावजूद अपने पाठकों की पाठकीय रोचकता को अंत तक कायम रखता है।

uj ukjh'oj % पेरुमाल मुरुगन, vuϕln % मोहन वर्मा, iɔk'kd % हार्परकालिस पब्लिशर्स, नोएडा

bl vā D\$ yfkdkaD\$ ekckby ucj

fo'oukfk f=ki k Bh	:	9871479790
vkfnR; fuxe	:	9871406520
gjcā eq[k;k	:	9899133174
'kdkuhr dks'kd	:	9868560452
r#.k HkVukxj	:	9425191559
vuñfr mi k/; k;	:	9833147108
Ñ".k dēkj	:	8800106101
vukfedk	:	9810737469
cnh ukjk; .k	:	9450613293
uhysk j?kpkkh	:	9826701393
l ā; feJ	:	8005445254
vfouk'k feJ	:	9818791434
feffkyšk dēkj jk;	:	9546906392
fogkx oñko	:	8858356891
nñfr fiz k esjkskk	:	9711793492
iñh.k dēkj	:	8800904606
eerk dkfy; k	:	9212741322
f'kjñ'k [kjs	:	9421775247
fuežyk tñ	:	9810146375
vferšk dēkj	:	9304600322
oñVšk dēkj	:	9262580283
i Vyo	:	8130072004
Hkxox i ñ kn	:	9131042091